- नानेश वाणी -3
  अनुभूति के क्षण (आत्म समीक्षण भाग-2)

- आचार्य श्री नानेश

- प्रथम सस्करण अक्टूबर 2001, 1100 प्रतिया

- मूल्य 30/-

- अर्थ सहयोगी
  श्री दक्षिण भारतीय साधुमार्गी जैन समता युवा सघ, चैन्नई

- प्रकाशक
  श्री अ भा साधुमार्गी ज़ैन सघ
  समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर

- मुद्रक
  अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, बीकानेर
  दूरभाष 547073

(प्रथम सस्करण से)

प्रस्तावना

यह पुस्तक जेन आम्नाय के सम्मान्य एव पूजनीय आचार्यदेव श्री नानालालजी महाराज सा के राणावास प्रवचनो पर • आधारित तथा श्री शातिचद्रजी मेहता द्वारा सम्पादित है।

'आत्मसमीक्षण के नव-सूत्र' शीर्षक इस आकलन मे जैन दर्शन एव अध्यात्म साधना के समग्र समाहित है। जैन परम्परा के प्राचीनतम सूत्र आचाराग के वाक्यो को शीर्ष-स्थान पर रखते हुए कालातीत एव चिरतन आईतीविद्या का यह अमृत-कलश साधको के लिए एक सजीवनी है जिसमे समता-योग एव ध्यान की क्रमागत एव सुगम्य व्याख्या है। आचार्य भगवन की भाषा प्राजल किन्तु सरल है, उदाहरण सुगम्य एव दिशादर्शक हे और अध्यात्म की सर्वोच्च अवस्था के साथ सामाजिक एव आर्थिक राजनयिक जीवन के भी दिशा-निर्देश है। इस आकलन की एक अपूर्व एव अनुपम विशेषता यह भी है कि यहा किसी अन्य पुरुष को सबोधित करते हुए आध्यात्मिक सत्यो का मात्र बौद्धिक विवेचन नहीं किया गया है अपितु आचाराग की भाति ही प्रथम-पुरुष मे ही कर अध्याय का प्रारभ और समापन किया गया है और हर अध्याय अपने पूर्ववर्ती चितन से इतना क्रमागत एव गुफित है कि यह ग्रथ आध्यात्मिक चेतना की महायात्रा का एक निर्देशक आकलन बन गया है। पाठक यहाँ प्रथम-पुरुष मे अपने को रख कर सतत आत्मावलोकन करते हुए समत्व योग के एक-एक सोपान को बुद्धि से परिलक्षित नहीं, अपितु भावना से आत्मसात करते हुए आगे बढ़ सकता है। यह पुस्तक अध्यात्म पथ के पथिकों के लिए एक सक्षम मार्गदर्शक एव पथ-बधु बन गयी है।

दृष्टव्य यह भी है कि यहाँ किसी प्रकार का साम्प्रदायिक मताग्रह या खडन-मडन नहीं हे। जैन दर्शन एव सिद्धान्त का कोई भी सूत्र अविवेचित नहीं रहा है, लेकिन दृष्टि मानव-चेतना की जड़ जगत के साथ मिथ्या तादात्मय से ऊर्ध्वारोहण कर अनत-चेतना स्व-स्वरूप के साथ एकत्व की जय-यात्रा पर रही है जो इस आकलन का उद्देश्य है। अध्यात्म-साधना के पथ पर चलते हुए भी मनीषी प्रवक्ता की दृष्टि वर्तमान विज्ञान की कषायविजड़ित राजनीतिक सकीर्ण स्वार्थो से सचालित तथाकथित प्रगति एव मानव सम्यता पर उसके दूषित प्रभाव को स्पर्श करते हुए सामाजिक विषमताओ, अध-परपराओ, साम्प्रदायिक मताग्रहो, सामाजिक कुरीतियो का समीक्षण और उनके दुष्प्रभावों से मानव समाज को सावधान करती रही है। इस दृष्टि से भी यह आकलन अमूल्य है।

तत्व-दर्शन के जिज्ञासुओ के लिए यहा समस्त गुणस्थानो, सवर-निर्जरा एव तप के समस्त भेद-प्रभेदो एव ध्यान-योग की समस्त आगम-सम्मत विधियो का विवेचन उपलब्ध है। सक्षेप मे यह पुस्तक सप्रदायातीत शुद्ध जैन-दर्शन एव साधना के सूत्रो का सक्षिप्त एव सुगम सार सत्व है।

कलकत्ता, दिनाक 26 5 95 डॉ. भानीराम वर्मा 'अग्निमुख'

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियो मे है जिन्होने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माए अपने कर्मो का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानो में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व मे समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप मे उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सासारिक प्राणियो के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मिया युगो-युगो तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियो को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनो हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जाये। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को "नानेश वाणी" पुस्तक शृखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया। इस निर्णय की पूर्ति हेतु विशिष्ट निधि की स्थापना की घोषणा की गई तथा देशभर मे फैले श्रद्धालुओ से मुक्त हस्त अर्थ सहयोग प्रदान करने का आह्वान किया गया। सत्सकल्पो की पूर्ति मे कभी बाधाए नहीं आती। ऐसा ही इस सकल्प के साथ भी हुआ। सभी ओर से प्राप्त प्रभूत अर्थ सहयोग ने सघ को उस स्पृहणीय स्थिति में पहुचा दिया जिसमे सकल्प पूर्ति मात्र औपचारिकता रह जाती है।

इस सदर्भ मे बैंगलोरवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी के विशेष सहयोग का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी गुरुभक्ति, धर्मनिष्ठा एव सघ समर्पणा भाव ने उन्हे प्रेरित किया कि वे समर्पित भाव से प्रयत्न करे। उन्होने ऐसा ही किया। उन्हीं के सद्प्रयासो से "नानेश वाणी शृखला" का 40 प्रकाशनाधीन पुस्तकों के लिए अर्थसहयोग की लगभग स्वीकृति कर्नाटक और तमिलनाडु से ही प्राप्त हो गई। श्री सिपानी जी की ऐसी सघनिष्ठा हेतु तथा उदार दाताओ के प्रशस्त सहयोग हेतु हम आभारी है।

अब जबकि अपेक्षित धनराशि एकत्र हो चुकी है। हम आचार्य श्री नानेश के साहित्य को चरणबद्ध रीति से प्रकाशित करने की दिशा मे गतिमान हो गये हैं।

हमारी योजना के अनुसार प्रथम चरण मे प्रकाशित एव प्रचारित परन्तु अनुपलब्ध, कृतियो के नवीन सस्करण प्रकाशित किये जाने है। द्वितीय चरण मे अप्रकाशित असपादित प्रवचनो को सकलित कर नयी कृतियो के रूप मे प्रकाशित किया जावेगा।

इस क्रम मे आचार्य नानेश की कृति **अनुभूति के क्षण** की यह नवीन आवृत्ति सुधी पाठको, साधको, स्वाध्यायियो एव श्रद्धानिष्ठ श्रावक-श्राविकाओ के हाथो मे अर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष एव सतोष का अनुभव हो रहा है। हमे विश्वास है कि यह आवृत्ति उनकी रुचि, अपेक्षाओ एव आशाओ के अनुरूप बन पड़ी है।

यहा यह उल्लेख भी प्रासगिक है कि जैन श्रमण परम्परा मे साधुमार्गी जैन सघ का आत्म साधना, तपोराधना, धर्म प्रभावना एव साध्वाचार की प्रवृत्तियो को प्रेरित करने मे महत्वपूर्ण योग रहा है। क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म सा ने इसकी प्रतिस्थापना हेतु अह भूमिका का निर्वहन किया था। उनके पश्चात्वर्ती आचार्यों ने इस सघ को अनवरत ऊचाईया की ओर अग्रसर किया। श्री शिवलालजी म सा यदि निर्ग्रन्थ सस्कृति के प्रतीक थे तो श्री उदयसागरजी म सा ज्ञानाराधना के आदर्श। श्री चौथमलजी म सा श्रमणाचार व सघनिष्ठा के उच्च शिखर रूप समादृत रहे तो श्री श्रीलालजी म सा अनन्य योग साधक व बेजोड भविष्यदृष्टा बने। उनके उत्तराधिकारी श्रीमद् जवाहराचार्य एक ऐसे क्रान्तदृष्टा थे जिन्होने आत्मधर्म के साथ ग्राम-नगर, राष्ट्र धर्म आदि सयुक्त कर धर्म को नव आयाम प्रदान किये तो कालजयी विचार दर्शन भी प्रस्तुत किया। शात क्रान्ति के अग्रदूत श्रीमद् गणेशाचार्य ने यदि धर्म सघ, आत्मचितन व श्रमण चेतना को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया तो आचार्य श्री नानेश ने आत्मलक्षी साधना की युगीन दिशाए उन्मुक्त की।

चिन्तन और साधना के क्षेत्रों मे नवीन कीर्तिमान स्थापित करने वाले ऐसे धर्माचार्य श्री नानेशाचार्य के साहित्य की सतत् सहज उपलब्धता जहा धार्मिक आध्यात्मिक नव जागरण की दृष्टि से अपरिहार्य हे वहीं एक प्रज्ञासम्पन्न साधक, आदर्श चितक एव दार्शनिक, समत्वयोगी, समीक्षण ध्यान प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक एव आध्यात्मिक आराधक के रूप मे उनका प्रदेय वर्तमान युग की अनमोल निधि है। अपने इस प्रदेय और अपनी गहन साधना द्वारा धर्माचार्य के रूप में उन्होने वह विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया जो सम्प्रदायातीत होता है। उनका यह रूप उनके उस सम्पूर्ण प्रकाशित एव अप्रकाशित साहित्य मे प्रखरता से उद्घाटित होता है जो गाथाओ, कथाओं, प्रवचनो उपदेशों एव उद्बोधनो के रूप मे उपलब्ध है और अपनी प्रकृति के कारण जो चेतना के ऊर्ध्वारोहण, चरित्र

के सुसस्कार एव जीवन के परिष्कार मे सहायक भी है।

आचार्य श्री नानेश की साहित्य साधना पर विहगम दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि कालक्रम से परिवर्तित होते ''साहित्य'' के अर्थों के सदर्भ में इसमे सभी रूपो का प्रतिनिधित्व है। यह शास्त्र की भाति परम हितकारी है तो काव्य के अर्थ मे सत्य, शिव, सुदर का समन्वित रूप भी है। इसमे सन्निहित सत्य शाश्वत है, यह शिव स्वरूपी अर्थात् सर्व कल्याणकारी है और सत्य व शिव होने से सौन्दर्य-बोध भी करता है। यदि समग्र साहित्य को अग्रेजी के 'लिटरेचर' अर्थ मे ले तो यह जितना लिखित (पुस्तकाकार प्रकाशित) है उतना ही प्रवचनो के रूप मे मौखिक भी है।

यह महत्वपूर्ण तथ्य व सत्य है कि आचार्य श्री नानेश साहित्यकार होने से पूर्व एक सिद्ध सत थे यद्यपि सर्वप्रथम वे मानव थे। यही कारण है कि मानव को केन्द्रस्थ रखकर उन्होंने अपने प्रवचनो में यही सदेश दिया कि मनुष्य आत्मा से परमात्मा (अप्पा सो परमप्पा) की यात्रा हेतु स्वय को कषायो से मुक्त करे और परिधि से केन्द्र में स्थित होने के लिए बहिर्मुखी चितन को छोड़कर अन्तर्मुखी बने। वस्तुत· उनका बहुआयामी चितन उनकी अनोखी उपलब्धि है तथा उनका साहित्य मानव मात्र के हित साधन हेतु सप्रदायातीत जीवन मूल्यो के विकास एव सरक्षण का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आचार्य श्री जी का साहित्य विपुल है। समाज के सम्मुख उपलब्ध प्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त ऐसा अपरिमित साहित्य भी विद्यमान है जो लिपिबद्ध प्रवचनो, फुटकर लेखो एव भक्तजनो द्वारा सकलित/सग्रहित सामग्री के रूप में है। सघ ऐसे साहित्य को प्राप्त कर उसे यथासभव प्रकाशित कर जन-जन के हितार्थ प्रस्तुत करने हेतु कृत सकल्प है।

आचार्य श्री नानेश के साहित्य को निश्चित वर्गो में विभाजित [illegible] कठिन है। इसमें समाविष्ट हैं प्रवचन-सकल्प, आगम-ग्रन्थो/विषयो का [illegible], कथा साहित्य, काव्य कृतियॉ, सुभाषित व सूक्तिया। उनका साहित्य उनकी ज्ञान गरिमा का परिचय तो कराता ही है समाज की दृष्टि से उसकी उपयोगिता को भी रेखाकित किया जा सकता है। वस्तुत उनका साहित्य चाहे वह किसी भी रूप/विधा में हो, वह उनकी उच्च कोटि की आध्यात्मिक साधना का प्रमाण प्रस्तुत करता है। एक युग-प्रवर्तक सत, धर्माचार्य, अध्यात्म योगी एव समता दर्शन प्रणेता के जीवन के विविध आयामों तथा साधना के विभिन्न क्षेत्रों मे परिचित कराने में भी वह सक्षम है। उनके इस साहित्य के विषय हैं- धर्माचरण, चरित्र परिष्करण, संस्कार-निर्माण एव आत्मकल्याण।

उनका साहित्य प्रणयन वर्तमान जीवन की ज्वलत समस्याओ के सदर्भ मे हुआ है। उन्होने समाजवादी और साम्यवादी चितन को आध्यात्मिक धरातल पर आग्रह मुक्त हो व्याख्यायित ही नहीं किया उसे व्यवहार की गरिमा से विभूषित भी किया है। उन्होने जहा जीवन की विषमताओ/विभीषिकाओ, अधर्म के विस्तार, काषयिक प्रवृत्तियो, अभावो, अशाति, तनाव, असतोष आदि का चित्रण किया है, वहीं अपनी साधना के माध्यम से मानवता के उद्धार का मार्ग भी प्रशस्त किया है। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण साहित्य जीवन से जुड़ा तो है ही जीवन उन्नयन का मूलाधार भी बना है। यही उनकी साहित्य-साधना की सार्थक व महत्वपूर्ण उपलब्धि है तथा इसी में सन्निहित है उसकी कालजयिता और सार्वजनीनता।

ऐसे उपयोगी साहित्य को सर्व सुलभ बनाने का हमारा सकल्प यदि मूर्तरूप प्राप्त कर सका है तो नि सदेह यह उन वर्तमान आचार्य श्री रामेश के आशीर्वाद का ही परिणाम है जिनकी गुरु भक्ति अनुपम व अनूठी है तथा जिन्हे जन कल्याणकारी चितन को जन-जन तक पहुचाने की विशेष चिन्ता है। हमे उनसे प्रेरणा ही नहीं मिली, वह सम्पूर्ण वत्सल मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ है, जो प्रेरणा को उपलब्धि मे परिवर्तित करने के लिए आवश्यक होता है। उनकी ऐसी कृपा हमारा ऐसा सौभाग्य है जिस पर सम्पूर्ण साधुमार्गी जैन सघ गर्व कर सकता है। सत शिरोमणि, आचार्य देव की ऐसी महती कृपा के लिए हम उनके प्रति विनय और श्रद्धा से नतमस्तक हैं।

प्रस्तुत कृति *अनुभूति के क्षण* (नानेश वाणी क्र -3) के प्रकाशनार्थ प्रदत्त अर्थ सौजन्य के लिए श्री दक्षिण भारतीय साधुमार्गी जैन समता युवा सघ, चैन्नई के प्रति हम धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। सद् साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु उनका यह सहयोग निश्चय ही अनुकरणीय एव वदनीय है।

हमें पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ मे समाविष्ट विचार-दर्शन को आत्मसात कर पाठक आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकेंगे।

भवदीय

राजमल चोरडिया — अध्यक्ष
धनराज बेताला — महामत्री
शांतिलाल साड — सयोजक

कमल सिपानी
अभय कुमार चोरडिया
जयचन्दलाल सुखानी
उदय नागोरी

(सदस्य, साहित्य समिति, श्री अ भा सा जैन सघ, बीकानेर)

एक दीप आदित्य बन गया

(आचार्य श्री नानेश सक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नन्हा दीप,
सदाहरता तिमिर जग का,
सहज शान्त अभीत !

छोटा सा दीपक, गाव की मिट्टी की सोधी गध से सुवासित, सुसस्कारो के नेह से सिचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन मे युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहु ओर परिव्याप्त निबिड अधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा था। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा मे सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जलाकर अमानिशा को मगलकारी दीपावली मे परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है ? तब यदि नन्हा दीपक, 'नाना' दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय आचार्य नानेश बन गया था तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारो ने कहा भी है-

जह दीवो दीवसय पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिव्वति पर च दिवति॥

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई तो नहीं। प्रलय पारावार मे वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुन्द साक्षात ब्रह्म ही तो थे जिन्हें श्रद्धालुजन भक्तभाव से नमन करते हे- 'वटस्य पत्रस्य पुट'' शयानम् बालमुकुदम् शिरसा नमामि'' और उन्हीं के सरक्षण मे नव सृष्टि का विकास सभव

हुआ था। अज्ञानाधकार के हरण मे महत्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नही होता क्योकि ''उतमत गुणेहि चेव पविज्जई''। उत्तमता गुणो से प्राप्त होती है और गुणो की ही पूजा होती है-'गुण पूजास्थान न च लिग न च वय।' यही देखकर तो पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवे पाट के अधिष्ठाता का पद 'नानालाल' को देने की पूर्वपीठिका की दिशा मे उन्हे युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी शृगार बाई का ममताव्याकुल सशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो-'' ई घणा भोला टाबर है, या पे अतरो मोटो बोझ मती नाखो।''

परन्तु क्या यह बोझ डाला गया था ? दीपक से कोई कहता है कि चतुर्दिश अधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा ! वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वत ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का सकल्प। इस सकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्त्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रज्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली मे सजाता जाये-जिससे सम्पूर्ण जगत प्रकाशमान हो उठे। इसी सकल्प की पूर्ति मे ''नाना दीप'' ने दीपित सत-सतियो की एक सुदीर्घ शृखला ही सर्जित कर दी थी। एक कड़ी दूसरी कडी से जुडती गई थी। सम्पूर्ण ससार को अपनी ज्योति-परिधि मे आवेष्ठित कर लेने के लिये और जगती का आगन आचार्य श्री के नेश्राय मे दीक्षित दीपको की लम्बी शृखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असदिग्धप्रमाण था। यह चमत्कार भी था। क्योकि ज्ञान-साधना और समाज-निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पाच सौ वर्षो मे भी सम्पन्न नहीं हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितिया अत्यन्त विषम थी। एक अत्यन्त सीमित साधु-साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहो से टकराव, विरोधो की उग्रता एव दुर्बल सघीय व्यवस्था अपने आप मे विकट समस्याए थी। परन्तु ''दिवा समा आयरिया पण्णता''- आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्जवलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अत भीषण झझावात के उस काल मे जब श्रमण सघो एव श्रावक सघो की भावनाए भीषणरूप से आलोडित थी, इस सघ प्रज्वलित दीपक ने साहस-पूर्वक घोषणा की थी।

''सघर्ष से ही नवनीत निकलता हे और सघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। सघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पद चिह्नो पर नहीं चल सकता।''

और प्रारम्भ हुई थी लडाई- दिये की और तूफान की, जिसमे दीया विजयी हुआ था। झझावत शात हुआ था सद्भाव, स्नेह, सहयोग और समर्पण की मद फुहारो से सम्पूर्ण जन-जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा था तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमगे भरने लगा था।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग मे तपने की। सवत् 2020 के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया था कि वीतरागी सत अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि के भावो से मुक्त होते है। सोना तप कर कुन्दन बनता है और सघर्षो मे स्थिरमति रहकर मनस्वी वदनीय बन जाता है।

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु ख न च सुख।
तप्त तप्त पुनरपि पुन काचन कान्तवर्णम्॥

अशाति, विरोध और संघर्ष से आलोडित जन सागर के इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियो का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिसा, आतक, विरोध, शोषण पीडा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियो के उपचार मे यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य सदेशो द्वारा इस सत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया उसी प्रकार की सुंदर काव्यात्मक दिग्दर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पक्तियो मे हुई है-

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत।
श्रेय मानव का असीमित मानवो से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान।
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोड़ने की दिशा मे यात्राओ, चातुर्मासो और उद्बोधनो के जो आयोजन हुए थे उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा था- उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामडल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दृष्टि की प्रकाश किरणे बरसाता इस सपूर्ण जीव-सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्टन मे समेट लेने के लिए आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चदन और सत, भेद-अभेद नहीं जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह-भडार सबके लिये उन्मुक्त रखते है। फिर इस प्रकाशपुज की ज्योति सीमा मे कैसे बधती ? प्रसग अनेक हो सकते है। परतु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिये सामाजिक उत्क्रान्ति की युगान्तकारी दृष्टि धर्मपालो की अटूट शृखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्तव के मत्र के प्रभाव से समाज के निम्नतम स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो ''कम्मणा बम्भणा होइ, कम्मुणा होई खत्तिओ।'' भगवान महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा ? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिये यदि प्रव्रज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्क सगत कहा बैठती थी ? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्‌भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी उसमे गुराड़िया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामो के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये थे। पारस गुण अवगुण नहि जानत, कचन करत खरो- तब सत के ससर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यो नहीं बन सकते थे ? एक राजा भगीरथ ने गगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण करा कर प्राणिमात्र के लिये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा मे मानव मात्र के लिये अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति में रूपान्तरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक वाग्जाल मे उलझी अवधारणाओ को, सरल, व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बनाकर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चितन को सैद्धान्तिक आग्रहो से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वों को पाखड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हे अन्योन्याश्रित बनाकर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओ का ही सहज समाधान। प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म के रूप मे मान्य एव प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नहीं थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिन्तन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी। इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानववृत्ति के परिष्कार, पुनर्निर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वय किया एव करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान

की पद्धतियो को आत्म समीक्षण के दर्शन से परमात्म समीक्षण तक पहुचाने मे आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, द्वैत-अद्वैत आदि से सबधित विविध चितन धाराओ का जिस प्रकार समता दर्शन मे समन्वय किया गया, वह स्वय मैं उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार सहिता बना सकने वाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन-जन के हृदय को सस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पाच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अध पतन के मूल कारण हैं। ये ही आत्मा की परमात्मिकता मे व्यवधान डालने वाले भी है।

पाच चोर गढ मझा, गढ लूटे दिवस अरु सझा।
जो गढपति मुहकम होई, तो लूटि न सके कोई॥

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढपति सिद्ध हुए जो रमैया की दुलहन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नहीं दे सकता था। ऐसे गढपति की महिमा का बखान करते हुए सत कबीर ने पहले ही कह दिया था-

ऐसा अद्भुत मेरा गुरु कथ्या, मै रह्या उमेषै।
मूसा हस्ती सो लड़ै, कोई बिरला पेषै॥
मूसा बैठा बाबि मे, लारे सापणि धाई,
उलटि मूसैं सापिण गिली यह अचरज भाई।
नाव मे नदिया डूबी जाई॥

आकाश के औधे कुए से पाताल की पनिहारिन जो जल भरती है उसे कोई बिरला हस ही पीता है।

यह उलटबासी नहीं, सत्य है, तत्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक मे यह चराचर जगत किसी रूप मे अर्थवान बनता है। एक नन्हे दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती में विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया।

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आगन।
कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य गया बन॥

प्रत्येक जीवन की एक निश्चित अवधि होती है और प्रत्येक सूर्य को एक शाम अस्त होना ही पडता है यह प्रकृति का नियम है। परन्तु सूर्य के अस्त होने की महिमा इस तथ्य मे निहित है कि वह प्रखर प्रकाश के साथ अपनी यात्रा पूर्ण

करता है और अपने पीछे छोड जाता है, एक नये सूर्योदय की चिरन्तन आशा। आचार्य श्री नानेश का अवसान भी ऐसा ही था, सामान्य नहीं, उनके प्रखर व्यक्तित्व के समान ही दिव्य।

अस्ताचलगामी उस सूर्य की सध्यावदन करते साधको ने स्पष्ट देखा था कि एक ज्योति आकाश से सहसा उतरी थी, धर्माचार्य के सूर्य के प्रकोष्ठ में प्रविष्ठ हुई थी और धरती के उस सूर्य का प्रकाश समेट कर द्विगुणित आभायुक्त हो तीव्रता से पुन आकाश मार्ग से लौट गई थी !! यह चमत्कार था और हम जानते है, चमत्कार होते है। वह अवसान चमत्कारी था जो अपने पीछे सम्यक् दर्शन का ही नहीं, सपूर्ण जीवचर्या का ऐसा प्रखर आलोक छोड़ गया जिसमें भव्य आत्माए आत्मोद्धार का मार्ग स्पष्ट देख सकती है।

दीप से आदित्य बना वह दीप अपने पीछे एक और दीप प्रज्ञवलित कर गया है रामेश दीप जो उस दिव्य आलोक का गुरु दायित्व अपने सुदृढ कधो पर वहन करने मे पूर्ण सक्षम है दीप की आदित्य बनने की दिशा मे एक और यात्रा प्रारभ हो गई है। साधुमार्ग मे यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी यह तथ्य उस परपरा में आदित्य बने दीप प्रमाणित कर गये है। इस प्रकार अनन्त आलोक का पारावार हिलोरे लेता रहेगा। ऐसा आलोक और चलती रहेगी दीप के आदित्य बनने की यह अविच्छिन्न परम्परा करीब अठारह हजार पाच सौ वर्षो तक। भगवान महावीर का ऐसा ही कथन है और यही शास्त्र वचन भी है।

-डा आदर्श सक्सेना
बी-17, शास्त्री नगर, बीकानेर (राज)

अर्थ सहयोगी परिचय

श्री दक्षिण भारतीय साधुमार्गी जैन समता युवा सघ, चैन्नई की स्थापना हुक्म-सघ के अष्टम पट्टधर समता विभूति आचार्य श्री नानेश के सुशिष्य प रत्न श्री धर्मेश मुनि जी म सा , कविरत्न श्री गौतममुनिजी म सा ,विद्वद्वर्य श्री प्रशममुनिजी म सा ठाणा 3 की प्रेरणा से उनके चैन्नई (टी नगर) चातुर्मास के दौरान वि स 2040 श्रावण कृष्णा तृतीया पूज्य गणेशाचार्य जन्म-जयन्ती पर हुई।

श्री दक्षिण भारतीय साधुमार्गी जैन समता युवा सघ, चैन्नई एक सक्रिय, शासननिष्ठ एव प्राणवान सघ है। स्थापना के बाद से ही सघ ने अदम्य उत्साह के साथ उल्लेखनीय प्रगति की है। वर्तमान मे श्री पन्नालालजी सिपाणी युवा सघ के अध्यक्ष हैं, श्री सुगनचन्दजी धोका मत्री एव श्री गौतमचन्दजी बोहरा कोषाध्यक्ष है। अपने शासननिष्ठ कर्मठ कार्यकर्त्ताओ के समर्पण भाव से युवा सघ सामाजिक, धार्मिक इत्यादि विभिन्न दिशाओ मे लोक कल्याणकारी कार्य कर रहा है।

साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र मे भी युवा सघ ने अपने कदम बढाये है। अपने स्तर पर कुछ पुस्तके प्रकाशित कर उनका नि शुल्क वितरण भी किया है।

-अनुक्रम-

अध्याय चार

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 3

मैं विज्ञाता हू, दृष्टा हू ।
मुझे सोचना है कि मुझे किन पर श्रद्धा रखनी है
और कौनसे सिद्धान्त अपनाने हैं ?

मेरी दृष्टि लक्ष्याभिमुखी होते ही जान लेगी कि मैं सत्य श्रद्धा एव श्रेष्ठ सिद्धान्तो से कितना दूर हू ? मैं सुदेव, सुगुरु एव सुधर्म पर अविचल श्रद्धा रखूगा, श्रावकत्व एव साधुत्व के पालन मे सत्सिद्धान्तो के आधार पर अपना समस्त आचरण ढालूँगा और ज्ञान व क्रिया के सयोग से निर्विकारी बनने मे यत्नरत हो जाऊगा।

सूत्र तीसरा

मैं विज्ञाता हूँ, क्योकि ज्ञान और विज्ञान का महासागर मेरे भीतर तरगित हो रहा है। ऐसा महासागर जिसमे अनन्त सीपियॉ अपने मुंह बद किये विश्राम कर रही हैं। उनमे अनन्त मोती हैं परन्तु बन्द हैं। ये ज्ञान विज्ञान के मोती–अमूल्य मोती हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या मैं इस रहस्य को जानता हूँ या इस रहस्य से मैं अभी तक अनभिज्ञ ही हूँ ? इस अवसर पर मुझे एक कथा याद आ रही है। एक हीरो की खान थी बिना खोदी हुई। कोई नही जानता था कि इस छोटी सी टेकरी के नीचे बहुमूल्य हीरे दबे पडे हैं। एक महात्मा ही उसे जानता था जो टेकरी पर बैठा हुआ था। उस ओर से एक आदमी गुजर रहा था, महात्मा ने उसे बुलाया और कहा–भद्र, यहॉ आओ और यहॉ से भूमि को खोदो –नीचे हीरो की खान है। एक ही प्रयत्न मे तुम्हारा जन्म–जन्मो का दारिद्रय समाप्त हो जायेगा। उस आदमी ने जैसे सुना ही नही और यह कहते हुए आगे चला गया कि क्यो राह से गुजरने वालो को पागल बनाते हो ? यदि तुम कहते हो, वैसा ही है तो तुम ही क्यों नहीं खोद लेते हो ?

थोडी देर बाद एक दूसरा आदमी वहॉ से निकला। उसे भी महात्मा ने वही बात कही। उसने महात्मा की बात ध्यान से सुनी और अपना उत्साह भी प्रकट किया। महात्मा ने उसे एक कुदाली भी दे दी। वह उस टेकरी को खोदने लगा। कुछ मिट्टी खोदकर वह खडा हो गया। तब महात्मा ने कहा–भद्र, अभी तो बहुत खोदना होगा। हीरे बहुत गहराई मे पडे हुए हैं। उसने अपने माथे से पसीना पोछा और आलस्य से बोला– मैं तो बुरी तरह से थक गया हूँ। कौन जाने, आप सच कह रहे हैं ? फिर एक अविश्वास भरी नजर महात्मा पर फेकी और धीरे–धीरे वहॉ से चला गया।

फिर आया तीसरा आदमी। उसके चेहरे पर ओज झलक रहा था। महात्मा ने उससे भी वही बात कही। वह रुक गया और महात्मा को उसने नमस्कार किया, फिर बोला–आपने मुझे अपूर्व जानकारी दी है इसके लिए

मैं आपका कृतज्ञ हूँ। तब उसने महात्मा के पैर छुए और कुदाली हाथ मे पकड ली। वह खोदता गया, खोदता चला गया बिना रुके, अश्रद्धा बताये और बिना थकान दिखाये। महात्मा मुस्कराते जा रहे थे और वह जैसे उस मुस्कराहट से अधिकाधिक ऊर्जा ग्रहण करते हुए अथम परिश्रम करता चला जा रहा था। परिश्रम पुरुषार्थ मे और पुरुषार्थ पराक्रम मे बदलता गया। जब पराक्रम परम ओजस्वी बन जाय तो कौनसा ऐसा लक्ष्य होगा जो लक्षी के चरणो मे न आ गिरे? उसका पराक्रम सफल हो गया। बहुमूल्य हीरे चरणो मे लोट गये।

महात्मा ने तीनो को एक सा ज्ञान दिया। एक ने विश्वास ही नहीं किया। दूसरे ने विश्वास किया पर छिछला और क्षुद्र कि वह जल्दी ही उखड गया। प्रमाद ने उसे आ घेरा और वह क्लान्त हो उठा। लेकिन तीसरे ने उस ज्ञान के प्रति गहरा विश्वास किया और परिश्रम मे जुट गया। यदि वह भी हीरो की बात जान कर उसे मानता नहीं और मानकर उन्हे निकाल लेने का पुरुषार्थ नहीं करता तो क्या वह हीरो को प्राप्त कर सकता था ?

मैं भी विज्ञाता हूँ क्योकि वीतराग देवो का ज्ञान मुझे आचार्य परम्परा से मिला है किन्तु मुझे देखना है कि विज्ञाता होकर भी मैं क्या कर रहा हूँ ?

मैं दृष्टा भी हू क्योकि मुझे अपने आप को देखने की अभिलाषा है। यह जानना और देखना ही मुझे प्रेरित कर सकेगा कि मुझे जो ज्ञान लाभ मिला है उसे मैं अपने सम्पूर्ण ह्रदय से मानता हूँ या नहीं ? क्योकि मेरा उसे मानना ही मुझे उसके लिए करने की अनुप्रेरणा दे सकेगा।

मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ। मैं जान गया हूँ कि मेरे भीतर ज्ञान और विज्ञान का महासागर तरगित हो रहा है, उसमे अनन्त सीपियॉ अपना मुह बन्द किये पडी हैं तथा उनमे अनन्त अमूल्य मोती भरे हुए हैं। और मैं यह सब देख रहा हूँ और यह भी देख रहा हूँ कि मैं उन अमूल्य मोतियो को पाने के लिए क्या कुछ पुरुषार्थ कर रहा हूँ। मैं यह भी देख रहा हूँ कि क्या मेरा पुरुषार्थ उन अमूल्य मोतियो को निकाल लाने के कठिन लक्ष्य के अनुकूल भी है या नहीं ? इस ओर मुझे अभी बहुत गहराई से देखना है ताकि मैं अपने पुरुषार्थ को सक्रिय बना सकू। उस कठिन लक्ष्य के अनुकूल अधिक सक्रिय बन सकू।

आत्मा का ज्ञाता व दृष्टाभाव

मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ, इस कारण मे ज्ञान का स्मरण करता हूँ, विशेष ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता हूँ और उस ज्ञान के प्रकाश मे अपने आचरण की सक्षमता का मूल्याकन करता चाहता हूँ। क्योकि मूल्याकन की इस

कसोटी पर कसा जाकर ही मेरे ज्ञान–विज्ञान का मापदड स्थापित होगा कि वह हीरो की खान खोदने के लक्ष्य के प्रति चलने वाले तीसरे आदमी जैसा है जिसने ज्ञान लेने के साथ ही अपना अटल विश्वास दिखाया, विश्वास के सम्बल से अथक पुरुषार्थ किया और सफलता को अपनी बाहो मे भर ली।

मेरे भीतर मे सवाल उठता है कि यह मूल्याकन करेगा कौन ? मेरा मैं' जान गया है कि साध्य क्या है और उसे किन साधनो से प्राप्त किया जा सकेगा और समझिये कि वह उन साध्य–साधनो को मान भी गया है तथा कुदाली उसने अपने हाथ मे पकड भी ली है, लेकिन वह कुदाली चलायेगा। इसे कौन देखेगा कि 'मैं' स्वय उस कुदाली को कितने वेग से चला रहा हूँ और जमीन किस कदर खुद रही है ? कौन करेगा उसके पुरुषार्थ का मूल्याकन ?

मेरे 'मैं' के भीतर तब एक जिज्ञासा जागती है। उसकी अन्दर की ऑख जैसे अन्दर ही खुल पडती हे। वह अपने को ही अपनी आख से देखता है और उसके अन्दर एक बिजली सी कौंध जाती है। अरे, यह तो मैं ही मैं को देख रहा हूँ– फिर समस्या कहॉ रह जाती है ? मेरी करनी को मैं ही देखूगा–मेरे पुरुषार्थ का मैं ही मूल्याकन करूगा। क्योकि मैं ही मेरा दृष्टा भी हूँ।

तब मेरी आन्तरिकता के कपाट खुलते हैं कि मैं विज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ। मेरा विज्ञान अपनी किरणे फैंकने लगा है और मेरे भीतर की आख चारो ओर देखने लगी है। यह 'चारो ओर' बाहर का चारो ओर नही, भीतर का चारो ओर है, जिसे चर्म चक्षु नहीं, भीतर के 'ज्ञान चक्षु' ही देख सकते हैं। ये ज्ञान चक्षु भीतर ही भीतर देखते हैं, किन्तु भीतर का विश्व इतना विराट् है कि वे देखते चले जाते हैं–देखते चले जाते हैं फिर भी क्षितिज के समीप नहीं पहुॅच पाते हैं। क्षितिज विस्तीर्ण से विस्तीर्ण होता हुआ दिखाई देता है। यह विराट् विश्व ही मेरे 'मैं' का अन्तर्जगत् है – आत्मा का अन्तर्जगत है।

मुझे इस अन्तर्जगत् को थोडा–थोडा करते हुए भी सम्पूर्ण रूप से देखना है, तभी मेरा दृष्टा–भाव सिद्ध हो सकेगा। जब मैं को ही मैं पूरी तरह से जानूगा–मैं को ही मैं पूरी तरह देखूगा, तभी मैं पूरी तरह से विज्ञाता बनूगा, दृष्टा बनूगा। अभी तो मेरे विज्ञाता और दृष्टा–भाव का पहला ही चरण उठा है, अभी मुझे अपने विज्ञान और अपनी दृष्टि की कई मजिले पार करनी हैं।

इस दृष्टि से मैं अपना अभ्यास बना रहा हूँ कि मैं जानू, जितना जान सकू उससे और अधिक जानने की पिपासा जागृत करता रहू। मैं जानू जो

वीतराग देवो ने अपने स्वानुभाव के बाद कहा है और मैं उसे जानू अपने ही जीवन के क्रिया–कलापो तथा उनके परिणामो से। चेष्टा यह हो कि मैं जानता रहू, अपने बाहर के और भीतर के नैत्र हमेशा खुले रखू। और जो जानता जाऊ उसे अपने देखने की कसौटी पर कसता जाऊ। जानू भीतर बाहर से लेकिन देखू भीतर से अपने ज्ञान चक्षु से, क्योकि मूल्याकन वहीं होगा और वहीं से उसके परिणाम का पता चलेगा तो वहीं से आगे के लिए यथोचित निर्देश भी मिलेगा। मेरा यह अभ्यास चलता रहे जिसके चलते रहने से ही मेरा आचरण ढलता रहेगा, सुधरता रहेगा और निखरता रहेगा। जानने और देखने की प्रक्रियाएँ क्रमानुसार चलती रहेगी और मेरे भीतर के प्रकाश एव सामर्थ्य को बढाती रहेगी।

मैं जानूगा तो देखूगा और देखूगा तो करूगा, लेकिन करने को भी देखता रहूगा और जानता रहूगा कि मैं क्या कर रहा हूँ, तथा जो कर रहा हूँ– सही कर रहा हूँ या नही और सही नहीं कर रहा हूँ तो उस करने को सही कैसे बनाऊ ? इसके लिए सही क्या है–यह मुझे अपने देखने से भी जानना पडेगा तो वीतराग देवो ने जो देखा और किया है उसको जान कर भी जानना पडेगा। मैं जिसे सही जानूगा उसको मन से भी सही मानूगा। इस तरह जान ओर मान लेने के बाद करने का काम मुख्य बन जायेगा, फिर भी उस करने को भी मुझे हमेशा देखते और जानते रहना होगा। और इसी रूप मे मेरा यानी कि मेरी आत्मा का विज्ञाता भाव और द्रष्टा भाव सतत जागृत बना रहेगा।

मे अपने ही ज्ञान और विज्ञान के असीम कोष के कपाट कितने खोल पाता हूँ– यह मेरे अपने ही पुरुषार्थ पर निर्भर है परन्तु यह सत्य तो मेरे गले उतर ही जाना चाहिये कि मेरा ज्ञान कोष अपार है और मेरी दृष्टि अनन्त है। अभी मैं जितना जानता हूँ या जितना देख पाता हूँ, वह उस महासागर की एक बूद भी नही है। तो मुझे समझना होगा कि मेरे आत्म–विकास की महायात्रा कितनी दीर्घ, कितनी कठिन और कितनी श्रमसाध्य हो सकती है ? किन्तु मुझे सत्सकल्प करना होगा कि मैं अपनी इस महायात्रा का उत्साहजनक श्रीगणेश भी करू तो तीव्रगति के साथ उसे सम्पूर्ण करने के लिए निरन्तर आगे से आगे भी बढता चलू।

तर्क और आस्था का अन्तर

मैं जानता हूँ कि मे विज्ञाता हूँ और मेरा यह जानना भी मेरे विज्ञाता होने का ही प्रमाण है। किन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि मुझे विज्ञाता बनने के

लिये अभी बहुत–बहुत जानना है। अगर मैं मात्र अपने ही प्रयासो से इस जानने के पूरे क्षेत्र की यात्रा करना चाहूगा तो हो सकता है कि मुझे कई वर्ष ही नही, अपने कई जन्म भी पूरे कर देने पडे।

क्या कोई ऐसा उपाय नहीं कि मैं कम से कम समय मे अधिक से अधिक जान सकू ? मैं अपनी आत्मा के विकास की महायात्रा पर हूँ यह सही है, किन्तु अनन्त आत्माओ ने अब तक अपना आत्म–विकास सिद्ध भी किया है और वे अपने चरण चिह्न छोड गये हैं–ऐसे चरण चिह्न जो ज्ञान–विज्ञान और दृष्टि की उनकी परिपूर्णता सिद्ध हो जाने के बाद अकित हुए हैं। वे चरण चिह्न ही हमे उनका वह अपार ज्ञान कोष और उनकी असीम दृष्टि बताते हैं जिन्हे हम अपने ज्ञान व दृष्टि के वर्तमान विकास के स्तर से ग्रहण कर सकते हैं। जितना नवनीत हम वहॉ से् ले ले, उतना दूध हमे कम जमाना पडेगा–बिलौना कम करना पडेगा। सच तो यह है कि हमे दूध से मक्खन निकालने का श्रम ही न करना पडे, यदि हम आत्मविकास के सम्पूर्ण विज्ञान का उन चरण चिह्नो से सम्यक् अनुसरण कर ले।

लम्बे रास्ते को छोटा करने का यही श्रेष्ठ उपाय है, क्योकि हम भी दूध जमायेगे और खूब मथनी घुमायेंगे तो वही मक्खन निकलेगा जो हमें वीतराग देवो की आज्ञा के रूप में सीधा ही मिल रहा है। वह सिद्धान्त–सार हमारे सामने हैं, हम स्वतत्र हैं कि उसकी विशेषताओ को हृदयगम करे और उनको अपने आचरण मे उतारें। लेकिन क्या हम उस सिद्धान्त–सार को यों ही अपने आचरण मे उतार पायेंगे ?

यही आकर आस्था का प्रश्न खडा होता है। आस्था का प्रश्न सामने आते ही तर्क तन कर पूछता है– क्या आस्था आख मींच कर की जाय ? आस्था आख मीचकर करने का प्रश्न ही नही है–वह तो अन्धश्रद्धा कहलायेगी और अन्धश्रद्धा से कभी किसी का भला नहीं हो सकता है। आस्था आखें खोलकर ही की जायगी, बल्कि हमारे सम्यक् ज्ञान और विवेक का जो भी स्तर हो, उस पर आस्था के विषय को खरा मानकर ही आस्था से ओतप्रोत होगे।

तर्क एक प्रश्न और प्रस्तुत करता है और वह यह कि जब वीतराग देवो की आज्ञापालन करने की बात कही जाती है और उसके प्रति पूरी आस्था रखने की भी बात कही जाती है तो क्या यह चिन्तक आत्मा की विचार–स्वतत्रता का हनन नही है ? और इसी प्रश्न का उत्तर खोजने में हमे आस्था और तर्क के अन्तर को भलीभाति समझ लेना चाहिए।

मैं बिना लागलपेट सोचता हूँ कि मेरा मन कब किसी की बात को मानना चाहता है ? यह सही है कि मैं किसी की बिना हाथ–पैर की बात कभी भी नहीं मानना चाहता हूँ। बात के हाथ–पैर होने चाहिए। क्या मतलब है इसका ? समझिये कि किसी ने आकर मुझे एक बात कही तो पहले मैं उस बात की सभावना पर सोचता हू, फिर कहने वाले व्यक्ति की विश्वसनीयता पर। यदि दोनो बाते अनुकूल हैं तो मैं कहने वाले से तर्क करता हूँ–सीधा भी और उल्टा भी ताकि कहने वाले का जितना असत्य हो बाहर फूट जाय। इतना करने के बाद जब मेरा मन आश्वस्त हो जाता है, तब ही कहने वाले की बात को मैं मानता हूँ। मानने के बाद भी उस बात की सत्यता की अपने आचरण के माध्यम से बराबर जाच करता रहता हूँ।

इस सामान्य प्रक्रिया के माध्यम से में कहना यह चाहता हूँ कि मानव मात्र का स्वभाव अपने ज्ञान और विवेक के अनुसार किसी भी बात को मानने का ही होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य किसी भी तथ्य की पुष्टि के लिए पहला आश्रय तर्क का ही लेता है। तर्क का अर्थ हाता है कि जैसी भी और जितनी भी बुद्धि उसके पास है, उसकी सहायता से सामने आई हुई बात की जाच–पडताल करना। तार्किकता मनुष्य का स्वभाव होता है और हठवाद से दूर एक सीमा तक यह स्वभाव सही काम करता है। किसी भी बात को आख मींच कर मान लेने को बुद्धिमानी नही कहा जाता हे। बुद्धि का माप तर्क से ही निकलता है।

किन्तु मेरा मानना है कि तर्क का उपयोग एक सीमा तक ही किया जा सकता है और इसके परिप्रेक्ष्य मे इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाना चाहिये कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञापालन किये जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतत्रता का हनन नहीं है ? यह साफ है कि तर्क का वाहन बुद्धि ही होता है और प्रत्येक की अपनी–अपनी बुद्धि के विकास के स्तर भिन्न–भिन्न होते हैं और यह भी सही है कि अपूर्ण व्यक्तियो की बुद्धि भी पूर्ण नही होती है। अपूर्ण बुद्धि वाले को तर्क के आधार पर पूर्ण समाधान मिल जाय–यह भी सभव नही है। तर्क की गति बुद्धि तक और बुद्धि की गति उस व्यक्ति के आत्म–विकास तक, फिर वह व्यक्ति उससे आगे किस आधार पर निर्णय ले–यह एक ज्वलत प्रश्न उठा खडा होगा। या तो वह उस बिन्दु तक पहुँच कर अपनी गति को विराम दे दे या अनसोचे वातावरण मे और अविचारित योजना के साथ अधे जगल मे वह अपनी गति को मोड दे दे ? क्या दोनो बाते सही होगी ? गति का विराम भी गलत और विगति भी गलत तब क्या किया जाय ?

आगे भी प्रारभिक आश्रय तो तर्क का ही लिया जायेगा। यह होगा व्यक्ति की विश्वसनीयता जाचने का तर्क। कल्पना करे कि एक व्यक्ति के साथ आपका बीसो बार काम पडा और हर बार उसकी बात पूरी सच निकली। उसके बाद उसकी बात की विश्वसनीयता आप कैसी मानेगे ? कहेगे—तर्क की जरूरत नही है, हम उसे सही ही मानते हैं। यदि उसकी विश्वसनीयता की गहराई और अधिक हुई तो भले ही आप तार्किक हो पर इतना तक कह देगे—आप क्यो टोकते हैं ? मैं तो उसकी बात आख मींच कर मानतां हूँ।

इस बिन्दु पर मैं यह कहना चाहूगा कि तर्क से जब हम सन्तुष्ट हो जाते हैं तब आस्थावान बन जाते हैं। फिर तर्क छोटा पड जाता है और आस्था बहुत बडी हो जाती है। उस वृहदाकार आस्था मे कोई तर्क उठावे तो आप उसे बचकानापन ही मानेगे।

तो प्रारभिक तर्क से हम यह जानने का यत्न करते हैं कि उस व्यक्ति का भव्य स्वरूप कैसा हो सकता है जिसने अपनी आत्मा का पूर्ण विकास सिद्ध कर लिया हो। यह अध्ययन और तर्क का विषय होगा। ये कसौटियॉ वीतराग देव के स्वरूप पर कसकर जब आप सन्तुष्ट हो जायेगे तब आप उनकी आज्ञा की वार्स्तविकता एव सार्थकता के प्रति भी सन्तुष्ट हो जायेगे। जिस विधि विधान पर उन्होने अपनी सफल आत्मसाधना की और स्वानुभव से जो आनन्द उन्होने प्राप्त किया, उसे ही उन्होने सर्व जगत् कल्याण हित प्रकट कर दिया। यह प्रकटीकरण बिना किसी पक्षपात या भेदभाव के समान रूप से उन्होने किया। उनकी आज्ञाए ऐसी ही हैं जैसी कि सूरज की धूप होती है या चदा की चादनी। इन सब पर किसी का एकाधिकार नहीं होता यानी कि वे सबकी होती हैं और सबको सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र की प्रेरणा देती है। अब प्रश्न है इन आज्ञाओ के प्रति आस्था का।

मैं विचारता हूँ कि तर्क और आस्था का अन्तर स्पष्ट हो गया है। तर्क निरूपयोगी नही होता और आस्था कभी अधी नहीं होनी चाहिये। जहॉ तक मेरी बुद्धि और मेरा विवेक दौड सकता है, वहा तक मेरा विचार है कि मेरा तर्क भी दौडना चाहिए किन्तु अन्तर यही है कि तर्क के दौडने की सही सीमा मेरी अपनी बुद्धि और मेरे अपने विवेक से आगे बहुत कम रहती है। बस इतनी ही कि वह मोटे तौर पर विश्वसनीयता की समस्या को भली प्रकार से समझ ले और उसका सही समाधान निकाल ले। मैंने अनुभव किया हे कि आस्था के आगे तर्क सदा ही झुकता आया है क्योकि आस्था की कोई सीमा नही

होती—वह असीम बन सकती हे। अत आस्था की अनिवार्यता यह मानकर स्वीकार करनी होगी कि जहॉ तर्क की गति समाप्त हो जाती है, वही से आस्था की गति आरभ होती है।

आस्था की अनिवार्यता

मैं इस विश्लेषण के साथ आज्ञापालन के महत्त्व तथा आस्था की अनिवार्यता के प्रश्न को सुलझाना चाहता हूँ। आज्ञापालन मे मनुष्य की स्वतत्रता का हनन होगा तब माना जायेगा, जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जा सकने वाली समस्याओ मे भी आज्ञापालन को ही प्रथम और अन्तिम महत्त्व दिया जाय। किन्तु जहॉ बुद्धि की पहुॅच न हो और जहॉ पहुॅच कर तर्क भी थम जाये, ऐसे आध्यात्मिक रहस्यो के क्षेत्र मे आत्मानुभवी एव समतादर्शी महापुरुषो की आज्ञाओ का पालन एक साधक के लिये अपने आत्म—विकास का सबल माध्यम हो सकता है। कहा गया है कि ससार को जानने के लिये सशय अनिवार्य है और सशय तर्क को जन्म देता हे किन्तु समाधि (आत्म—सुख) के लिये आस्था अनिवार्य है।

मैं अपने व्यावहारिक अनुभव का भी चिन्तन करता हूॅ तो लगता है कि वहॉ पर भी व्यक्ति की विश्वसनीयता का महत्त्व कम नहीं है। पूरा विश्वास उपज जाने पर अधेपन से भी उस व्यक्ति का आश्रय ले लिया जाता है अपने गहरे विश्वास के कारण। फिर उन महापुरुषों की आज्ञाओ पर भला आस्था बलवती क्यों नहीं बनेगी, जिनकी आज्ञाएँ मूलत और पूर्णत मेरे ही व्यापक हित के लिये हैं। यह नही कि मे उन आज्ञाओ को समझू ही नहीं। नहीं समझूगा तो उनका पालन ही कैसे करूगा ? लेकिन समझने के साथ अपनी गहरी आस्था को उनके साथ जोडू, क्योकि उनका वस्तुविषय कम से कम अभी मेरे लिये अगम्य है। किन्तु आस्था मजबूती से जुडेगी तो वह अगम्यता मेरे लिये बाधक नहीं बनेगी। बाधक क्या, मैं उस अगम्यता मे भी साहस के साथ प्रवेश कर जाऊँगा, क्योकि आस्था मेरा सुदृढ सबल हो जायेगी।

कल्पना करें कि मैं बम्बई कभी नहीं गया, लेकिन मेरा एक विश्वसनीय मित्र कई बार बम्बई जा चुका था तो क्या मैं अपने उस मित्र का निर्देशन लेकर पहली बार ही सही मगर भरोसे से बम्बई नहीं जा सकता हूॅ ? निर्देशन हो या आज्ञा—अधिक अनुभवी पर विश्वास किया ही जाता है। यह सामान्य बात है। किन्तु गहन आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे तो आस्था ही मुख्य बात होगी। किसी स्थूल उपलब्धि की बात हो या सासारिकता का विषय हो तो तर्क से ही काम चला सकते हें। ससार की बातो मे तो तर्क उचित भी रहता है क्योकि

तर्क के आधार पर नई–नई जानकारिया होती हैं। ससार के क्षेत्र मे सशय हो या असन्तोष–उससे भौतिक विषयो का ज्ञान–विज्ञान बढता है। यह स्थूल उपलब्धियो की बात है। किन्तु जहाँ अपने ही आत्मस्वरूप का ज्ञान करना है अथवा अपने भीतर अक्षय सुख की खोज करनी है तो इन सूक्ष्म विषयो मे तर्क का कोई काम नही रहता। केवल आस्था का काम रहता है कि उन महापुरुषो की आज्ञा मानी जाये जिन्होने स्वय ने अपने आत्मस्वरूप को हस्तामलकवत् जाना है और अक्षय सुख से स्वय को परमानन्द स्वरूप बना लिया है। आत्मानुभूति के क्षेत्र मे आस्था की अनिवार्यता है।

मैं आत्मानुभूति के क्षेत्र को सुखानुभूति का क्षेत्र मानता हूँ। सासारिक सुखो में सच्चाई नही होती–वे सुखाभास मात्र होते हैं। आत्मा का सुख ही सच्चा सुख होता है–ऐसा सुख जिससे आन्तरिक समाधि प्राप्त होती है। आत्म समाधि के इस मार्ग पर चलने तथा लक्ष्य तक पहुँच जाने के लिये आत्मानुभवियो तथा समदर्शियो की आज्ञा का पालन अनिवार्य ही नहीं साधक का एक पावन कर्त्तव्य भी है। वीतराग देवो की आज्ञाओ का पालन करके ही आध्यात्मिक रहस्यो को जानने का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है और इन आज्ञाओ के साथ साधक की आस्था एकात्म रूप से जुडी हुई होनी ही चाहिये।

वीतराग देवो द्वारा दर्शित आध्यात्मिक साधना कोई सामान्य साधना नहीं, मूल्यो की साधना होती है और मूल्यो की साधना मे मूल्यो के प्रति अमिट आस्था होनी चाहिये। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि ससार के व्यवहार में मनुष्य कोई सत्कार्य भी प्रशसा या यश प्राप्त करने के लिये अधिकाशत करता है परन्तु उसकी इस भावना का दुष्परिणाम यह होता है कि यदि उसे वाछित प्रशसा या कीर्ति नही मिलती है तो वह निराश होकर अपने सत्कार्यों को ही छोड देता है अथवा उसके सत्कार्य अपने 'सत्' गुण को त्याग देते हैं क्योकि वह कैसा भी जोड तोड करके प्रशसा या कीर्ति प्राप्त करने मे प्रयत्नशील रहता है। इस कारण मूल्यो के साधक के लिये प्रशसा या कीर्ति की चाह करना निषिद्ध है। एक तो उसके इस असाधारण कार्य को सामान्य जन समझ नही पायेगे तो दूसरे, प्रशसा या कीर्ति की लालसा उसके कार्य की शुद्धता को बनाये नहीं रखेगी। इस कारण मूल्यो के साधक के लिये आस्था ही नौका हो और आस्था ही खिवैया। एक आस्थावान् साधक अपनी आस्था के सम्बल के साथ अपने को सर्वाधिक सुरक्षित मानता है। वैसा साधक तो अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन मे भी मूल्यो की साधना से अमिट आस्था के साथ जुडा हुआ रहता है।

मैं जान गया हूँ कि मुझे भी यदि आत्मविकास की इस महायात्रा मे विज्ञाता और दृष्टा बनना है तो आस्था का सम्बल लेना ही होगा। वह आस्था सम्यक् हो याने कि सम्यक् प्रतिमानो के प्रति हो, सम्यक् श्रद्धा होगी, तभी ज्ञान भी सम्यक् बनेगा ओर आचरण भी सम्यक्तव स्वरूपी होगा।

मैं यह भी जान गया हूँ कि आत्मा के ज्ञाता और दृष्टा–भाव का सम्यक् विकास भी वीतराग देवो की आज्ञाओ का सम्यक् श्रद्धा के साथ पालन करने से ही होगा। जो आत्मस्वरूप का ज्ञाता होता है, वही दृष्टा बनता है तथा जो आत्म–दृष्टा हो जाता है, वह अप्रमादी, जागृत, अनासक्त और कुशल वीर भी हो जाता है क्योकि आत्म–दृष्टा के लिये फिर किसी उपदेश की आवश्यकता शेष नहीं रह जाती है। आत्म–दृष्टा के ज्ञान चक्षु इतने विस्तृत हो जाते हैं कि वे सम्पूर्ण लोक को प्रत्यक्ष देख लेते हैं। आत्म–दृष्टा बधन ओर मुक्ति के विकल्पो से परे होने लग जाता है तो शुभ और अशुभ के द्वन्द्व से दूर होकर द्वन्द्वातीत भी बन जाता है। आत्म–दृष्टा आध्यात्मिकता मे ही जागता हे ओर सदा अनुपम प्रसन्नता मे रहता है। मैं इस दृष्टा–भाव को आस्था के आधार पर ही जागृत बना सकूगा–यह मैं जान गया हूँ।

विश्वसनीयता के प्रतिमान

मैं मान चुका हूँ कि आत्मविकास की मेरी महायात्रा में आस्था का अवलम्बन अपरिहार्य है। वहॉ तर्क की उपयोगिता समाप्त हो जाती है यह जानने के बाद कि इस महायात्रा मे हमारी विश्वसनीयता के सच्चे प्रतिमान कौन सिद्ध हो सकते हैं ?

विश्वसनीयता के सच्चे प्रतिमानो का निर्धारण करने के लिये अवश्य ही मैं अपनी तार्किक बुद्धि का उपयोग करता हूँ। मुझे मेरी इस महायात्रा मे वे प्रतिमान चाहिये जो इस महायात्रा का सार्थक अनुभव रखते हो या स्वय इस महायात्रा मे अग्रगामिता के साथ गतिशील हो अथवा जिसके माध्यम से इस महायात्रा के गूढ रहस्यो तथा विधि–विधानो का सम्यक् ज्ञान होता हो।

मेरी विश्वसनीयता के पहले प्रतिमान होगे वीतराग के रूप मे सुदेव जिन्हे अरिहत नाम से जानते हैं। मेरे तर्क ने कई देव नामधारी व्यक्तित्वों की जाच परख की हे तो अधिकाश को यह निर्देश देते हुए पाया हे कि मुझे ही पूजो, मेरी ही स्तुति करो तब मैं ही तुम्हे तारूगा। 'मैं ही सच्चा हूँ और बाकी सब झूठे हैं'–यह कथन मेरे तर्क को भाया नही। जो खुद खुद को ही सच्चा कहता हे, वह हकीकत मे कितना सच्चा होगा ? लोग कहने चाहिये कि वह सच्चा हे तो उसकी सच्चाई की तरफ नजर डाल सकते हैं। फिर 'व्यक्ति' कब

तक सच्चा रहेगा और कब बदल जायेगा—इसकी क्या गारटी है ? इस वस्तुस्थिति को समझ कर मेरे तर्क ने निश्चय किया कि गुणमूलक व्यक्तित्व को ही अपनी आस्था का केन्द्र बनाया जाये, किसी व्यक्ति को नही, क्योकि मेरा तर्क व्यक्ति—पूजा को कतई महत्त्व नही देता।

यही कारण है कि मेरे तर्क ने वीतराग या अरिहत को सुदेव के रूप मे प्रतिष्ठित कर मुझे आस्था को सौंप दिया है। वीतराग वे महापुरुष कहलाते हैं जो राग—द्वेषातीत हो जाते हैं—समभावी और समदर्शी बन जाते हैं। कौन समभावी या समदर्शी हैं इसका निर्णय मेरे तर्क ने कर दिया और यह भी बता दिया कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति ही निष्ठा बनाने या बनाये रखने का सवाल नहीं है। जो भी समभावी और समदर्शी व्यक्तित्व हुए हैं, वतर्मान मे हैं और भविष्य मे होगे—वे सब सुदेव हैं इसलिये वे ही मेरी विश्वसनीयता के प्रतिमान हैं—मेरी श्रद्धा के केन्द्र हैं।

तो पहला प्रतिमान मैंने निर्धारित कर लिया है देव अरिहत को। अरिहत का भी वही अर्थ है जो वीतराग का अर्थात् जिन महान् आत्माओ ने अपने समस्त घातीकर्म शत्रुओ (कर्मो) को परास्त कर दिया और जो समग्र ज्ञानादि चतुष्टय रूप आत्म—गुणो से विभूषित बन गये। ऐसे अरिहत का आदर्श ही मेरे लिये सच्चा आदर्श हो सकता है और उन्होने आत्म विकास का जो मार्ग बताया है, वही मेरे लिये ग्राह्य हो सकता है। इसलिये मैं उनकी आज्ञापालन को ही सबसे बडा धर्म मानता हूँ। इस मान्यता के साथ ही मेरे तर्क का कार्य समाप्त हो जाता है और मेरा समूचा जीवन अमित आस्था से आप्लावित बन जाता है।

जब मैंने सुदेव के रूप मे अरिहत जैसी महान् आत्माओ को अपनी विश्वसनीयता का पहला प्रतिमान निर्धारित कर लिया है तो शेष दो प्रतिमान—सुगुरु तथा सुधर्म भी वे ही हो सकते हैं जो अरिहत देव की महानता की कसौटी पर खरे उतरते हो। मैंने अरिहत देव की आज्ञा को ही प्रधानता दी है तो मेरे लिये सुगुरु वे ही हो सकते हैं जो उनकी आज्ञा में विचरण करते हो और स्वय के निर्माण के साथ धर्म का प्रचार करते हो। ऐसे सुगुरु निर्ग्रथ होने चाहिये। निर्ग्रंथ का अर्थ है ग्रथिरहित। उन साधु—महात्माओ के जीवन मे ससार के काम—भोगो या पदार्थो की अथवा सासारिक वृत्तियो या प्रवृत्तियो की कोई ग्रथि नहीं होनी चाहिये। इसीलिये मेरे तर्क ने सुगुरु पद के लिये मुझे समाधान दिया है कि सुगुरु वे, जो निर्ग्रंथ हो। चूकि अरिहत देव प्रत्यक्ष मे आज हमारे सामने विराजमान नहीं है अत उनके ज्ञान—विज्ञान

की ज्योति लिये निर्ग्रंथ साधु ही कल्याण कार्य मे लगे हुए हैं। 'गुरु-गोविन्द दोनो खडे, काके लागू पाय' —की उक्ति के अनुसार आज का सीधा समाधान होगा—गुरु पद की प्रमुखता। मैंने सुगुरु पद के लिये निर्ग्रंथ का चयन कर लिया हे जिनके प्रति मेरी अमिट आस्था ढल रही है।

किन्तु निर्ग्रंथत्त्व की कसोटी के लिये में अपने तर्क को भी सक्रिय बनाये रखता हूॅ। मैं हर किसी साधु को निर्ग्रंथ नही मान लेता हूॅ। किसी साधु के दर्शन होते हैं तो मेरा तर्क सतर्क हो उठता है। मैं जाचता हूॅ—परखता हूॅ कि वह साधु निर्ग्रंथ हे या नहीं और अरिहन्त देव की आज्ञा मे चलता हे या नहीं। जब मेरा तर्क सन्तुष्ट हो जाता है तमी मेरी आस्था मुडती है क्योकि मेरी आस्था अधी नहीं है।

तीसरा प्रतिमान-मुझे चाहिये सुधर्म का। यो तो हर अच्छी बुरी बात धर्म के नाम मे लपेट कर ही की जाती है ताकि आस्थावान् लोगो को भ्रमित किया जा सके, लेकिन वे सब धर्म वास्तविकता से परे ही होते हें। कुछ व्यक्तिपरक धर्म होते हें जो श्रद्धा का केन्द्र व्यक्ति विशेष को बनाने की बात कहते हें। वे धर्म भी उतने वास्तविक नहीं होते। सच्चा धर्म वही कहलायेगा जो ससार की सभी आत्माओ मे 'एगे आया' (एक ही आत्मा) के दर्शन कराता हो, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो ससार के समस्त प्राणियो के प्रति अपने हृदय की दया को बिखेर देने की प्रेरणा देता हो। जो धर्म दयामय हो, वही सच्चा धर्म होगा—ऐसा मैं मानता हूॅ ओर ऐसे धर्म का मार्ग प्रशस्त किया हे अरिहत देवो ने और ऐसे ही धर्म का प्रचार करते हैं निर्ग्रंथ मुनिगण।

इस प्रकार मेंने अपनी आत्म—विकास की महायात्रा मे अपने विश्वसनीय तीनो प्रतिमान सुनिश्चित कर लिये हैं जो हैं—1 देव अरिहत —सुदेव, 2 गुरु निर्ग्रंथ—सुगुरु तथा 3 धर्म दयामय—सुधर्म और इन्हीं प्रतिमानो को मैंने अपनी समग्र आस्था अर्पित कर दी है। इस समर्पण के पश्चात् मेरा आत्म—विश्वास सुदृढ बन गया हे कि मैं अपने आत्मस्वरूप को भी अरिहत देवो की आत्माओं के समान ही परमोज्ज्वल स्वरूप प्रदान करने मे अवश्य सफल बनूगा।

सिद्धान्त व गुणमूलक संस्कृति

किसी व्यक्ति विशेष के प्रति अपनी आस्था को समर्पित करने की अपेक्षा में सदा ही सत्य सिद्धान्तो तथा गुणमूलक सस्कृति के प्रति आस्थावान् बनने को श्रेष्ठतर मानता हूॅ। मेरी इस मान्यता के कई समुचित तथा पुष्ट कारण हें।

मैं मानता हूँ कि व्यक्ति–पूजा सामान्यत किसी भी साधक को तटस्थ अथवा पक्षहीन नही रहने देती। वह उसे एक तरफ झुकाती है तो निश्चय है कि वह दूसरी तरफ से उपेक्षित बनता है। इससे वह भेद, हठ और पक्ष के भवर मे गिर जाता है। इसी भवर से राग और द्वेष की ज्वालाएँ उठती हैं। जो इन ज्वालाओं मे खुद भी सुलगने लग जाता है, वह फिर भला साधक ही कहा रहता है ? वह पथभ्रष्ट हो जाता है। ऐसी व्यक्ति–पूजा का मैं अनुसरण कैसे कर सकता हूँ ? मैं जानता हूँ कि कोई भी व्यक्ति पूजा जाता है तो अपने श्रेष्ठ सिंद्धान्तो तथा उत्तम आचरण के आधार पर ही–तो में व्यक्ति को क्यो अग्रिम स्थान दू ? मैं उन सिद्धान्तो और उस आचरण को ही प्रथम महत्त्व क्यो न दू, जिन्होने व्यक्ति की श्रेष्ठता का निर्माण किया है। अत मैं सत्सिद्धान्तो को मानता हूँ, उत्तम आचरण को मानता हूँ और आत्मीय गुणो के विकास को मानता हूँ–ये जिनमे पाये जाये वह व्यक्ति भी आस्था का केन्द्र बन सकता है।

मैं सत्सिद्धान्तो मे अपनी आस्था का नियोजन इस दृष्टि से करता हूँ कि एक सिद्धान्त सदा एक समान रहता है और सिद्धान्त जिसे भी अपनी ओर प्रभावित करता है, वह प्रभावित व्यक्ति को परिवर्तित करता है। सिद्धान्त गुणमूलक होता है जो गुणो को उसके गुण मे ढालता है और किसी अन्य के साथ भेद नहीं करता। सिद्धान्तो पर आधारित सभ्यता अथवा सस्कृति ही दीर्घजीवी होती है। इसका कारण है कि सद्‌गुण और सत्सिद्धान्त व्यक्ति की विकासशीलता के सामने सदैव ज्योतिस्तभो के रूप मे चमकते रहते हैं और सन्मार्ग दर्शाते रहते हैं।

सिद्धान्त व गुणमूलक सस्कृति ही अपने यथार्थ अर्थ मे मूल्यो की सस्कृति होती है–ऐसा मैं मानता हूँ। वस्तुत गुणो का नाम ही मूल्य हैं। गुण वे हैं जो गुणी को गुणवान् बनाते हैं या यो कहे कि एक मनुष्य को मनुष्यता के गुणो से विभूषित करते हैं। मनुष्य मात्र होना उतना सार्थक नही है, बल्कि यदि उसमे मनुष्यता के गुणो का सम्यक् विकास नही हुआ है तो वह निरर्थक भी कहला सकता है। मनुष्य होने के साथ मनुष्यता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि ऐसा जल हो जिससे प्यास ही नहीं बुझती हो तो फिर उसे जल मानेगा ही कौन ? जल का गुण है प्यास बुझाना और यदि गुणी मे उसके गुण का ही अभाव है तो गुणी निर्गुणी ही कहलायेगा। इसी प्रकार मनुष्यता के अस्तित्व से ही मनुष्य का बोध होता है अत मनुष्यता उसका मूल गुण है–उसका मुख्य मूल्य है। मनुष्य के लिये यही मूल्यात्मक जीवन है कि

वह सर्वप्रथम मनुष्यता को धारण करे। यदि एक मनुष्य मे मनुष्यता ही नही है तो वह गुणहीन होगा—मूल्यहीन कहलायेगा।

मनुष्यता होती हे मानवोचित सिद्धान्तो तथा गुणो का पुज। यही मनुष्य के मूल्यो का समूह भी होगा। मानवोचित विशेषण का क्या अर्थ ले ? मानवोचित का अर्थ होता है जो मनुष्य के लिये उचित हो। मनुष्य के लिये उचित क्या ? इस विषय पर वीतराग देवो ने सम्पूर्ण प्रकाश डाला है जिसे हम आत्मसात् करके अपने आप को भी मनुष्यता पहिचानने की कसौटी बना सकते हैं। इस पहिचान मे मेरी मान्यता है कि मेरी आस्था भी उपयोगी होती तो मेरा तर्क भी कार्य करेगा। व्यावहारिक वातावरण के प्रत्येक क्रिया—कलाप के साथ जब मैं अपने हृदय को जोडूगा तो स्वामाविक रूप से मुझे समझ मे आता रहेगा कि मानवोचितता क्या होती है ? उसे बताने की जरूरत नहीं पडेगी। वह स्वयमेव मेरी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे समाहित होती जायेगी जिसका सभी अनुभव कर लेगे। एक हृदय से दूसरे, तीसरे और इस तरह कई हृदयो को स्पन्दित करती हुई मानवोचितता एक स्पष्ट मूल्य का रूप ले लेगी। अत सब सिद्धान्त व गुणमूलक सस्कृति को ही मैं अपने और सभी प्राणियो के आत्मविकास के अबाध मार्ग के रूप मे देखता हूँ।

सत्सिद्धान्त कौनसा ? सद्गुण क्या ? अथवा श्रेष्ठ मूल्य किसे कहे ? यह जाच—परख मुझे करनी होगी। मेरी आस्था मुझे बता देगी कि जो सिद्धान्त—निरूपण, गुण—प्रतिपादन एव मूल्य—समर्थन वीतराग जैसे सुदेवो ने किया है तथा निर्ग्रंथ जैसे सुगुरु जिसे परिभाषित कर रहे हैं तथा जिसका समस्त ज्ञान दयामय धर्म मे समाविष्ट है, वह मेरे लिये माननीय है। मेरा तर्क भी मुझे बतायेगा कि जो सिद्धान्त, गुण और मूल्य नाना प्रकार के नाम से अथवा भाति—भाति के रूपो मे मेरे सामने आते हैं, इसकी परीक्षा कैसे की जाये ? जो सत्याश है उसे कैसे धारण कर ले और जो असत्य है उसे कहाँ और कब छोड दे ? तर्क और आस्था से मडित मेरा मन कसौटी का पत्थर बन जायगा जो प्रत्येक सिद्धान्त, गुण या मूल्य की रगड देख कर बता देगा कि कौन—सा सोना है और कौनसा पीतल ? यह भी बता देगा कि जो सोना है, वह कितना खरा है और कितना खोटा ? वीतराग देवो की आज्ञा यही बताती है कि सत्याशो को सचित करते रहो ताकि एक दिन पूर्ण सत्य से साक्षात्कार हो सके।

सिद्धान्तो की इस रूप मे परीक्षा के क्रम मे मैं सर्वथा ऐसे गुणमूलक सिद्धान्तों की चर्चा करना चाहता हूँ जिनका यदि सम्यक् रूप से आचरण

किया जाय तो वे मनुष्य को मनुष्यतामय ही नही, मनुष्य को देव भी बनाने की क्षमता रखते हैं।

आचरणदर्शिका अंहिसा

अहिसा का मूल स्वरूप आचरण–दर्शक है। ससार के समस्त प्राणियों के साथ रहते हुए एक सामान्य मनुष्य को अपना व्यवहार किस रूप मे ढालना चाहिये कि वह सबके साथ हिलमिल कर प्रेमपूर्वक रह सके–यह विधि अहिसा का सिद्धान्त बताती है। इस सिद्धान्त के विशिष्ट महत्त्व का अकन करते हुए ही अहिसा को परम धर्म कहा गया हे।

अहिसा नकारात्मक याने निषेध रूप शब्द है जिसका विपर्यय हे हिसा। हिसा की व्याख्या इस तरह की गई हे कि किसी भी प्राणी के सभी या किन्ही प्राणो को अथवा किसी भी एक प्राण को प्रमाद के योग से छेदना–भेदना, कष्ट देना अथवा किसी भी रीति से सत्रस्त बनाना हिसा है। इतना ही नही, किसी भी प्राणी पर निरर्थक हकूमत चलाना या अपने वर्चस्व को थोपना भी हिसा मे ही लिया गया हे। मात्र किसी का वध करना ही हिसा नहीं है। यह तो स्थूल हिसा हे। इसके अनेक सूक्ष्म रूप हैं जो दस प्राणो से सम्बन्धित हें। किसी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय को भी कष्ट पहुचाओ या हैरान करो तो वह भी हिसा है। कोई तेज आवाज सह नही सकता और किसी ने जाकर वहॉ ढोल बजाना शुरू कर दिया तो उसके श्रोतेन्द्रिय प्राण को कष्ट पहुचाने के कारण ढोल बजाने वाला हिसा का आचरण कर रहा है–ऐसा माना जायगा। मैं मानता हूँ कि किसी भी प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, उसके मन, वचन या काया अथवा उसके श्वासोश्वास तथा आयुष्य पर आघात करने वाला भी हिसा का ही आचरण है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रकार की हिसा को सर्वत्र रोकना अहिसा है और यह अहिसा का निषेध रूप है। जबकि अहिसा का विधि रूप होगा–प्राणियो के कष्ट दूर करना, उनके प्राणो की रक्षा करना, षड्काया के सभी जीवो पर दया–अनुकम्पा रखना आदि।

यह एक प्राकृतिक तथ्य है कि हिसा का आचरण क्रूरता, निर्दयता ओर राक्षसी वृत्ति को पैदा करता है जिसके कारण मनुष्य अपनी मनुष्यता खोकर पशुता की तरफ जाता है। इस के विपरीत मनुष्य अपने आचरण मे जितना अधिक अहिसा का समावेश करता है, उतने ही अधिक मानवीय गुण उसके जीवन में फूलते फलते हैं। इतना ही नही, यदि मन, वाणी और कर्म मे पूर्णत अहिसा की वृत्ति अपना ली जाय तो वैसा मनुष्य स्वामाविक रूप से देवत्व की सीढियॉ चढने लगेगा।

मैं आज जब अपने देश और सारे ससार की परिस्थितियो पर सरसरी नजर दौडाता हूँ तो मुझे साफ महसूस होता है कि समूचा वातावरण हिसा के आवरण मे लिपटता जा रहा हे। जहॉ देखे, वहीं हिसा का ताडव दिखाई दे रहा है। चाहे सामूहिक समस्याएँ हो अथवा व्यक्तिगत उलझने, सबको हिसा से निपटाने की ही चेष्टाएँ की जाती हैं। परिणामस्वरूप अपराध वृत्ति बढ गई है, काले धधे धडल्ले से चल रहे हैं और हिसापूर्ण दगो, आन्दोलनो या युद्धो की आशकाए मुह बाए खडी होती जा रही हैं। मेरा मानना है कि वर्तमान वातावरण मे अहिसामय आचरण की अधिक आवश्यकता है।

मैं इसे विचारणीय मानता हूँ कि अहिसा के सिद्धान्त के पीछे कितने व्यापक लक्ष्य अन्तर्निहित उन्हे समझने की आवश्यकता है। इस ससार मे छोटे हो या बड़े, सूक्ष्म हो या स्थूल सभी जीव शरीरधारी होते हैं। इन शरीरो मे अधिकाश अक्षम शरीर होते हैं और जिनके शरीर कार्यक्षम होते हैं उनमे भी कई दुर्बल होते हैं तो कुछ सबल ? कइयो के पास अपनी रक्षा के साधन नहीं होते तो कुछ के पास रक्षा के साधन और सामर्थ्य दोनो इतनी मात्रा मे होते हैं कि वे सिर्फ अपनी रक्षा ही नही कर सकते बल्कि दुर्बलो के अधिकार व पदार्थ छीन कर उनको सत्रास भी दे सकते हैं। शरीर होने से निर्वाह की आवश्यकता होती है तथा निर्वाह के साधन अपार नहीं होते, सीमित होते हैं। निर्वाह के वे साधन, समानता से वितरित नही होते अथवा विकेन्द्रित नही होते। सशक्त शरीरधारी अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें केन्द्रित कर लेते हैं, सचित बना लेते हैं। इस सचय वृत्ति से प्राणियों के बीच निर्वाह के साधनों के लिये सघर्ष और टकराव पैदा होते हैं। यही सघर्ष सत्ता और सम्पत्ति के शोषण व सचय की अधी गलियो से गुजरता हुआ महायुद्धो के विध्वस तक पहुच जाता है।

मैं अनुभव करता हूँ कि इस दृष्टि से अहिसा व्यक्ति के आचरण को और उसके माध्यम से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार को सदाशयमय बनाना चाहती है। कोई भी प्राणी किसी भी दूसरे प्राणी के किसी प्राण को कष्टित नही करे—इसका आशय यही होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थो या हितो अथवा अपनी निर्वाह योग्य आवश्यकताओ को इतनी सीमित बनादे कि उसको किसी भी स्तर पर टकराव न करना पडे अथवा टकराव न झेलना पडे। इस वृत्ति से सचय की कोई गुजाइश नही रह जायेगी। यदि सचय नहीं होगा तो सघर्ष भी नहीं होगा और सघर्ष के अभाव में प्राप्त पदार्थो के सम—वितरण की ओर सबके प्रयास प्रारभ होगे। सह्रदयता ऐसे सम—वितरण की आत्मा बन जायगी।

मैं अहिसा के सिद्धान्त की पृष्टभूमि मे थ्योरी क्या है, उसका भी जिक्र करदू। यह शाश्वत सत्य है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नही चाहता। सभी जीवो को अपनी आयु प्रिय है। वे सुख चाहते हैं और दुख नही चाहते। उन्हे वध अप्रिय लगता है और जीवन प्रिय। इसी सदर्भ मे भगवान् महावीर ने भी कहा है—मैं कहता हूँ कि भूतकाल मे जो तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान काल मे जो तीर्थंकर हैं और भविष्य मे जो तीर्थंकर होगे, उन सभी ने यही कहा है, कहते हैं और कहेगे कि सभी प्राण, भूत, जीवन और सत्त्व का हंनन नही करना चाहिये, उन पर शासन नहीं चलाना चाहिये, उन्हे अधीन नही बनाना चाहिये, उन्हे परिताप नही देना चाहिये तथा उन्हे प्राणो से वियुक्त नही करना चाहिये। यह धर्म का ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।

मैं सबसे पहले अपने लिये सोचना चाहता हूँ कि क्या मैं जीना नही चाहता ? क्या मुझे सुख प्रिय नही है ? क्या मुझे दु ख या वध प्रिय है ? मेरा यही उत्तर होगा कि मुझे जीवन और सुख प्रिय है, दु ख और वध अप्रिय है। तो मुझे यही सोचना है कि जो मुझे प्रिय है वही सभी जीवो को प्रिय है तथा जो मुझे अप्रिय है, वह सभी जीवो को अप्रिय है। इसके साथ ही मैं निश्चय करना चाहता हूँ कि मैं अन्य प्राणियो के साथ वैसा ही व्यवहार करूगा, जो मुझे और उन्हे प्रिय लगता है। अप्रिय व्यवहार मैं नही करूगा। इसी भावना की भूमिका पर अहिसामय आचरण का श्री गणेश किया जा सकता है।

तदनन्तर मेरे मन, वाणी तथा कर्म मे निरन्तर अहिसा का सुप्रभाव अभिवृद्ध होता जायगा। विश्व के सभी जीवो की रक्षा रूप दया को मैं हृदय मे बसा लूगा। मैं जानता हूँ कि दया की आराधना से जीवो के दु ख और पापो का शमन होता है तथा सभी का कल्याण सधता है। मैं इस सत्य की गाठ बाध लूगा कि जिस प्रकार दु ख मुझे अप्रिय लगता है, उसी प्रकार से ससार के सभी जीवो को भी दु ख अप्रिय लगता है अत सभी प्राणियो पर मैं आदर एव उपयोग के साथ दया करूगा। मैं जब किसी भी प्राणी को हनन, आज्ञापन, परिताप, परिग्रह या विनाश के योग्य समझूगा तो सबसे पहले यह विचार करूगा कि जिसके साथ तुम हिसा का आचरण करना चाह रहे हो, वह कोई अन्य प्राणी नहीं, तुम स्वय हो, क्योकि मेरी और उसकी आत्मा एक समान होती है। मैं मानता हू कि यह जीव हिसा ही ग्रथि (आठ कर्मो का बध) है, यही मोह है, यही मृत्यु है और यही नरक हे। मुझे अनुभव है कि जो पुरुष स्वय प्राणियो की हिसा करता है, दूसरे से हिसा करवाता है और हिसा करने वाले का अनुमोदन करता है, वह अपने लिये वैर ही वैर बढाता है।

मैं अहिसा के इस मूलमत्र को हृदयगम करना चाहता हूँ कि जीवन पर्यन्त ससार के सभी प्राणियो पर—फिर भले ही वे शत्रु हो या मित्र—समभाव रखू ओर सभी प्रकार की हिसा का त्याग करू जो अपने आप मे एक अति दुष्कर कार्य है। जीव की हिसा करना अपनी आत्मा की हिसा करना है और जीवो की रक्षा करना अपनी आत्मा की रक्षा करना है। मैं यह भी जानता हूँ कि ससार मे जो कुछ भी उदार सुख, प्रभुत्व, प्रकृति की सुन्दरता, आरोग्य एव सौभाग्य दिखाई देता है, वह सब अहिसा का ही फ़ल हे। जगत् मे सुमेरू पर्वत से ऊचा तथा आकाश से विशाल कोई नही है, उससे भी अधिक निश्चय पूर्वक मैं समझता हूँ कि अखिल विश्व मे अहिसा जैसा दूसरा धर्म नही है।

मैंने किन्ही अज्ञानियो के आरोप सुने हैं कि अहिसा कायरता सिखाती है। यह एकदम गलत है। अहिसा का सिद्धान्त सम्पूर्ण वीरता का परिचायक है। कायरता अथवा दुर्बलता के लिये उसमे कोई स्थान नहीं है। एक हिसक से अहिसक बनने की आशा की जा सकती है। किन्तु कायर कभी अहिसक नही बन सकता है। यह अहिसा आत्म—बल पर आधारित होती हे। इसी तरह इस आरोप को भी मैं सही नही मानता कि अहिसा जीवन मे अव्यावहारिक हे। अहिसा का व्यवहार तो एक नागरिक या सामाजिक सदस्य के लिये व्यावहारिक ही नही, अनिवार्य भी है। अहिसा को अपनाने से एक ओर काम क्रोध आदि विकारो को हटा कर क्षमा, शान्ति आदि सद्गुणो को ग्रहण कर सकते हैं तो दूसरी ओर आवश्यकताओ को निरन्तर कम करते हुए ओर सादगी को बढाते हुए श्रेष्ठ व्यावहारिक जीवन का निर्माण भी कर सकते हैं।

मैं इन आप्तवचनो का स्मरण करके सावधान हो जाता हूँ कि कुछ लोग प्रयोजन से हिसा करते हैं, कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिसा करते हैं। कुछ लोग क्रोध से हिसा करते हें, कुछ लोग लोभ से हिसा करते हैं और कुछ लोग अज्ञान से हिसा करते हैं। किन्तु हिसा के कटुफल को भोगे बिना छुटकारा नही है। प्राणवध चड है, रौद्र है, क्षुद्र है, अनार्य है, करुणा रहित है, क्रूर है और महा भयकर है। इसलिये में निष्प्रयोजन या क्रोध, लोभ व अज्ञान से हिसा नहीं करने का निश्चय करूगा बल्कि प्रयोजन पूर्ण हिसा को भी विवशता व दुर्बलता मानूगा तथा उसे छूटते रहने का यत्न करूगा। प्राणवध को मैं सर्वथा हेय समझूगा और अपनी क्रियाओं मे हिसा के प्रति पूरी सावधानी रखूगा। इस प्रकार का चिन्तन प्रत्येक पुरुष के लिए आवश्यक हे।

सत्य भगवान होता है

यह आप्तवचन मेरे हृदय मे जमा हुआ है कि सत्य वास्तव मे भगवान् होता है। यह जो आत्म–साक्षात्कार है, वहीं तो सत्य का साक्षात्कार होता है। इस दृष्टि से सत्य ही साध्य है और उसकी साधिका है अहिसा। अहिसामय आचरण ही मुझे सत्य की ओर ले जायगा। सत्य ही शिव (कल्याण) को प्राप्त कराता है तो सर्व कल्याण ही सुन्दरता का प्रतिरूप होता है। सत्य ही आत्मा को कल्याणकारी स्वरूप प्रदान करके उसे भव्य सौन्दर्य से विभूषित बनाता है।

अत सत्य की उपलब्धि की शोध ही मेरा परम साध्य है और जब मेरे मन, वचन तथा कर्म मे सत्य रम जायेगा तब मेरे जीवन मे सत्य का क्या, ईश्वरत्त्व का ही स्वरूप निखरने लगेगा। सत्य तेजोमय भी होता हे तो अमिट शान्ति का प्रदाता भी। मैं हमेशा सत्य को ही हृदय मे स्थान दू, सत्य ही बोलू ओर अपने प्रत्येक आचरण को सत्यमय ही बनाऊ यह मेरा जीवन मत्र होना चाहिये। सत्य बोलू लेकिन सावद्य नही बोलू अर्थात् सत्य बोलू ओर प्रियकारी सत्य बोलू, अप्रियकारी नही।

मैं जानता हूँ कि सत्य–भाषण से आत्मा की ओजस्विता बढती है क्योकि सत्य ओर निर्भीकता सदा जुडे हुए रहते हैं। सत्य और भय का परस्पर कोई सम्बन्ध नही होता हे। चारो ओर से दु खो से घिरे हुए रहने पर भी एक सत्यवादी कभी झूठ नही बोलता क्योकि वह सत्य के सहयोग से निर्भय होता है। वह अपने उद्देश्य से कभी डिगता नही है। इसलिये मैं अवधारणा लेता हूँ कि मैं अपने लिये भी झूठ नही बोलू, दूसरो से भी झूठ नही बुलवाऊ तथा झूठ का कभी भी अनुमोदन भी नही करू। सत्य को जानते हुए मैं कभी अपनी आत्म–प्रशसा भी नही करू तो पर निन्दा के पाप मे भी नही पडू। में न तो किसी स्वार्थ के बहकावे मे आकर झूठ बोलू और कभी क्रोध के आक्रोश मे भी झूठ बोलू। मैं जानता हू कि एक झूठ के कारण हजारो दोष मुझे घेर लेंगे। सत्य मुझे गभीर बनायेगा, शान्त और प्रशान्त करेगा तो मेरी आस्था को अडिग रखेगा।

मैं यह भी जानता हूँ कि सत्य असह्य होता है, फिर भी सत्य को मैं एक पल के लिये भी अपने से दूर नहीं करूगा। सत्य और शुद्ध सत्य का में पुजारी बनूगा। सत्य को में इस दुर्भावना से तोड मरोड कर प्रस्तुत नहीं करूगा कि वह ऊपर से तो सत्य दिखाई दे परन्तु भीतर से मैं उसकी आड मे अपने स्वार्थो को साधू। सत्य को मैं किसी पर प्रहार का साधन नहीं

बनाऊगा याने कि सत्य होते हुए भी मैं न किसी का मर्म उधाडूगा ओर न मर्मभेदक वचन कहूगा। सत्य को मे मर्यादा-पालन का सबल सहायक बनाऊगा। सत्य को मैं मूर्खता का चिह्न भी नही बनाऊगा-एक एक शब्द को तोलकर-उसके परिणाम को आककर ही बोलूगा। यथायोग्य स्थान पर यथायोग्य रीति से इस प्रकार बोलूगा कि मेरे भाषा के सुसस्कार सबको दिखाई दे ओर उनका सब पर सुप्रभाव पडे। मेरे वचन सत्य होते हुए भी न तो हिसक रूप ले और न मैं अप्रियकारी सत्य बोलू। कपटपूर्वक सत्य बोलने को भीं मे झूठ का ही रूप मानू। सत्य भाषी के साथ मैं मित भाषी भी बनू। जिससे हित साधन होता हो, वही प्रखर सत्य होता है अत ऐसे सत्य का दमन मैं अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी न छोडू। मेरा सत्य पूर्वापर-अविरुद्ध हो तथा मन, वाणी एव कर्म के तीनो योगो से अकुटिल हो। मैं स्पष्ट सत्य का पक्षधर रहूगा। मैं असत्य पक्ष का कभी साथ नही दूगा ओर सत्य का अन्वेषण निरन्तर करता रहूगा। मे सत्य वचन का न तो कभी स्वय अपमान करूगा और न दूसरो से उसका अपमान सहूगा।

मैं जीवन भर सत्यान्वेषी बना रहूगा, क्योकि मैं जानता हूॅ कि सत्यान्वेषण ही विचार समन्वय का प्रतीक होता है। मैं कहता हूॅ वही सत्य है और जो दूसरे कहते हैं वह सर्वथा असत्य है छद्‌मस्थ के ऐसे हठाग्रह से ही मिथ्या का जन्म होता है। जहॉ भी मैं एकान्तवाद ले आया वहा सत्य असत्यमय बन जायेगा। इस ससार मे जितने मस्तिष्क होते हैं, उतने ही भाति-भाति के विचार होते हें और चूकि अधिकाश अपूर्ण लोगो के मन मे जो यह हठाग्रह जम जाता है कि उनका विचार ही सत्य है, उससे बढकर सत्य का अहित दूसरा नही होता है। पूर्ण सत्य के निकट पहुच जाना मैं बहुत दूर की बात मानता हूॅ, अत मैं यह विचार रखता हूॅ कि प्रत्येक व्यक्ति के विचारो मे कुछ न कुछ सत्याश सामान्यतया रहता है अत मुझ जैसे सत्यान्वेषी की यह चेष्टा रहनी चाहिये कि मैं किसी भी अन्य के विचार मे स्थित सत्याश समादर करू और उस सत्याश को उद्‌घाटित करू। असत्य को छोडता रहू ओर सत्य को ग्रहण करता रहू। इस प्रकार सत्याशो का चयन ही एक दिन मुझे पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करा सकेगा।

मे सर्वत्र फेले सत्याशो का चयन कैसे करूगा-इस पर मुझे गहरा विचार करना होगा। सत्य के कई पहलू होते हैं। यदि उन सभी पहलुओ को मैं नहीं समझू तथा एक पहलू पकड कर ही सत्य का हठ करलू तो यह हठ मुझे सत्य से दूर फैंक देगा। उदाहरण के तौर पर सोचू कि एक व्यक्ति पुत्र

भी है, पिता भी है, पति भी है और इस प्रकार भिन्न–भिन्न अपेक्षाओ से भिन्न–भिन्न प्रकार से सम्बन्ध रखता हे। ये सभी पहलू सही हैं। किन्तु यदि मैं हठ करलू कि मैं तो पिता ही हूँ तो क्या यह सच होते हुए भी झूठ नही हो जायेगा ? यह सच है कि वह अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी है। तो अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी है। जहॉ तक विभिन्न अपेक्षाओ को नजर मे रखते हुए वह 'भी' का प्रयोग करता है तो वे सब पहलू सच है लेकिन जहा उसने एक पहलू पद 'ही लगा लिया तो वह एकान्तवाद होकर झूठ हो गया। सात अधो और हाथी की कहानी सभी जानते हैं। जब दृष्टिहीन वे लोग हाथी के एक एक अग को पकड कर उसको 'ही' हाथी बता रहे थे तब वे आशिक रूप से सच कहने के बावजूद झूठे कहलाये। और जब किसी नैत्रधारी ने उनको यह रहस्य बताया कि तुम सभी अगो को मिला लो तो पूरा हाथी बन जायेगा, तब वे सभी सच हो गये।

इस तरह मैं देखता हूँ कि इस ससार मे अधिकाश लोग अपने सत्याश को ही पूर्ण सत्य बताकर विवाद और सघर्ष करते रहते हैं। वे लोग अपने हठ को छोडते नहीं और दूसरे के सत्याश को समझना चाहते नहीं, जिससे विचार सघर्ष चलता रहता है। विचार सघर्ष जितना बढता है, उतना मनभेद और कर्मद्वन्द्व भी बढता जाता है। कहते हैं कि मतभेद हो लेकिन मनभेद नहीं होना चाहिये–उसका आशय मैं यही समझता हू कि मतभेद स्वाभाविक है किन्तु यदि उस मतभेद को अनेकान्त, स्यात् अथवा सापेक्षता की रीति से समझले तो मनभेद की स्थिति तो पैदा ही नही होती है बल्कि मतभेद भी मिट जाते हैं। वहा विचार समन्वय की सदाशयता फैल जाती है। अनेकान्त, स्यात् या सापेक्षता का यही मर्म है कि सत्य को उसके अनेक पहलुओ से परखो, स्यात् अस्ति और स्यात्–नास्ति के तराजू मे तोलो तथा सभी अपेक्षाओ से सत्य के विराट स्वरूप को जानो।

मैं अनुभव करता हूँ कि इस ससार मे मुख्य रूप से दो ही प्रकार के सघर्ष होते हैं। एक तो होता हे स्वार्थो का सघर्ष और दूसरा विचारो का सघर्ष। स्वार्थो का सघर्ष इस कारण फैलता है कि मनुष्य अहिसा का आचरण नही करता। अपने ही उचित–अनुचित सभी स्वार्थ पूरे कर लेना चाहता है किन्तु दूसरो के उचित हित को भी काटता रहता है। ऐसा जीवन के आचरण मे अहिसा के अभाव से होता है क्योकि एक अहिसावादी एक ओर अपने स्वार्थो को उचित आवश्यकता से अधिक फैलाता नहीं तो दूसरी ओर अपने स्वार्थो से भी ऊपर दूसरो के हितो को पहले स्थान देता है। हृदय का ऐसा

उदारवाद ही टकराव समाप्त कर सकता है। उसी प्रकार हृदय का ऐसा उदारवाद विचारो के टकराव को भी समाप्त कर सकता है। और उसका मार्ग है अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या सापेक्षवाद का।

मेरा विचार है कि सभी प्रकार के सघर्षो से विचारो का सघर्ष अधिक जटिल और अधिक घातक होता है। उद्देश्यो मे असमानता कम होती हे लेकिन उन्हे प्राप्त करने के उपायो के बारे मे ही मतभेद अधिक होता हे। यह मतभेद बहुत करके व्यक्तिगत हठ से अधिक् बढता है। विचारो के टकराव का निवारण सत्य के विभिन्न पहलुओ को ध्यान मे लेने तथा सभी विचारो का समादर करने से ही हो सकता हे। सभी के विचारो के सत्याश का समादर होगा तो व्यर्थ का असन्तोष नहीं भडकेगा। प्रत्येक विचार मे रहे सत्याश को खोजा जायगा तो विभिन्न विचारो का विश्लेषण भी सम्यक् रीति से किया जा सकेगा तथा समस्याओ के समाधान भी आसानी से निकाले जा सकेगे। यही विचार समन्वय की सही विधि हो सकती है। समन्वय के लिये सत्य का सुदृढ आश्रय भी आवश्यक है तो हृदय का उदारवाद भी। यही सत्यान्वेषण का मार्ग भी हे।

मैं जानता हूँ कि ससार मे सत्य ही सार भूत है जो महासमुद्र से भी अधिक गभीर होता है। सत्य चन्द्रमडल से भी अधिक सौम्य तो सूर्यमडल से भी अधिक तेजस्वी होता है। मे ऐसा सत्य वचन बोलू जो हित, मित ओर ग्राह्य हो, लेकिन सत्य से सयम की घात होती हो तो वैसा सत्य भी नही बोलू। मैं न क्रोधवश असत्य बोलू, न लोभवश। सत्य वचन के दस प्रकारो का मैं पूरी तरह से ध्यान रखू। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताऊ फिर भी एक जगह एक शब्द किसी अर्थ को बताता है तो दूसरी जगह दूसरे अर्थ को, किन्तु मेरी विवक्षा ठीक रहे तो दोनो जगहो पर प्रयुक्त शब्द सत्य ही रहेगा। इस प्रकार विवक्षाओ के भेद से सत्य के ये दस प्रकार बताये गये हैं (1) जनपद–सत्य–जिस देश या क्षेत्र मे जिस वस्तु का जो नाम हो, वह नाम वहा सत्य हे। दूसरे देश या क्षेत्र मे उस शब्द का दूसरा अर्थ होने पर भी क्षेत्रीय दृष्टि को ध्यान मे रखते हुए वह असत्य नहीं है। (2) सम्मत सत्य–आचार्यो या विद्वानो ने जिस शब्द का जो अर्थ मान लिया हे, उस अर्थ मे वह शब्द सम्मत सत्य हे। जेसे पकज का अर्थ कमल ही होता हे। मेढक नहीं यद्यपि मेढक भी कीचड से उत्पन्न होता हे फिर भी उसको पकज नहीं कहा जाता। (3) स्थापना–सत्य के दो भेद हैं–सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना। सद्भाव स्थापना है सद्भूत पदार्थो को सद्भूत के रूप

मे कहना और लिखना और असद्भाव स्थापना है असत् भूत को असत् भूत कहना और लिखना। (4) नाम सत्य–गुण न होने पर भी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष का वैसा नाम रखकर उस नाम से पुकारना। जैसे अधे को नयनसुख कहना। (5) रूप सत्य–वास्तविकता न होने पर भी रूप विशेष को धारण करने से किसी व्यक्ति या वस्तु को उस नाम से पुकारना। जैसे नाटक के पात्र को राजा कहना। (6) प्रतीत सत्य (अपेक्षा सत्य)–किसी अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी बडी कहना। (7) व्यवहार सत्य–जो बात व्यवहार मे बोली जाती है, जैसे पर्वत पर लकडिया जलती है लेकिन कहा जाता हे कि पर्वत जंल रहा है। (8) भाव सत्य–निश्चय ही अपेक्षा कई बाते होने पर भी किसी एक की अपेक्षा से उसे वही बताना जेसे तोते मे कई रग होते हैं फिर भी उसको केवल हरा बताते हैं। (9) योग सत्य–सत्य किसी चीज के सम्बन्ध मे व्यक्ति विशेष को उस नाम से पुकारना, जैसे लकडी ढोने वाले को लकडहारा कहना। (10) उपमा सत्य–किसी बात के समान होने पर एक वस्तु की दूसरी से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना।

सत्य से विपरीत मृषावाद होता है तथा मृषा वचन भी दस प्रकार से निकलते हैं–(1) क्रोध से निकलने वाला, (2) मान से निकलने वाला, (3) माया से निकलने वाला, (4) लोभ से निकलने वाला, (5) प्रेम से निकलने वाला, (6) द्वेष से निकलने वाला, (7) हास्य (हसी) से निकलने वाला, (8) भय से निकलने वाला, (9) आख्यायिका (कहानी) के बहाने निकलने वाला तथा (10) उपघात– प्राणियों की हिसा से निकलने वाला वचन। इस प्रकार सत्यामृषा याने मिश्र भाषा के भी दस प्रकार होते हैं–(1) उत्पन्नमिश्रिता, (2) विगतामिश्रिता, (3) उत्पन्न–विगत मिश्रिता, (4) जीवमिश्रिता, (5) अजीव मिश्रिता, (6) जीवाजीव मिश्रिता, (7) अनन्त मिश्रिता, (8) प्रत्येक मिश्रिता, (9) अद्रामिश्रिता व (10) अद्रद्रामिश्रिता।

सत्य–निर्णय की दृष्टि से भाषा के चार भेद किये गये हैं– (1) सत्यभाषा–विद्यमान जीवादि तत्त्वो का यथार्थ स्वरूप कहना। (2) असत्य भाषा–जो पदार्थ जिस स्वरूप मे नहीं है, उन्हे उस स्वरूप मे कहना। (3) सत्यामृषा (मिश्र) भाषा–जो भाषा सत्य भी हो ओर मृषा भी। (4) असत्यमृषा (व्यवहार) भाषा–जो भाषा न सत्य हे और न असत्य हे।

असत्य भाषा भी चार प्रकार की बताई गई है–(1) सद्माव प्रतिषेध– विद्यमान वस्तु का निषेध करना, (2) असद्भावोद्भावन–अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व बताना, (3) अर्थान्तर–एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ बताना एव (4)

गर्हा—दोष प्रकट कर किसी को पीडाकारी वचन कहना।

सत्य के विश्लेषण एव अन्वेषण के महत्त्व को आत्मसात् कर मे सदा सत्य की आराधना करूगा, सत्य से सम्पन्न होकर जगत् के सभी प्राणियो के साथ मैत्री भाव रखूगा तथा सत्य पर दृढ रहूगा क्योकि लोक मे जो भी मत्र, योग, जप, विद्या, जृम्मक, अस्त्र, शस्त्र, शिक्षा और आगम हैं, वे सभी सत्य पर स्थित हैं तथा सत्यवादी पुरुष माता की तरह लोगो का विश्वासपात्र होता है, गुरु की तरह पूज्य होता है और स्वजन की तरह सभी को प्रिय लगता है।

अस्तेय की ओजस्विता

अस्तेय शब्द भी अहिसा की तरह निषेध रूप है। चौर्य कर्म करना स्तेय या चौर्य कहलाता है तो इसका प्रतिपक्ष अस्तेय या अचौर्य होता है। इसे अदत्तादान—विरमण भी कहते हैं। इसका सामान्य अर्थ यह होता है कि जो दी नही गई है या बिना आज्ञा ली गई है, वह चोरी कहलाती है। चोरी नही करना अस्तेय है याने कि दूसरे की कोई चीज आज्ञा लेकर ही ग्रहण करनी चाहिये।

अस्तेय व्रत के सदर्भ मे मैं जब आप्त वचनो का स्मरण करता हूँ तो मुझे प्रतीति होती है कि ज्ञानियो ने इस व्रत का लक्ष्य बहुत ही गहरा और व्यापक रखा हे। कहा गया है कि जो असविभागी है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह से वितरण नहीं करता है और असग्रह रुचि है याने कि साथियो के लिये समय पर उचित सामग्री का सग्रह कर रखने मे रुचि नही रखता है तथा अप्रमाण भोजी है अर्थात् मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला है, वह अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना नही कर सकता है। इसके विपरीत जो सविभागशील है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह से वितरण करता है और सग्रह व उपग्रह मे कुशल है याने कि साथियो के लिये यथावसर भोजनादि सामग्री जुटाने मे दक्ष हे, वही अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना कर सकता है।

मैं गभीरतापूर्वक सोचता हूँ कि आप्त—पुरुषो ने अस्तेय व्रत के सदर्भ मे सविभाग को इतना महत्त्व क्यो दिया है ? सविभाग का अर्थ होता है समान रूप से विभाजन। सविभागी है वह अचौर्य व्रत का पालक है, वरना असविभागी को चोर कहा गया है। इस मतव्य को हमे समाज के विस्तृत क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य मे देखना होगा। सोचे कि एक व्यक्ति अर्थोपार्जन करता है जो अपनी कुशलता अथवा सुसाधन सयुक्तता से अच्छा अर्जन कर लेता है या यो कहिये कि दूसरो से अधिक अर्जन कर लेता है। जहाँ तक उसने अधिक अर्थोपार्जन किया है किन्तु साथ ही सविभाग की वृत्ति रखता है व प्रवृत्ति

करता है, तब तक वह उपार्जन चोरी नही है। परन्तु यदि वह उस उपार्जन को अपने पास अपने ही लिये रख लेता है और उसका सविभाग नही करता है तो उसका उपार्जन अनुचित है। इसका सीधा सा तात्पर्य है कि अर्थोपार्जन की विधि मे अन्य प्राणियो के हित की भावना रहती हो और उपार्जित–सचित पदार्थों के यथास्थान सवितरण की आस्था हो वह अचौर्य है तथा उपार्जन की विधि मे परहित का किचित भी ख्याल न रखा जाता हो एव उपार्जित–सचित पदार्थों के यथा स्थान सवितरण की आस्था न हो वह चौर्य कर्म परिधि मे समाविष्ट हो जाता है।

मेरा चिन्तन चलता है कि अर्जन वह अपनी कुशलता या साधन सामग्री (पूजी आदि) से करता है, फिर उस अर्जन को निन्दनीय क्यो माना गया है ? मैं अर्जन को निन्दनीय इसलिये कह रहा हूँ कि यदि वह उसका सविभाग कर देता है तो यह कह कहते हैं कि उसने उसका प्रायश्चित कर लिया और सविभाग नहीं करता तो यह माना गया है कि वह अस्तेय व्रत की आराधना नही करता। सविभाग कैसे करे–उसका भी कुछ स्पष्टीकरण आप्त पुरुषो ने दिया है। अधिक अर्थोपार्जन करने वाले के पास अपने निर्वाह से अधिक सामग्री है तो सविभाग की दृष्टि से उसे अपनी प्राप्त सामग्री का सम्यक् रीति से वितरण कर देना चाहिये। वितरण की सम्यक् रीति क्या होगी ? जिसको जिस सामग्री की आवश्यकता हो, उसे वह सामग्री देने मे सकोच न हो। सामाजिक आवश्यकता–पूर्ति को इस रूप मे व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य कहा गया है। यथायोग्य अवसर पर यथायोग्य लोगो ने यथायोग्य रीति से अपनी प्राप्त सामग्री का यथोचित वितरण कर देना अस्तेय या अचौर्य है। सविभाग की दूसरी बात यह कि वह अपने पास सामग्री का सग्रह भी करे तो अपने लिये नही, जरूरत मद आवश्यक मद अन्य प्राणियो के लिये करे, ताकि आवश्यकता होने पर यथावसर उन्हे वह सामग्री सहायता रूप दी जा सके। सविभाग की तीसरी बात और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि अधिक अर्थोपार्जन भले किया है, लेकिन स्वय अप्रमाण भोजी (भोगी) न हो, भोजन भी वह सयत करे और अन्य सामग्रियो का भोग–उपभोग भी वह मर्यादित बनावे। यदि अधिक अर्थोपार्जन करने वाला सामाजिक आवश्यकता–पूर्ति की ओर ध्यान नहीं देता, सग्रह या सचय का उपयोग अपने साथियो के लिये नही करता अथवा अपने ही सुख भोग के लिये प्राप्त सामग्री बेमाप और बेहिसाब खर्च करता है तो वह असविभागी है और अस्तेय व्रत का आराधक नहीं है। जो अस्तेय व्रत का आराधक नहीं माना जायेगा, वह निश्चय ही उस प्रकार स्तेय या चौर्य कर्म कर रहा है।

मैं अपनी दृष्टि को व्यापक बनाता हूँ ओर सोचता हूँ कि आप्त पुरुषों ने आज के अर्थ युग की जटिलताओ ओर समस्याओ को ज्ञान मे देख लिया था ओर उन्होने इन जटिलताओ के समाधान रूप मे ही सविभाग का मत्र प्रदान किया। जो आज की अर्थोपार्जन प्रणाली से परिचित हें, वे जानते हैं कि आवश्यकता से अधिक अर्थ का उपार्जन करना नैतिकता से सभव नहीं है। अधिकाशतया समाज मे अधिक होशियार लोग कम–समझ लोगो की मेहनत का फल चुराते हें तभी अधिक अर्थोपार्जन सभव होता है। अनेतिक अर्थ सचय का तो आधार ही चोर्य अथवा शोषण होता हे वर्तमान युग मशीनी युग हे ओर इसमे एक साथ हजारो लोग श्रम करते हें। श्रमिक का श्रम ही प्रमुख साधन होता है जबकि (श्रमिको की तरह) श्रम न करने वाला कारखाने का मालिक पूजी, बुद्धि आदि के साधनो से सशक्त होता हे। इस आर्थिक प्रणाली मे आसानी से ऐसी व्यवस्था की जा सकती हे कि प्रत्येक को उसके श्रम का पूरा लाभ न दिया जाय या दूसरे शब्दो मे यह कहे कि उसके श्रम के लाभ का काफी अश मालिक अपने पास रखले। तो नैतिक धर्म इसे चोर्य कहता हे ओर आज का अर्थ जगत् उसे शोषण का नाम देता हे। यह चौर्य अथवा शोषण ही आज कुछ हाथो मे हो रहे धन सचय का मूल हे।

मुझे आश्चर्य होता है कि इस प्रकार का मह सचय तो चौर्यपूर्ण होगा लेकिन चौर्य कर्म समाप्त कहा होता हे ? यदि प्राप्त सामग्री का ठीक से वितरण कर दिया जाय और सविभागी हो जाय, तब तो उस चोर्य कर्म का प्रायश्चित हो जायेगा। लेकिन आज के भौतिक वैभव सम्पन्न क्या ऐसा करते हें ? वे तो चोर्य से प्राप्त सामग्री को अपने ही लिये सचित करते हें व सचित धन का अधिक शोषण के लिये अधिक नियोजन करते हें। फलस्वरूप चौर्य या शोषण का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है तो सचय का परिमाण भी बढता जाता है। सचय वृद्धि ओर सविभाग का अभाव जो निरन्तर चलता रहे तो क्या वह उसे एक मानव से मानवेतर तो नही बना देगा ? चोरी के धन से आदमी देव तो बन ही नहीं सकता, लेकिन क्या वह अपनी मनुष्यता को भी बचा सकता है ? धन–सामग्री मिल जाने के बावजूद मनुष्य की मनुष्यता को बचाने के लक्ष्य से ही वीतराग देवो ने सविभाग की आज्ञा दी हे।

मैं इस अर्थ विन्यास को स्पष्ट करता हूँ तो लगता हे कि दूसरे के द्वारा न दी गई वस्तु को लेना तो चोरी है ही, किन्तु यह चोरी का उससे भी अधिक घृणित रूप होगा कि किसी भी लाभाश इस तरह छीन लिया जाये जिससे छीनने वाला तो बिना श्रम अधिक अर्थोपार्जन करे ओर जिनका

लाभाश छीना जाय तो अपने निर्वाह के आवश्यक साधनो से भी वचित हो जाये। सविभाग वृत्ति का अर्थ–विन्यास सामाजिक सदर्भ मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक प्रभाव वाला है। जब व्यक्ति समाज मे एक साथ रहते हें तो उनके बीच मे अधिकाधिक समता–भरा वातावरण भी होना चाहिये। आर्थिक समता मूल मे दूसरी प्रकार की समताओ का विकास करती है। इसी से अहिसामय आचरण का विस्तार हो सकता है। इसके विपरीत विषमताएँ हिसा और कटुता को जन्म देती हैं। आर्थिक हो या अन्य प्रकार की–विषमत्ता सामाजिकता के पृष्ठ बल के ही तोडती है। इसी विषमता को समाज मे न आने देने के लिये तथा अधिक अर्थोपार्जन करने वाले सदस्यो के मन मे व कर्म मे समता को जागृत बनाये रखने के लिये ही सविभाग का निर्देश दिया गया है। सविभागी को ही अस्तेय व्रत का सम्यक आराधक इसीलिये कहा गया है कि अधिक अर्थोपार्जन करने वाला केवल अपने लिये धन सामग्री का सचय करने से डरे और अपने माथे पर चोरी का कलक न लगने दे। व्रती साधक के लिये चौर्य कर्म त्याज्य माना गया है और इसी त्याग के प्रेरक रूप सविभाग का प्रावधान किया गया है। अत सविभाग का अर्थ–विन्यास सामाजिक समता की दृष्टि से बहुत व्यापक भी हे।

मैं इस परिप्रेक्ष्य मे जब अस्तेय की ओजस्विता पर चिन्तन करता हूँ तो मैं स्तब्ध रह जाता हूँ क्योकि अस्तेय व्रत आर्थिक सविभाग के माध्यम से सामाजिक समता का धरातल तैयार करता है तथा व्यक्ति को समाज के हित मे त्याग करने की प्रेरणा देता है। चौर्य कर्म को उकसाने वाला होता है लोभ और लोभ व्यक्ति को पतित बनाता है तो व्यक्ति की लोभ वृत्ति के दुष्परिणाम रूप समाज भी विषम, कदाग्रही और कलुषित बनता है। यदि अस्तेय व्रत का यथार्थ अर्थ मे पालन किया जाये तो व्यक्ति सन्तुष्ट रहेगा और सन्तोषी व्यक्तियो का समाज सदा ही सुखी होगा। अधिक लोभ से अधिक लाभ कमाने की लालसा ही व्यक्ति को चौर्य कर्मो मे प्रवृत्त बनाती है। छोटे स्तर पर वह देते वक्त माल कम तोलता है या कपडा कम नापता है तो लेते वक्त तराजू के टल्ला मारकर अधिक तोलकर कम का मूल्य देता हे। यह दुष्कर्म जितना फैलता जाता है, व्यक्ति अपने आपको शोषण, काले धधो और तस्करी आदि मे लगाकर अधिक से अधिक मुफ्त का लाभ कमाना चाहता है। व्यक्ति ऐसे उद्यमो पर स्वय भावनापूर्वक अकुश लगाने और अस्तेय व्रत की महत्ता को महसस करे, परन्तु उसके साथ ही उस लोभ पर अकुश लगाने का कोई सामाजिक प्रयास किया जाये तो उसके कारण भी लोभी व्यक्तियो की वृत्ति सविभाग की दिशा मे मोडी जा सकेगी।

यह सब समझ कर मे सोचता हूँ कि मैं सविभागी बनूगा, लोभ को खत्म करूगा तथा अपनी आवश्यकताओ को भी मर्यादित बनाऊगा। चाहे किसी का तिनका ही क्यो न लेना हो मैं उसकी बिना आज्ञा नही लूगा। मे ओरो के धन पर कभी भी अपना अधिकार नही करूगा। प्राप्त वस्तुओ का सम्यक् विभाग करके धन पर अपना राग–भाव मिटाने का प्रयत्न करूगा। ओर अस्तेय व्रत मे कही भी गाठ नही रखूगा। मैं अपनी भावना बनाऊगा कि जब मे परिपूर्ण अस्तेय व्रत को अपनाऊगा तब मैं भिक्षा तक को भी बाट कर खाऊगा और अप्रमाण योगी कभी नही बनूगा। चौर्य कर्म करके मुझे कितना भी मान–सम्मान मिलता हो तब भी मैं उसे ठुकरा दूगा।

मैं जानता हूँ कि मनोज्ञ रूप आदि इन्द्रिय विषयो से जो सन्तुष्ट नहीं रहता हे, वह उनके परिग्रह मे आसक्ति एव लालसा वाला बना रहता है ओर अन्त मे असन्तोष से दु खी एव लोभ से कलुषित वह आत्मा अपनी इष्ट वस्तु पाने के लिये चोरी करता हे। इस कारण मैं चौर्य कर्म को समूल नष्ट करने के उद्देश्य से इन्द्रिय–सयम को धारण करूगा। इन्द्रियों और मन की गतिविधियो पर नियत्रण करके मे अपनी आवश्यकताओ को सीमित व मर्यादित कर सकूगा जिसके कारण लोभ रूप कषाय मेरे अन्तर्मन को कलुषित नही कर पायेगी ओर लोभ को मे रोक लूगा तो अदत्तादान विरमण भी साध लूगा। अस्तेय व्रत की ओजस्विता मे अपने चरित्र को निर्भीक व निर्मल बना लूगा।

प्रभावकतापूर्ण ब्रह्मचर्य

मिथुन या कुशील सेवन को एक अनाचार माना गया है तो ब्रह्मचर्य या इन्द्रिय सयम को एक महानतम तप, क्योकि ब्रह्मचर्य से विवेक जागृत होता है और जीवन की प्रामाविकता सिद्ध होती हे। ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की सम्यक् साधना का मूल ब्रह्मचर्य माना गया है। ब्रह्मचर्य के बिना मुक्ति की समावना ही नही मानी जा सकती है। ब्रह्मचारी एक कछुए की तरह अपनी इन्द्रियो को सिकोड कर काम भोगो से दूर हो जाता हे तथा भय से मुक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य का नाश तो यो मानिये कि सभी आत्मगुणो का नाश ओर ब्रह्मचर्य की साधना तो एक लाठी से सभी भैंसो को हाकने की तरह सभी आत्म गुणो का आधिपत्य है। यह सही है कि ब्रह्मचर्य अति दुष्कर व्रत है किन्तु जो काम की मार को मार देता है, वह आत्म–शत्रुओ को भी मार देता हे।

मे देखता हूँ कि इस ससार मे काम वासना का ताडव बडा भीषण होता है। कहीं पर भी वासना जन्य दु खो को देखकर ब्रह्मव्रत के महात्म्य का

अनुभव किया जा सकता है। गध, शब्द, रूप, रस एव स्पर्श रूपी काम भोग पाच प्रकार के होते हैं और इनके प्रति रही हुई वासना दुर्जेय बन जाती है। पुरुष के लिये स्त्री ससर्ग और स्त्री के लिये पुरुष ससर्ग वासना के बाध को तोड देता है, बल्कि यहा तक कहा गया है कि वैतरणी दु स्तर नही, नर–नारी का परस्पर सग दु स्तर है समस्त विषय भोग अस्थिर होते हैं तथा विषयग्रस्त व्यक्ति अस्वस्थ और सत्रस्त रहता है। वासना तो तालपुट विष रूप मानी गई हैं। ये तीन बाते जिसमे पहली देहविभूषा, दूसरा स्त्री ससर्ग और तीसरा सरसप्रणीत भोजन है। इन तीनों से आत्मगवेषी ब्रह्मचारी बच कर चलता हे। उसके चित्त मे से कामेच्छा निकल जाती है, नैनो मे से राग निकल जाता है और स्त्री के प्रति हृदय मे वैराग्य जाग जाता है। उसे स्त्रियो के रूप की चर्चा करने का अवकाश ही नही मिलता है क्योकि वह अपना सारा समय निर्मल ज्ञानाभ्यास मे लगा देता है। वह पूर्वकृत काम क्रीडाओ को भी याद नही करता, क्योकि वह जानता है कि उस याद से भी उन्माद पैदा हो सकता है। एक ब्रह्मव्रती को कप, स्वेद या मूर्छा की आशका नही रहती तो शक्ति क्षय की ग्लानि भी नहीं। वह तो आत्म–रमणमय बन जाता है क्योकि वह देह तृप्ति से दूर हट कर आत्म–सन्तुष्टि में लीन हो जाता है। जिसके मन पर काम की सूक्ष्म छाप भी नही रह जाती, वह मुक्तात्मा बनने लगता है। वह आत्मानन्द का रसास्वादन करने लग जाता है।

'स्व' स्थ जीवन के लिये ब्रह्मव्रत की आराधना अपरिहार्य है–ऐसा मेरा अनुभव है। जैसे ब्रह्मचर्य को मुक्ति का प्रतीक माना है, वैस ही काम–भोग ससार के प्रतीक माने गये हैं। आत्मा का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है अत ब्रह्मचर्य की साधना की दिशा मे आगे बढते रहना अनिवार्य है। सर्वाशत ब्रह्मचारी नही बन सकते हैं तब तक भी इन्द्रिय सयम मे आचरण का अभ्यास चलता रहना चाहिये। जब जब किसी वर्ग मे ऐसा अभ्यास टूटा है और मुक्त मेथुन का समर्थन किया गया है, तब तब उस वर्ग मे विषय वासना की ऐसी आधियॉ चली हैं, जिनमे क्षत–विक्षत होने से कोई नही बचा होगा। यह ठीक हे कि ससार मे कामेच्छा अपनी जगह पर होती है तथा प्रजनन भी ससार के ससरण का एक प्रमुख साधन है, तब भी विकसित सस्कृतियो ने काम को सदा ही सुसस्कारित तथा नियमित बनाने का प्रयास किया हे। विवाह सस्था की स्थापना ऐसे ही प्रयासो का परिणाम है। छुट्टे साड की तरह आदमी भोग लिप्त बन कर अपनी ही रचनाओ को उजाडने न लग जाये–इस उद्देश्य से विवाह प्रथा प्रारम हुई कि कामेच्छा–पूर्ति की दृष्टि से एक पुरुष ओर एक स्त्री परस्पर प्रतिबधित हो जाय। इसे दुष्चरित्र माना गया कि ऐसे प्रतिवधित

स्त्री–पुरुष अपने प्रतिबध को तोडकर अन्य स्त्री अथवा पुरुष के साथ गमन करे। गुप्त रूप से भी ऐसा करना पाप माना गया। ऐसी सस्कृति के फलस्वरूप काम भोगो के विकराल दुष्परिणामो से भारतीय समाज बचा हुआ रहा है।

वर्तमान विश्व मे काम भोगो की लिप्तता के जघन्य रूप को जब मैं देखता हूँ, तो पश्चिम के देशो का ध्यान आता है जहा काम–पूर्ति के लिये मुक्त वातावरण चुना गया, किन्तु आज उन देशो मे सामाजिक व्यवस्था योन अपराधो के अधेरे मे छिन्न–भिन्न हो गई है तो काम भोगो मे सम्पूर्ण सुख मानने वाले उन देशो के नागरिक आज अपनी ही मानसिकता से अत्यधिक अशान्त एव विक्षुब्ध हैं। अभी भी वे लोग अपनी अशान्ति को घोर नशीले पदार्थो मे डुबो देने की कुचेष्टा ही कर रहे हैं। इसके विपरीत जब वे इन्द्रिय सयम तथा ब्रह्मचर्य को सर्वाधिक महत्त्व देगे, तभी वे अपनी वर्तमान दुरावस्था को सुधार सकेगे।

मेरा अनुभव है कि भारत मे भी जब से ब्रह्मचर्य–साधना का महत्त्व किन्ही वर्गो ने कम करके देखा हे तो वे वर्ग योन अपराधो से सत्रस्त बने हैं तथा उनकी सामाजिकता अति अस्त–व्यस्त हुई है। ऐसे वर्गो की काम लिप्सा एक प्रकार से सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन पर भी बुरा असर डाल रही है। ऐसे विकृत होते वातावरण मे ससार के व्यवहार को सशोधित करने की दृष्टि से विवाह–व्यवस्था को व्यवस्थित करना तथा मूल रूप से ब्रह्मचर्य साधना की दिशा मे गति करना आवश्यक हो गया हे।

में मानता हूँ कि ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व ओर विनय का मूल हे । एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते हैं। किन्तु एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर अन्य सब गुण–शील, तप, विनय आदि व्रत आराधित हो जाते हैं। एक ब्रह्मचर्य की साधना करने से अनेक गुण स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। जो शुद्ध भाव से पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वही सच्चा भिक्षु कहलाता हे। ऐसा हित–मित भोजना करना चाहिये जो जीवन यात्रा एव सयम यात्रा के लिये उपयोगी हो सके और जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न धर्म की भ्रशना। साधक को कमल पत्र के समान निर्लेप और आकाश के समान निरवलम्ब होना चाहिये।

में ब्रह्मचर्य की अवधारणा मूलरूप मे यह मानता हूँ कि में अपने मन, वचन एव काया के समस्त योगो को सासारिक वासनाओ से हटाकर

आत्म–चिन्तन मे लगा दू। न तो वैक्रिय शरीर के देव सम्बन्धी भोगो का मन वचन काया से स्वय सेवन करू, न दूसरे से कराऊ और न उनकी अनुमोदना करू और इसी प्रकार मैं औदारिक शरीर के मनुष्य, तिर्यच सम्बन्धी काम भोगो का भी त्याग करू ताकि मैं अट्ठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन कर सकू। ब्रह्मचर्य के दस समाधि स्थानो का भी मैं ध्यान रखू तथा अपने–आपकी काम वासनाओ से रक्षा करू। दस समाधि स्थान इस प्रकार हैं–(1) जिस स्थान मे स्त्री, पशु और नपुसक रहते हो, वहा ब्रह्मचारी न रहें, (2) वह स्त्री सम्बन्धी कथा न करे तथा जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो उस स्थान पर अन्त मुहुर्त पहले न बैठे, (3) स्त्रियो के साथ एक आसन पर न बैठे, (4) स्त्री के मनोहर व सुन्दर अग–प्रत्यगो को न देखे, (5) पर्दे, दीवाल आदि के अन्दर होने वाले स्त्रियो के विषयोत्पादक शब्द, गीत, हास्य या विलाप को न सुने, (6) पहले भोगे हुए काम भोगो का स्मरण न करे, (7) सरस और कामोत्तोजक आहार न करे, (8) शास्त्रोक्त परिमाण से अधिक आहार न करे, (9) स्नान, मजन आदि करके शरीर को अलकृत न करे तथा (10) सुन्दर शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श मे आसक्त न बने।

ब्रह्मचर्य–शील की आराधना करते हुए मैं स्त्रियो के रूप लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम चेष्टा एव कटाक्ष आदि को अपने मन मे तनिक भी स्थान नही दूगा और रागपूर्वक देखने का प्रयत्न भी नही करूगा। मैं स्त्रियो का चिन्तन एव कीर्तन भी नहीं करूगा। क्योकि मैं जानता हूँ कि ब्रह्मचर्य के शुद्ध आचरण से ही उत्तम श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य पालने वाला ही ऋषि है, वही मुनि है, वही साधु है और वही भिक्षु है। मन, वचन, काया का गोपन करने वाले मुनियो को चाहे वस्त्राभूषणो से अलकृत अप्सराए भी सयम से विचलित नहीं कर सके तब भी उन्हे एकान्तवास का ही आश्रय लेना चाहिये–यही अत्यन्त हितकारी और प्रशस्त हे। टूटे हुए हाथ पैर वाली और कटे हुए कान नाक वाली सौ वर्ष की बुढिया का सग भी ब्रह्मचारी के लिये वर्जनीय है। साधु स्वय स्थिर चित्त हो फिर भी पुरुष व महिला की साक्षी के बिना आर्या के साथ पठन–पाठन आदि आर्या का सम्पर्क भी ठीक नहीं है। जेसे आग के पास रहा हुआ घी पिघल जाता हे, उसी प्रकार साधु ससर्ग से आर्या का चित्त विकृत होकर विचलित हो सकता है।

मैं जान चुका हूँ कि अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है और महादोषो का पुज रूप है। दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी पुरुष को देव, दानव गधर्व, यक्ष, राक्षस, और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं। यह ब्रह्मचर्य

धर्म ध्रुव धर्म हे, नित्य हे, शाश्वत है, और जिनोपदिष्ट हे। इसका आचरण कर पूर्वकाल मे कितने ही जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान मे हो रहे हैं तथा भविष्य मे होगे। जो पुरुष स्त्रियो का त्रिक त्रियोग से सेवन नही करते, उनका सर्वप्रथम मोक्ष होता है। ब्रह्मचर्य सभी तपो मे प्रधान है। यह तो ब्रह्मचर्य की प्रचलित व्याख्या हुई किंतु व्युत्पत्ति की दृष्टि से ब्रह्म+चर्य=अर्थात् ब्रह्म याने आत्मा–परमात्मा वीतराग देव उस वीतराग स्वरूप मे सदा चित्त की चर्या रहे वह ब्रह्मचर्य है। यह लक्षण जिसमे पाया जाये उसे ब्रह्मचारी कहते हैं।

अपरिग्रहवादी साम्यता

मैं देखता हूँ कि सारे ससार मे परिग्रह के लिये जो दौडधूप हो रही है, जो कृत्य–अकृत्य किये जा रहे हैं तथा जो तृष्णा व वितृष्णा की लालसा भडक रही है–वह सब परिग्रहवाद है। जिसके पास परिग्रह नही हो वह भी परिग्रहवादी हो सकता है क्योकि वह परिग्रहवाद की मूर्च्छा (मोह) से पीडित होता हे। मुख्यत यह मूर्च्छा या मोह ही परिग्रह हे। यदि यह नहीं है ओर सयम निर्वाहार्थ पदार्थ हुए भी तो वह परिग्रह नही पदार्थ मूर्च्छारहित बनकर पदार्थ को धारण करने वाला भी अपरिग्रहवादी हो सकता हैं क्योकि मूलत मूर्च्छा को ही परिग्रह माना गया है।

इसलिये में मानता हूँ कि समाज मे परिग्रह की सुव्यवस्था करके परिग्रहवादी मूर्च्छा मनोवृत्ति की समाप्ति की जा सकती हे। वह सुव्यवस्था परिपूर्ण अपरिग्रहवादी साम्यता की होगी, जिसमे व्यक्ति की समानता की इच्छा भी काम करेगी तो ऐसे यथास्थान सामाजिक सुव्यवस्था के उपाय भी कार्यान्वित किये जा सकेगे जिनके कारण पदार्थ रूप सम्पत्ति के प्रति व्यक्तियो का मोह–जाल कट जाय। इनमे से एक सामाजिक उपाय स्वामित्व समाप्ति का हो सकता है। भगवान् ऋषभदेव से पूर्व मे युगलिया (आदिम) काल था। तब सम्पत्ति पर किसी का स्वामित्व नहीं था। वृक्ष सभी के थे, सभी इच्छानुसार फल खाते थे। सरोवर सभी के थे, सभी अपनी तृषा शान्त करते थे। किन्तु जब मनुष्य का निर्वाह स्वाभाविक रूप से प्राकृतिक साधनो द्वारा नहीं होने लगा तो मनुष्य अपने श्रम से उत्पादन की ओर बढा। फिर खेती, व्यापार, उद्योग आदि बढते गये, त्यो–त्यो व्यक्तिगत स्वामित्व की परिपाटी मजबूत बनती गई। व्यक्तिगत स्वामित्व होता हे इसीलिये अधिकाधिक सचय करने की उद्दाम लालसा बनी रहती हे। इस व्यवस्था मे जितना सचय नहीं होता उससे हजार गुनी मूर्च्छा बनी रहती ह। चौबीसों घट मनुष्य इस मूर्च्छा मे मूर्च्छित ही बना रहता हे। व्यक्तिगत के विरुद्ध यदि सामाजिक स्वामित्व

की कोई विधि अपनाई जाती है तो सभव है कि व्यक्ति की इस घनघोर मूर्च्छा मे कमी आवे। जैसे एक छात्रावास मे मेज कुर्सी आदि पर किसी एक छात्र का स्वामित्व नही होता, वे मात्र उनका उपयोग ही कर सकते हें तो उस सम्पत्ति पर किसी भी छात्र की मोह भावना नही होती है। वह उनका निरपेक्ष भाव से उपयोग करता है। ऐसी ही निरपेक्ष भावना पदार्थ–परिग्रह के प्रति यदि सारे समाज मे ढल जाये तो निश्चित मानिये कि वैसा समाज आत्म विकास की महायात्रा मे लम्बे–लम्बे डग भरता हुआ बहुत आगे निकल जायेगा।

मेरा अनुभव है कि वस्तुत यह परिग्रहमोह ही मनुष्य को सासारिकता के बधनो मे मजबूती से बॉधे रखता है। इसीलिये देखा जाता है कि सत्ता या सम्पत्ति के अपने मोह के पीछे मनुष्य अपने आत्मीयजनो तक के प्रति कटु और कुटिल बन जाता है। यही मोह मनुष्य को हिसा और प्रतिहिसा की आग मे जलने–जलाने के लिये छोड देता है। मैंने परिग्रह के लिये मूर्च्छाग्रस्त मनुष्यो की दुर्दशा देखी हे जिसे देखकर मैं स्तब्ध रह गया हूँ। यह मूर्च्छा शराब के नशे से भी ज्यादा गहरी ओर घातक होती है। इसलिये मैं इस मूर्च्छा से दूर रहना चाहूगा जिसका एक मात्र उपाय यह हे कि किसी भी वस्तु के सग्रह करने की इच्छा तक न की जाय। मैं थोडे से लोभ के कारण पहले थोडा सा सग्रह करूगा तो सग्रह से लोभ और लोभ से सग्रह का परिमाण निरन्तर बढता हुआ चला जायेगा, जिस को रोक पाना मेरे लिये कठिन हो जायेगा। यह मैं जानता हूँ कि परिग्रह रहित मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे एकमात्र सयम की रक्षा के लिये हैं और अनासक्त भाव से वे उनका उपयोग करते हैं। इस अनासक्त भाव के कारण, वे परिग्रही नहीं होते क्योंकि उसमे आसक्ति का होना ही वास्तव मे परिग्रह है। यदि मैं भी परिग्रह के प्रति मूर्च्छा–मोह छोड दू, आसक्ति त्याग दू तथा अपने निर्वाह की मूल आवश्यकता रूप पदार्थ ही अपने पास रखू तो मैं पूर्ण परिग्रही या परिग्रहवादी नहीं कहलाऊगा। किन्तु यदि एक साधु अपने वस्त्र–पात्र के साथ भी आसक्ति के बधन मे बध जाय तो वह साधु भी परिग्रही या परिग्रहवादी बन जायेगा। इसलिये ज्ञानी पुरुष सयम के सहायभूत वस्त्र–पात्रादि उपकरणो को केवल सयम की रक्षा के खयाल से ही रखते हैं, मूर्च्छाभाव से नहीं। वस्त्र–पात्रादि पर ही क्या, वे महात्मा पुरुष तो अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते हैं।

मैं भी इस ममत्व को घटाने का अभ्यास करूगा। मैं सचित या अचित थोडी या अधिक वस्तु परिग्रह की बुद्धि से नहीं रखूगा अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा नहीं दूगा क्योंकि यदि ऐसा करूगा तो मेरा कभी दु ख से छुटकारा नहीं हो सकेगा। मैं जानता हूँ कि ज्यो ही मैं परिग्रह–मोह मे गिरा नहीं कि मायादि शल्य, दड, गारव, कषाय, सज्ञा, शब्दादि गुण रूप आश्रव, असवृत्त इन्द्रियाँ तथा लेश्याए सभी मेरे आत्मस्वरूप को घेर लेगे। सारे लोक मे सभी जीवो के लिये परिग्रह जैसा कोई दूसरा पाश या प्रतिबध नही है। यह सत्य है कि जो ममत्व बुंद्धि का त्याग करता है, वह स्वीकृत परिग्रह का भी त्याग करता है। जिसके ममत्व और परिग्रह नही है, वही मुनि ज्ञान, दर्शन एव चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को जानता है। जो साधु वस्त्र–पात्रादि सयम के उपकरणो मे मूर्च्छा एव शुद्धि भाव का त्याग करता है शास्त्र–विहित कुलो से थोडी भिक्षा लेता है, सयम को असार बनाने वाले दोषो से तथा क्रय–विक्रय और सचय से दूर रहता है और सभी द्रव्य भाव सयोग से निर्लिप्त रहता है वही सच्चा भिक्षु है।

मैं मानता हू कि इस रूप में परिग्रह दो प्रकार का हो गया–मूर्च्छा–मोह रूप आभ्यन्तर परिग्रह तथा धन–धान्यादि बाह्य परिग्रह। इस परिग्रह मोह को जानकर भी जो उसका त्याग प्रत्याख्यान नही करता, वह इन ग्यारह उपलब्धियो को प्राप्त करने मे असमर्थ रहता है–(1) केवली–प्ररुपित धर्म सुनना, (2) बोधिप्राप्त करना, (3) गृहस्थावास छोडकर साधु बनना, (4) ब्रह्मचर्य पालन करना, (5) विशुद्ध सयम प्राप्त करना, (6) सवर साधना का सफल होना, (7) निर्मल मतिज्ञान प्राप्ति, (8) श्रुति–प्राप्ति, (9) अवधि ज्ञान की प्राप्ति, (10) मन पर्यय ज्ञान की प्राप्ति तथा (11) केवल ज्ञान की प्राप्ति। किन्तु जो इस परिग्रह मोह को जान कर उसका त्याग करता है, वही ये ग्यारह उपलब्धियाँ प्राप्त करने मे समर्थ बनता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से परिग्रह सज्ञा उसे कहते हैं जो लोभ मोहनीय के उदय से सचित्त आदि द्रव्यों को ग्रहण रूप आत्मा की अभिलाषा या तृष्णा के रूप मे उत्पन्न होती है। यह परिग्रह सज्ञा चार कारणो से उत्पन्न होती है–(1) परिग्रह की वृत्ति होने से, (2) लोभ मोहनीय कर्म के उदय होने से, (3) सचित्त, अचित्त और मिश्र परिग्रह की बात सुनने और देखने से तथा (4) सदा परिग्रह का विचार करते रहने से। ऐसी सज्ञा, मूर्च्छा या आसक्ति ही परिग्रह रूप है। किसी भी वस्तु मे चाहे वह छोटी, बडी, जड, चेतन, बाह्य, आभ्यन्तर या किसी प्रकार की हो–अपनी हो या पराई हो, उसमे आसक्ति

रखना, उसमे बध जाना या पीछे पडकर अपने विवेक को खो बैठना परिग्रह हैं। धन सम्पत्ति आदि वस्तुएँ परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा की कारणभूत होने से परिग्रह कह दी जाती हैं किन्तु वास्तविक परिग्रह उन पर होने वाली मूर्च्छा है। मूर्च्छा न होने पर चक्रवर्ती सम्राट भी अपेक्षा से अपरिग्रही कहा जा सकता है और मूर्च्छा होने पर एक भिखारी भी परिग्रही कहलाता है।

बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का कहा गया है--(1) क्षेत्र--धान्य आदि उत्पन्न करने के खेत भूमि आदि, (2) वास्तु--घर, भूमिगृह, महल आदि, (3) हिरण्य--चादी घडी या बिना घडी हुई, (4) सुवर्ण--सोना घडा या बिना घडा हुआ तथा हीरा, माणक, मोती आदि जवाहरात, (5) धन--गुड शक्कर आदि पदार्थ व मुद्रा, (6) धान्य-- चावल, गेहू, बाजरा, मूग, चना आदि (7) द्विपद--दास, दासी पक्षी आदि (8) चतुष्पद--हाथी, घोडे, गाय, भैंस, वगैरह एव (9) कुप्य--सोने, बेठने, खाने, पीने आदि के काम मे आने वाली ध ातु की बनी या दूसरी वस्तुएँ (घर--बिखरी)।

आभ्यन्तर परिग्रह के भी ग्रथि--रूप चौदह भेद कहे गये हैं-- (1) हास्य--जिसके उदय से जीव को हसी आवे, (2) रति--सासारिक पदार्थों मे रुचि हो, (3) अरति--धर्म कार्यो मे अरुचि हो, (4) भय--सात प्रकार के भयो की उत्पत्ति हो, (5) शोक--शोक, चिन्ता रुदन आदि पैदा हो, (6) जुगुप्सा--घृणा उत्पन्न हो, (7) क्रोध--गुस्सा पैदा हो, (8) मान--अहकार पैदा हो, (9) माया--कपट वृत्ति पैदा हो, (10) लोभ--लालच, तृष्णागृहित उत्पन्न हो, (11) स्त्रीवेद--स्त्री को पुरुष की इच्छा हो, (12) पुरुषवेद--पुरुष को स्त्री की इच्छा हो, (13) नपुसकवेद--नपुसक को स्त्री व पुरुष की इच्छा हो तथा (14) मिथ्यात्व--मोहवश तत्त्वार्थ मे श्रद्धा न हो अथवा विपरीत श्रद्धा हो।

अपने लक्षणो की दृष्टि से मोह रूप इस परिग्रह के तीस नामो का उल्लेख आया हे--(1) परिग्रह (2) सचय (3) चय (4) उपचय (5) निधान (6) सभार (7) सकर (8) आदर (9) पिड (10) द्रव्य सार (11) महेच्छा (12) प्रतिबध (13) लोभात्म (14) महर्षि (15) उपकरण (16) सरक्षणा (17) भार (18) सम्पातोत्पादक (19) कलह भाजन (20) प्रविस्तार (21) अनर्थ (22) सस्तव (23) अगुप्ति (24) आयास--खेद (25) अवियोग (26) अमुक्ति (27) तृष्णा (28) अनर्थक (29) आसक्ति व (30) असन्तोष।

मैं इसे सत्य मानता हूँ कि जो अपरिग्रही (अकिचन) हो जाता है, उसका लोभ नष्ट हो जाता है। जब लोभ नष्ट हो जाता हे तो उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है। जब तृष्णा नष्ट हो जाती है तो उसका मोह नष्ट हो जाता

है। जब मोह नष्ट हो जाता है तो उसका दु ख नष्ट हो जाता है। भौतिक उपलब्धियो की इच्छाए आकाश के समान अनन्त होती हैं ओर इनकी पूर्ति मे ज्यो ज्यो लाभ होता है त्यो–त्यो लोभ बढता है। इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढता ही जाता है। दो माशा सोने से सन्तुष्ट होने वाला करोडो स्वर्ण मुद्राओ से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाया। मैं इन शाश्वत–प्रभावी बातो पर विचार करता हू तो वर्तमान युग से सम्बन्धित एक कठिन समस्या मेरे सामने आ खडी होती है। वह यह कि एक व्यक्ति तो उच्चतम सीमा तक अपरिग्रही तथा अपरिग्रहीवादी बन सकता हैं किन्तु क्या पूरे समाज को भी एक सीमा तक परिग्रही या अपरिग्रहवादी बना सकते हैं ?

मैं इसमे सदेह नहीं करता कि परिग्रह अधिकाशत आभ्यन्तर वृत्तियो से जुडा हुआ रहता हे ओर अल्पाशत बाह्य परिग्रह के साधनो के साथ। एक व्यक्ति प्राप्त तो बाह्य परिग्रह के साधन ही करना चाहता है जिसके प्राप्त होने पर वह अपना ऐश्वर्य, वैभव व वर्चस्व को बढा सके लेकिन उस बाह्य परिग्रह के साधनो को प्राप्त करने के लिये तथा प्राप्त हो जाने पर उन पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिये वह अपनी वृत्तियो को इतनी मोह–मूर्च्छा तथा आसक्तिमय बना लेता है कि जिनके कारण वह भयकर से भयकर दुष्कृत्य तथा अनर्थ कर बैठता है, करता रहता है। इनका उसके व्यक्तिगत जीवन पर ही नही, पूरे सामाजिक जीवन पर भी बुरा असर पडे बिना नहीं रहता है। यह मान ले कि व्यक्तिगत बुराइयो से तो व्यक्ति ही छुटकारा पाने का यत्न करे किन्तु उन बुराइयो का जो सामूहिक असर हो जाता है, उसे कैसे मिटाया जायेगा ? निश्चय है कि उसके लिये यत्न भी सामूहिक ही करना पडेगा। वेसे भी वर्तमान युग मे सामाजिकता अति घनिष्ट भी हो गई है तो अति जटिल भी बन गई हे। इस स्थिति मे सामूहिक या सामाजिक प्रयत्न भी अति आवश्यक हो गये हें कि जिनके माध्यम से ऐसा सुधरा हुआ सामाजिक वातावरण तैयार किया जाये जिसमे व्यक्ति को अपना सुधार करना आसान बन जाये। परिग्रह वृत्ति एव परिग्रह सग्रह के सम्बन्ध मे भी ऐसे सामाजिक प्रयास अच्छे परिणाम दिखा सकते हें जो व्यक्ति की सत्ता या सम्पत्ति की लिप्साओ पर सामूहिक प्रतिबध लगाते हो।

मेरी मूल भावना यह है कि व्यक्तिगत ओर सामाजिक दोनो प्रकार के प्रयासो से परिग्रह मूर्च्छा घटानी चाहिये तथा परिग्रह सग्रह पर भी रोक लगानी चाहिये। समाज की व्यवस्था समता पर आधारित होनी चाहिये। वहॉ की आर्थिक परिस्थितियो मे भी विषमता मिट जानी चाहिये। लाभ और लोभ

के व्यक्तिगत प्रयत्न इस तरह प्रतिबधित किये जाय कि सबको अपनी मूल आवश्यकता की सुलभ उपलब्धि के साथ लाभ–लोभ की दिशा मे बढ़ने की लालसा या गुजाइश ही न रहे। अपरिग्रहवादी साम्यता का यही लक्ष्य माना जा सकता हे कि भौतिक सत्ता ओर सम्पत्ति के स्थान पर चैतन्य एव कर्त्तव्य परायणता का लक्ष्य बने जिससे कि समाज मे पदार्थो का कुछ व्यक्तियो के हाथो मे केन्द्रीकरण न हो और वे सर्व–जन मे विकेन्द्रित बने। यदि कहीं किसी व्यवस्था–दोष से अन्यथा कुछ केन्द्रीकरण भी हो जाता है तो उसे सविभाग द्वारा मिटाया जाये। निर्वाह के साधनं सबको सुलभ हो तथा आसक्तिमूलक सग्रह व सचय को स्थान न रहे। आर्थिक साम्यवाद का ही आदर्श रूप होगी अपरिग्रहवादी साम्यता, जिसके परिणामस्वरूप बाह्य परिग्रह तो समवितरित तथा सन्तुलित होगा ही, परन्तु आभ्यन्तर परिग्रह की कलुषित एव विकृत वृत्तियॉ समाप्तप्राय होती चलेगी।

मैं ऐसे अपरिग्रही आदर्श समाज की कल्पना करता हू जो अपने स्वस्थ वातावरण से सिद्धान्तनिष्ठ सयम वृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहिक बनायेगा। यह अपरिग्रहवाद के मर्मज्ञो पर निर्भर है कि वे वर्तमान अर्थलिप्सु समाज का कायाकल्प कैसे करे तथा कैसे इन विकृतियो को सत्वृत्तियो मे ढाल दे ?

सर्वांशतः सिद्धान्तनिष्ठ जीवन

मैं चिन्तवन करता हू कि मैं इसी जीवन में सर्वाशत सिद्धान्तनिष्ठ जीवन जीऊँ तथा आत्मविकास की महायात्रा को सार्थक बनाऊँ। मूल मे अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के पाचो सिद्धान्त सयमी जीवन के आधारभूत हैं। सबसे पहले मैं मिथ्यात्व के अधकार से बाहर निकलता हूँ तो सम्यक्त्व का प्रकाश मिलता है। इसी प्रकाश से त्याग करने और व्रत लेने की निष्ठा उत्पन्न होती है। तब इन्हीं आधारभूत सिद्धान्तो का अशत पालन शुरू करता हू जो देशविरति होता है। वहॉ से इन्हीं सिद्धान्तों के सर्वाशत पालन का मार्ग आरभ होता है। यह सयमी जीवन दुधारी तलवार पर चलने जैसा कठिन जीवन होता है। इस जीवन मे सिद्धान्त–निष्ठा जितनी प्रबल होती जाती है, आत्म–स्वरूप की अनुभूति भी प्रखर बनती जाती है।

मुझे यह ज्ञात है कि मेरी आत्मा का याने मेरा सर्वोच्च लक्ष्य इस जड ससार से सभी सम्बन्ध समाप्त कर देना है अर्थात् मेरा मार्ग ससार से निवृत्ति का मार्ग है—प्रवृत्ति का नही। जो निवृत्ति व्रत प्रत्याख्यान की धारणा के साथ शुरू होती है, त्याग–तप की कठिन आराधना के साथ ज्यो–ज्यों वह निवृत्ति गहरी होती चली जाती है, त्यो–त्यो सम्पूर्ण सासारिकता के प्रति मेरी अरुचि

भी बढती जाती है। मैं पदार्थ-मोह को त्यागता हू किन्तु उसके बाद अपने शरीर के प्रति भी अपने ममत्व को घटा देता हू। इस शरीर को मात्र धर्माराधना का साधन मान कर चलाता हूँ-इसके सुख के सारे ख्याल मिटा देता हू। इतना ही नही, इच्छापूर्वक इसको सविवेक ऐसे कष्ट भी देता हू कि इसकी कष्ट-सहिष्णुता सुदृढ बन जाये। मैं रत्न त्रय की साधना मे निमग्न हो जाता हूँ क्योकि प्रतिपल मुझे अपने सर्वोच्च लक्ष्य का ध्यान रहता है।

मैं सर्वाशत सिद्धानिष्ठ साधु जीवन या अणगार चारित्र धर्म मे अपनी समस्त आत्म शक्तियो को नियोजित कर देता हूँ। मैं जानता हू कि सर्व विरति रूप यह धर्म मुझे तीन करण तीन योग अर्थात् मन, वचन व काया से न करने, न करवाने तथा न अनुमोदना करने के त्याग की प्रेरणा देता है। मेरी सर्वाशत सिद्धान्त-निष्ठा महाव्रतो का रूप लेती है जो सर्वविरति रूप होते हैं। उपरोक्त सिद्धान्तो के अनुसार ही मेरे महाव्रत पाच होते हैं-

(1) प्राणातिपात विरमण महाव्रत- प्रमादपूर्वक सूक्ष्म और बादर (स्थूल), त्रस और स्थावर रूप समस्त जीवो के पाच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास और आयु रूप दस प्राणो मे से किसी का अतिपात (नाश) करना प्राणातिपात है। सम्यक् ज्ञान एव श्रद्धापूर्वक जीवनपर्यन्त प्राणातिपात से तीन करण तीन योग से निवृत्त होना प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत है। यह महाव्रत सर्वप्राणातिपात से निवृत्ति रूप है। अर्थात् सर्व जीव को अभय दान देने रूप विधायक रूप भी है।

प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत की पाच भावनाए इस रूप मे हैं-(1) साधु ईर्या समिति मे उपयोग रखने वाला हो, क्योकि ईर्या समिति रहित साधु प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिसा करने वाला होता है। यतना पूर्वक गमनागमन करने को ईर्या समिति कहते हैं। (2) साधु सदा उपयोगपूर्वक देखकर चोडे मुख वाले पात्र मे आहार, पानी ग्रहण करे एव प्रकाश वाले स्थान मे देखकर भोजन करे। अनुपयोग पूर्वक बिना देखे आहारादि ग्रहण करने वाले एव भोगने वाले साधु के प्राण, भूत, जीवन ओर सत्त्व की हिसा की सभावना रहती है। (3) अयतना से पात्रादि भडोपकरण लेने और रखने का आगम मे निषेध है। इस लिये साधु आगमानुसार देखकर और पूज कर यतनापूर्वक भडोपकरण लेवे और रखे, अन्यथा प्राणियो की हिसा सभव है। (4) सयम मे सावधान साधु मन को शुभ प्रवृत्तियो मे लगावे। मन को दुष्ट रूप से प्रवर्ताने वाला साधु प्राणियो की हिसा करता है। काया का गोपन होते हुए भी मन की दुष्ट प्रवृत्ति कर्मबध का कारण होती है। (5) सयम मे सावधान

साधु अदुष्ट अर्थात् शुभ वचन मे प्रवृत्ति करे। दुष्ट वचन मे प्रवृत्ति करने वाले के प्राणियो की हिसा सभव है।

(2) मृषावाद विरमण महाव्रत–प्रियकारी, पथ्यकारी एव सत्य वचनो को छोडकर कषाय, भय, हास्य आदि के वश असत्य, अप्रिय, अहितकारी वचन कहना मृषावाद है। सूक्ष्म व बादर के भेद से असत्य वचन दो प्रकार का है। सद्भाव प्रतिषेध, असद्भावोद्भावन, अर्थान्तर और गर्हा के भेद से असत्य वचन चार प्रकार का भी हे। अप्रिय वचन क्या ? चोर को चोर कहना, कोढी को कोढी कहना या काने को काना कहना आदि अप्रिय वचन है। अहित वचन क्या ? शिकारियो के पूछने पर मृग देखने वाले पुरुष का उन्हे विधि रूप मे उत्तर देना अहित वचन है। ये अप्रिय एव अहित वचन व्यवहार मे सत्य होने पर भी पर–पीडाकारी होने से एव प्राणियो की हिसा के पाप–हेतु होने से सावद्य है। अत हिसायुक्त होने से वास्तव मे असत्य ही हें। ऐसे मृषावाद से सर्वथा जीवन पर्यन्त तीन करण योग से निवृत्त होना मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत हे।

मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत की पाच भावनाए इस प्रकार हैं–(1) सत्यवादी साधु को हास्य का त्याग करना चाहिये, क्योकि हास्यवश मृषा–भाषण हो सकता है। (2) साधु को सम्यक् ज्ञानपूर्वक विचार करके बोलना चाहिये, क्योकि बिना विचारे बोलने वाला कभी झूठ भी कह सकता है। (3) क्रोध के कुफल को जानकर साधु को उसे त्यागना चाहिये। एक क्रोधान्ध व्यक्ति का चित्त अशान्त हो जाता है, वह स्व–पर का भान भूल जाता है और जो मन मे आता हे, वही कह देता है। इस कारण उसके झूठ बोलने की बहुत समावना रहती है। (4) साधु को लोम का त्याग करना चाहिये, क्योकि लोभी व्यक्ति धनादि की इच्छा से झूठी साक्षी आदि से झूठ बोल सकता है। (5) साधु को भय का भी परिहार करना चाहिये। भयभीत व्यक्ति प्राणादि को बचाने की इच्छा से सत्य व्रत को दूषित कर असत्य मे प्रवृत्त कर सकता है।

(3) अदत्तादान विरमण महाव्रत–कहीं पर भी ग्राम, नगर, अरण्य आदि मे सचित्त, अचित्त, अल्प, बहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को उसके स्वामी की बिना आज्ञा लेना अदत्तादान है। यह अदत्तादान स्वामी, जीव, तीर्थ एव गुरु के भेद से चार प्रकार का होता है– स्वामी से बिना दी हुई तृण, काष्ठ आदि वस्तु लेना स्वामी अदत्तादान है (ब) कोई सचित्त वस्तु स्वामी ने दे दी हो, परन्तु उस वस्तु के अधिष्ठाता जीव की आज्ञा बिना उसे लेना जीव अदत्तादान

है। जैसे माता–पिता या सरक्षक द्वारा पुत्रादि को शिष्य भिक्षा रूप मे दिये जाने पर भी उन्हे उनकी इच्छा पूर्वक दीक्षा लेने का परिणाम न होने पर भी उनकी सहमति के बिना उन्हे दीक्षा देना जीव अदत्तादान है। इसी प्रकार सचित्त पृथ्वी आदि पदार्थ स्वामी द्वारा दिये जाने पर भी पृथ्वी शरीर के स्वामी जीव की आज्ञा नहीं होने से उसे भोगना जीव अदत्तादान है। इस रूप में सचित वस्तु के भोगने से प्रथम महाव्रत के साथ–साथ तृतीय महाव्रत भी भग होता है। (स) वीतराग देवो व तीर्थंकर देवो द्वारा प्रतिषेध किये हुए आधा कर्मादि आहार ग्रहण करना तीर्थंकर अदत्तादान है। (द) स्वामी द्वारा निर्दोष आहार दिये जाने पर भी गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना उसे भोगना गुरु अदत्तादान है। किसी भी क्षेत्र एव वस्तु विषयक उक्त चारो प्रकार के अदत्तादान से सदा के लिये जीवन पर्यन्त तीन करण तीन योग से निवृत्त होना अदत्तादान विरमण रूप तृतीय महाव्रत है।

अदत्तादान विरमण महाव्रत रूप तृतीय महाव्रत की भी पाच भावनाए इस प्रकार हैं—(1) साधु को स्वय (दूसरों के द्वारा नही) स्वामी अथवा स्वामी से अधिकार प्राप्त पुरुष को अच्छी तरह जानकर शुद्ध अवग्रह (रहने के स्थान) की याचना करनी चाहिये, अन्यथा साधु को अदत्त ग्रहण का दोष लगता है। (2) अवग्रह की आज्ञा लेकर भी वहाँ रहे हुए तृणादि का ग्रहण करने के लिये साधु को आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। शय्यातर का अनुमति वचन सुनकर ही साधु को उन्हे लेना चाहिये अन्यथा वह बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने एव भोगने का दोषी बन जाता है। (3) साधु को उपाश्रय की सीमा खोलकर एव आज्ञा प्राप्त कर उसका सेवन करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि एक बार स्वामी के उपाश्रय की आज्ञा दे देने पर भी बार–बार उपाश्रय का परिमाण खोल कर आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। ग्लानादि अवस्था मे लघुनीत, बडीनीत परिठवने, अवग्रह (उपाश्रय) की आज्ञा होने पर भी, याचना करनी चाहिये ताकि दाता का दिल दुखित न हो, (4) गुरु अथवा रत्नाधिक की आज्ञा प्राप्त करके आहार करना चाहिये। आशय यह है कि सूत्रोक्त विधि से प्रासुक ऐषणीय प्राप्त आहार को उपाश्रय मे लाकर गुरु के आगे आलोचना कर और आहार दिखलाकर फिर साधु मडली मे या अकेले उसे खाना चाहिये। धर्म के साधन रूप अन्य उपकरणों का ग्रहण एव उपयोग भी गुरु की आज्ञा से ही करना चाहिये। (5) उपाश्रय मे रहे हुए समान आचार वाले सभोगी साधुओ से नियत क्षेत्र और काल के लिये उपाश्रय की आज्ञा प्राप्त करके ही वहा रहना एव भोजनादि करना चाहिये अन्यथा चोरी का दोष लगता है।

(4) मैथुन विरमण महाव्रत—देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी दिव्य एव औदारिक काम—सेवन का तीन करण तीन योग से जीवन पर्यन्त का त्याग करना मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत है।

मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत की पाच भावनाए इस प्रकार हैं— (1) ब्रह्मचारी साधु को आहार के विषय मे सयत होना चाहिये। अति स्निग्ध, सरस आहार न करना चाहिये और न परिमाण से अधिक दूस—दूस कर ही आहार करना चाहिये। अन्यथा ब्रह्मचर्य की विराधना हो सकती है। मात्रा से अधिक आहार तो ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त शरीर के लिये भी पीडाकारी होता है। (2) ब्रह्मचारी को शरीर की विभूषा अर्थात् शोभा—सुश्रूषा नही करनी चाहिये। स्नान, विलेपन, केश सम्मार्जन आदि शरीर की सजावट मे दत्त—चित्त साधु सदा चचल—चित्त रहता है और उसे विकारोत्पत्ति होती है, जिससे चौथे महाव्रत की विराधना भी हो सकती है (3) स्त्री एव उसके मनोहर मुख, नेत्र आदि अगो को काम वासना की दृष्टि से नही निरखना चाहिये। वासना भरी दृष्टि के साथ उन्हे देखने से ब्रह्मचर्य का खडित होना सभव है। (4) स्त्रियो के साथ परिचय न रखे। स्त्री, पशु, नपुसक से सम्बन्धित उपाश्रय, शयन, आसन आदि का सेवन न करे, अन्यथा ब्रह्मचर्य का महाव्रत भग हो सकता है। (5) तत्त्वज्ञ मुनि स्त्री—विषयक काम कथा न करे। स्त्री—कथा मे आसक्त साधु का चित्त वित्तत हो जाता है। स्त्री—कथा को ब्रह्मचर्य के लिये घातक समझकर इससे ब्रह्मचारी को सदा दूर रहना चाहिये। पूर्व—क्रीडित अथवा गृहस्थावस्था मे भोगे हुए काम—भोग आदि का स्मरण भी नही करना चाहिये क्योकि पूर्व रति एव क्रीडा का स्मरण करने से कामाग्नि दीप्त होती है जो ब्रह्मचर्य के लिये घातक है।

(5) परिग्रह विरमण महाव्रत—अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित्त, अचित्त आदि समस्त द्रव्य विषयक परिग्रह का तीन करण तीन योग से त्याग करना परिग्रह विरमण रूप पचम महाव्रत है। मूर्च्छा—ममत्व होना भाव परिग्रह है और वह त्याज्य है। मूर्च्छा भाव का कारण होने से बाह्य सकल वस्तुएँ द्रव्य परिग्रह है और वे भी त्याज्य हैं। भाव परिग्रह मुख्य है और द्रव्य परिग्रह गौण। इसलिये यह कहा गया है कि यदि धर्मोपकरण एव शरीर पर साधु के मूर्च्छा ममता भाव जनित राग—भाव न हो तो वह उन्हे धारण करता हुआ भी अपरिग्रही ही है।

परिग्रह विरमण रूप पचम महाव्रत की पाचो भावनाएँ पाचो इन्द्रियो से सबधित हैं। पाचो इन्द्रियो के विषय—शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श के

इन्द्रिय गोचर होने पर मनोज्ञ विषयो पर साधु मूर्च्छा—गृहि भाव न लावे और अमनोज्ञ पर द्वेष न करे। यो तो विषयो के गोचर होने पर इन्द्रिया उसमे लगती ही हे, परन्तु साधु को मनोज्ञ एव अमनोज्ञ विषयो पर राग द्वेष नहीं करना चाहिये। पचम महाव्रत मे मूर्च्छा रूप भाव परिग्रह का त्याग किया जाता है, इसलिये मूर्च्छा—ममत्व करने से यह महाव्रत खडित हो जाता हे।

साधु प्राणातिपात से निवृत्त होने के लिये यतनापूर्वक जो सम्यक् प्रवृत्ति करता है, वह समिति कहलाती है। प्रशस्त एकाग्र परिणाम पूर्वक की जाने वाली समिति के पाच भेद बताये गये हें (1) ईर्या समिति—ज्ञान, दर्शन ओर चारित्र के निमित्त युग परिणाम भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि मे यतनापूर्वक गमनागमन करना, (2) भाषा समिति— यतनापूर्वक भाषण मे प्रवृति करना अर्थात् आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए सत्य, हित, मित और असदिग्ध वचन कहना, (3) ऐषणा समिति—गवैषणा, ग्रहण और ग्रास, सम्बन्धी ऐषणा के दोषो से अदूषित अतएव विशुद्ध आहार, पानी, रजोहरण, मुखवाधिका आदि औधिक उपधि ओर शय्या, पाट पाटलादि औपग्रहिक उपधि का ग्रहण करना। (4) आदान, मड मात्र निक्षेपणा समिति—आसन, सस्तारक, पाट, पाटला, वस्त्र, पात्र, दडादि उपकरणो को उपयोगपूर्वक देखकर एव रजोहरणादि से पूजकर लेना एव उपयोगपूर्वक देखी और पूजी हुई भूमि पर रखना, तथा (5) उच्चार प्रस्रवण खेलसिघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति— स्थडिल के दोषो का वर्जन करते हुए परिठवने योग्य लघुनीत, बडीनीत, थूक, कफल, नासिका मल, और मैल आदि को निर्जीव स्थडिल मे उपयोगपूर्वक वोसिराना।

मोक्ष के लिये किये जाने वाले ज्ञानादि आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष आचार कहलाते हैं, जो पाच हैं (1) ज्ञानाचार—सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारण भूत श्रुतज्ञान की आराधना करना, (2) दर्शनाचार—दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व की नि शकितादि रूप से शुद्ध आराधना करना, (3) चारित्राचार—ज्ञान एव श्रद्धापूर्वक सर्व सावध योगो का त्याग करना चारित्र है और उसका सेवन करना चारित्राचार, (4) तपाचार—इच्छा निरोध रूप अनशनादि तप का सेवन करना एव (5) वीर्याचार—अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए धर्म कार्यो मे यथा शक्ति मन, वचन, काया द्वारा प्रवृत्ति करना।

चारित्र दोष के कारण पाच प्रकार के साधुओ को अवन्दनीय माना गया है (1) पासत्थ जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और प्रवचन मे सम्यक् उपयोग वाला नहीं है, (2) अवसन्न—जो समाचारी के विषय में प्रमाद करता

हे, (3) कुशील– जिसका कुत्सित याने निद्य शील आचार हो, (4) ससक्त–जिसमे मूल व उत्तर गुणो के दोष पाये जाते हो और (5) यथाच्छन्द– जो सूत्र विपरीत प्ररूपणा करने तथा आचरण रखने वाला हो।

इस प्रकार सर्वांशत सिद्धान्तनिष्ठ जीवन स्वीकार करने वाले साधु मुनियो के लिये उपरोक्त आधारभूत पाच सिद्धान्त पाच महाव्रतो के रूप मे मूल गुण कहलाते हैं। इन मूल गुणो की सुरक्षा के लिये आचार सम्बन्धी जो कई प्रकार के नियम, वाड वगैरह बताये गये हैं, वे साधु के उत्तर गुण कहलाते हैं।

आजकल कई लोगो द्वारा जो यह दलील दी जाती है कि जमाने को देखते हुए साधुओ को अपने आचार नियमो में आवश्यक सशोधन करने चाहिये। उस दलील के जवाब मे मोटी बात ध्यान मे रखने योग्य यह है कि साधु के मूल गुण तो आधारभूत हैं जिनमे कोई परिवर्तन कतई नही किया जा सकता है, क्योकि आधार को ही हटा लोगे या मूल मे ही भूल करते जाओगे तो साध्वाचार का स्वरूप ही विकृत हो जायेगा। उत्तर गुणो मे सयम को आघात नही पहुचाने वाला ऐसा कोई सशोधन हो तो उस पर साधु समाज विचार करके योग्य निर्णय ले सकता है।

साध्वाचार की भव्य गरिमा को भली भाति समझकर मैं जब सच्चे साधु या श्रमण की महिमा को हृदयगम करता हू तो मेरा मन आत्मानन्द से ओतप्रोत हो जाता है कि मैं भी उस महिमा को आत्मसात् करने मे आदर्शसिद्ध होऊ। मैं समझता हू कि एक भिक्षु के वास्तविक चिह–क्षमा, विनम्रता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओ की परिशुद्धि मेरे आत्मस्वरूप को भी प्रकाशमान बनावे। मेरा इन्द्रिय निग्रह भी इस रूप मे प्रशस्त बने कि शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श मे मेरा चित्त कतई अनुरक्त न हो और न ही मैं उनसे द्वेष करू। मैं अपनी कुमार्गगामिनी इन्द्रियो के दुष्ट घोडो को कुशल सारथी की तरह नियत्रण में रखूगा और सयम पथ पर आगे बढाता रहूगा।

मैं जानता हू कि सिर मुडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओकार का जप करने से कोई ब्राह्मण नही होता, जगल में रहने से कोई मुनि नही होता और वल्कल धारण करने से कोई तापस नहीं होता, इसलिये मैं समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस बनूगा। श्रमण स्वरूप मे मेरा कोई स्वजन नही तो कोई परजन नही होता। सर्वत्र समतामय रूप मुझे दिखाई देता है। मैं हवा के समान निरालब और आकाश के समान

निरूपलेप होऊगा, मेरा श्रमणत्व इसी मे सार्थक होता हे कि सारी दुनिया के साथ अपनी देह पर से भी अपना ममत्व हटा लू। मैं सदा ऋजुता तथा मृदुता से सयुक्त रहना चाहता हू। जीव मात्र पर मेरी समदृष्टि रहती है और सुख दु ख, लाभ अलाभ, निन्दा स्तुति, मान–अपमान या जीवन–मरण मे भी मेरी समता वृत्ति घटे नहीं यह मेरा सत्प्रयास रहता है। आधार मिल जाए तो में हर्ष नही मनाऊ और निराहार रह जाना पडे तब भी विषाद नहीं, मैं तो सर्वदा आत्मस्थिति मे ही लीन रहना चाहता हू। लब्धिया भी मुझे मिल जाये तब भी किसी प्रकार का अभिमान मैं नहीं करू, क्योकिं क्षुद्र अहभाव का मेरे जीवन मे कोई स्थान नहीं होता। अहर्निश धर्मध्यान मे मैं निमग्न रहना चाहता हू और कठिन तप की आराधना करते हुए कर्मो से सम्पूर्ण मुक्ति की मैं कामना करता रहता हू। इस कारण मेरी समग्र क्रियाए सयमनिष्ठ रहती हैं। मेरे सयम को डिगाने वाली कितनी ही कठिनाइयॉ क्यो नही आवे, मैं उनमे अविचलित रहना चाहता हूँ। जिस प्रकार धरती सारे कष्टो को सहते हुए भी महती सहनशील बनी रहती है, उसी प्रकार मैं भी परिषहो को सविवेक सहते हुए अपनी आत्म साधना को कष्ट–सहिष्णु बना लेता हू। राग और द्वेष को लेश मात्र भी नही आने देकर मैं सासारिकता के इन बीजो को समाप्त कर देना चाहता हू। मेरी अभिलाषा है कि मैं समतामय बन जाऊ–मेरे भाव, मेरी दृष्टि तथा मेरा सम्पूर्ण आचरण समता से ओत–प्रोत बन जाये।

मैं वीतराग देवो की आज्ञा की आराधना करते हुए जिस श्रद्धा से मैंने सयम अगीकार किया, उससे भी अधिक श्रद्धा से मैं सयम का सम्यक् पालन करता ही चला जाऊ–अपने सकल कर्मो का क्षय करता हुआ, रत्न त्रय की आराधना करता हुआ और जीवन को स्व–पर हित मे नियोजित करता हुआ आत्म विकास की महायात्रा मे अग्रगामी बन जाऊ।

सिद्धान्तों का आंशिक पालन

मैं भावना भाऊ कि जब तक उपरोक्त सिद्धान्तो का सर्वांशत पालन करने मे में समर्थ न बन जाऊ तब तक सिद्धान्तो का आशिक पालन ही पूरी निष्ठा से करू क्योकि मैं जानता हू कि देशविरति सयम ही सर्वविरती सयम मे प्रतिफलित होता हे–साधुत्व की आधारशिला श्रावकत्व की आराधना ही होती है। महासत्वसम्पन्न तीर्थकरो के लिये साधुत्व को पाने के लिये श्रावक बनने की आवश्यकता नहीं रहती।

अहिसा, सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह के सिद्धान्तो पर आधारित मेरे श्रावकत्व के अणु (छोटे) व्रत होते हैं, महाव्रत की अपेक्षा छोटे

एकदेशीय त्याग रूप। मेरे अणुव्रत पाच, गुणव्रत तीन, शिक्षाव्रत चार कुल बारह व्रत होते हैं। पाच अणुव्रत निम्नानुसार हैं—

(1) अहिसा अणुव्रत (स्थूल प्राणातिपात का त्याग) स्वशरीर मे पीडाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी के सिवाय शेष द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवो की सकल्पपूर्वक हिसा दो करण तीन योग याने मन, वचन, काया से न करना और न करवाना। इस अणुव्रत के पाच अतिचार हैं। वर्जित कार्य को करने का विचार करना अतिक्रम कहलाता है, व्रतभग रूप कार्य पूर्ति के लिये साधन जुटाना व्यतिक्रम है तो व्रतभग की पूरी तैयारी कर लेना अतिचार होता है। यह अतिचार भी तब तक है जब तक कि व्रतभग नही किया है। अत अतिचार उसको कहते हैं जहॉ व्रत की अपेक्षा रखते हुए कुछ अश मे व्रत का भग किया जाय। व्रत की अपेक्षा न रखते हुए सकल्पपूर्वक व्रत भग करना अनाचार होता है। अनाचार की आज्ञा नहीं है और अतिचार का प्रायश्चित्त किया जाता है। अहिसा अणुव्रत के अतिचार पाच इस प्रकार कहे गये हैं (अ) बध—द्विपद, चतुष्पद आदि को रस्सी आदि से अन्यायपूर्वक बाधना बध है जो द्विपद—चतुष्पद के भेद से दो प्रकार का तो प्रत्येक अर्थ बध व अनर्थ बध के भेद से दो—दो प्रकार का होता है। अर्थ बध भी दो प्रकार का है, सापेक्ष बध तथा निरपेक्ष बध। लापरवाही के साथ निर्दयतापूर्वक क्रोधवश गाढा बधन बाध देना निरपेक्ष अर्थ बध होता है। सापेक्ष अर्थ बध श्रावक के लिये अतिचार नहीं है किन्तु अनर्थ बध तथा निरपेक्ष अर्थ बध उसके लिये अतिचार होते हैं अत त्याज्य होते हैं। (ब) वध—कोडे आदि से मारना वध है। इसके भी अर्थ—अनर्थ, सापेक्ष—निरपेक्ष भेद होते हैं। अनर्थ एव निरपेक्ष भेद अतिचार मे शामिल हैं। शिक्षा के हेतु दास, दासी, पुत्र आदि को या नुकसान करते हुए चतुष्पद को आवश्यकता होने पर दयापूर्वक उनके मर्मस्थानो को चोट न लगाते हुए मारना सापेक्ष अर्थ बध होता हे जो श्रावक के लिये अतिचार नहीं है। (स) छविच्छेद—शस्त्रो से अगोपागो का छेदन करना छविच्छेद है। निष्प्रयोजन अथवा प्रयोजन होने पर भी निर्दयतापूर्वक हाथ पेर, कान, नाक आदि का छेदन करना अतिचार रूप है। किन्तु प्रयोजन होने पर दयापूर्वक सामने वाले की भलाई के लिये चीर फाड (डॉक्टरी) आदि सापेक्ष छविच्छेद है जो अतिचार नहीं होता। (द) अतिभार—द्विपद, चतुष्पद पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना आतिभार हे। श्रावक को मनुष्य अथवा पशु पर क्रोध अथवा लोभवश निर्दयता के साथ अधिक भार नहीं धरना चाहिये। और न ऐसी वृत्ति (रोजगार) करनी चाहिये। सामान्यतया उठा सके उतना ही भार लादना चाहिये। श्रावक को चतुष्पदी सवारी पर चढने का भी

विवेक रखना चाहिये। (य) भक्तपान विच्छेद—निष्कारण निर्दयता के साथ किसी के आहार पानी का विच्छेद करना भक्त पान विच्छेद अतिचार है। श्रावक को इसका परिहार करना चाहिये। रोगादि निमित्त से, वेद्यादि के कहने पर या शिक्षा के हेतु खाना पीना न दिया जाये— वह अतिचार मे शामिल नही है। बिना कारण किसी का रोजगार उजाडना या नियत समय पर वेतन आदि न देना इसी अतिचार मे शामिल है।

(2) सत्याणुव्रत (स्थूल मृषावाद का त्याग) दुष्ट अध्यवसायपूर्वक तथा स्थूल वस्तु विषयक बोला जाने वाला असत्य—झूठ स्थूल मृषावाद होता है। अविश्वास आदि के कारण स्वरूप इस स्थूल मृषावाद का श्रावक दो करण तीन योग से त्याग करता है। स्थूल मृषावाद पाच प्रकार का होता हे—(अ) कन्या—वर सम्बन्धी झूठ, (ब) गाय, भैंस आदि पशु सम्बन्धी झूठ, (स) भूमि सम्बन्धी झूठ, (द) किसी की धरोहर दबाना या उसके सम्बन्ध में झूठ बोलना तथा (य) झूठी गवाही देना।

सत्याणुव्रत के भी पाच अतिचार होते हैं—(अ) सहसाभ्याख्यान— बिना विचारे किसी पर मिथ्या आरोप लगाना। अनुपयोग अथवा असावधानी से बिना विचारे आरोप लगाना अतिचार है। जानते हुए इरादे के साथ तीव्र सक्लेश से मिथ्या आरोप लगाना अनाचार होता है तथा उससे व्रत भग हो जाता है। (ब) रहस्याख्यान—एकान्त मे सलाह करते हुए व्यक्तियो पर आरोप लगाना। एकान्त विशेषण होने से यह अतिचार पहले अतिचार से भिन्न हे। इस अतिचार मे समावित अर्थ कहा जाता है। (स) स्व—दार मत्र भेद— स्व—स्त्री के साथ एकान्त मे हुई विश्वस्त मत्रणा को दूसरे से कहना अथवा विश्वास करने वाली स्त्री, मित्र आदि की गुप्त मत्रणा को प्रकाश मे लाना। सत्य होते हुए भी यह बात लज्जा ओर सकोच पर प्रहार करती हे अत अतिचार हे। इससे घात या आत्म—घात की आशका रहती है। यह अनर्थ परम्परा भी है सो त्याज्य है। श्रावक इसका ध्यान रखे। (द) मृषोपदेश—बिना विचारे अनुपयोग से या किसी बहाने से दूसरो को असत्य उपदेश देना। पीडाकारी वचन कहना या दूसरो को असत्य वचन बोलने को प्रेरित करना भी इसी अतिचार मे शामिल है। कोई अपना सदेह निवारण करने आवे, उसे उत्तर मे अयथार्थ स्वरूप कहना या सम्बन्ध जोडने आदि का उपदेश देना मृषोपदेश ही है। (य) कूट लेखकरण—झूठा लेख या लिखत लिखना, जाली दस्तावेज मोहर या हस्ताक्षर बनाना और प्रमाद तथा अविवेक से ऐसा करना अतिचार है। व्रत की अपेक्षा हो पर विवेक का अभाव रहे तो अतिचार होता

है, वरना जानबूझ कर कूट लेख लिखना अनाचार है।

(3) अचोर्याणुव्रत (स्थूल अदत्तादान का त्याग)—क्षेत्रादि मे सावधानी से रखी हुई या असावधानी से पडी हुई या भूली हुई किसी सचित्त, अचित्त स्थूल वस्तु को, जिसे लेने से चोरी का अपराध लग सकता हो अथवा दुष्ट अध्यवसायपूर्वक साधारण वस्तु को स्वामी की आज्ञा बिना लेना स्थूल अदत्तादान है। खात खनना, गाठ खोलकर चीज निकालना, जेब काटना, दूसरे के ताले को बिना आज्ञा चाबी लगाकर खोलना, मार्ग मे चलते हुए को लूटना, स्वामी का पता होते हुए भी किसी पडी वस्तु को ले लेना आदि स्थूल अदत्तादान मे शामिल हैं। श्रावक ऐसे स्थूल अदत्तादान का दो करण तीन योग से त्याग करता है।

स्थूल अदत्तादान विरमण रूप तीसरे.अणुव्रत के पाच अतिचार हैं—(अ) स्तेनाहृत चोर की चुराई हुई वस्तु को खरीदना या यो ही छिपा कर ले लेना। (ब) स्तेन प्रयोग—चोरो को चोरी की प्रेरणा देना, चोरी के उपकरण देना या बेचना अथवा चोर की सहायता करके उसको चोरी के लिये उकसाना। (स) विरुद्ध राज्यातिक्रम—शत्रु राज्यो के राज्य मे जाना आना। (द) कूट तुला कूट मान—झूठा याने हीनाधिक तोल या माप रखना। परिमाण से बडे तोल व माप से वस्तु लेना और छोटे तोल—माप से वस्तु बेचना। (य) तत्प्रतिरूपक व्यवहार बहुमूल्य बढिया वस्तु में समान दीखने वाली घटिया वस्तु की मिलावट करना तथा नकली वस्तु को असली बताकर बेचना।

(4) स्व—दार सन्तोष—स्व—स्त्री अर्थात् अपने साथ ब्याही हुई स्त्री मे सन्तोष करना। अपनी विवाहित पत्नी के सिवाय शेष ओदारिक शरीरधारी मनुष्य—तिर्यच के शरीर को धारण करने वालो के साथ एक करण एक योग से (काया से सेवन नहीं करूगा इस प्रकार) तथा वैक्रिय शरीरधारी तथा देव देवी के साथ दो करण तीन योग से मैथुन सेवन का त्याग करना स्वदार सन्तोष नामक चौथा अणुव्रत है।

इस अणुव्रत के पाच अतिचार इस प्रकार हैं— (अ) इत्वरिका परिगृहीतागमन— भाडा देकर कुछ काल के लिये अपने अधीन की हुई स्त्री से गमन करना। (ब) अपरिगृहीता गमन—विवाहित पत्नी के सिवाय वेश्या, अनाथ, कन्या, विधवा, कुलवधू आदि से गमन करना। इन दोनो प्रकार से गमन करने का सकल्प एव तत्सम्बन्धी उपाय, आलाप, सलाप, आदि अतिक्रम, व्यतिक्रम की अपेक्षा ये दोनो अतिचार हैं और ऐसा करने पर व्रत एक देश से खडित होता है। सुई डोरे के न्याय से इनका सेवन करने मे

सर्वथा व्रत भग हो जाता है। (स) अनगक्रीडा– काम सेवन के जो प्राकृतिक अग हैं, उनके सिवाय अन्य अगो से क्रीडा करना। वर्ज्य स्त्रियो (स्वस्त्री सिवाय) के साथ मैथुन क्रिया को छोड अनुराग से आलिगन आदि करना भी अतिचार है। (द) पर विवाहकरण–अपना और अपनी सन्तान के सिवाय अन्य का विवाह करना अतिचार है। (य) काम भोग तीव्राभिलाष–पाच इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श मे आसक्ति होना। श्रावक को पुरुषवेद जनित बांधा की शान्ति के उपरान्त स्व–स्त्री के साथ भी मैथुन सेवन नहीं करना चाहिये। कामशास्त्र अथवा बाजीकरण औषधियो से निरन्तर रति क्रीडा का सुख चाहने से भी यह व्रत मलिन होता है। खुद खाज पैदा कर उसे खुजलाने मे सुख का अनुभव करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

(5) इच्छा (परिग्रह) परिमाण–खेत, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद एव कुप्य (धातु व घरबिखरी) रूप नव प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करना तथा मर्यादा के उपरान्त परिग्रह का एक करण तीन योग से त्याग करना इच्छा परिमाण व्रत है। तृष्णा व मूर्च्छा को कम करके सन्तोष मे रत रहना ही इस व्रत का प्रमुख उद्देश्य है।

परिग्रह–परिमाण व्रत के पाच अतिचार हैं–(अ) क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम– खेती की जमीन दो प्रकार की सेतु (सिचित) व केतु (वर्षा–सिचित) होती है तथा वास्तु घर मकान को कहते हैं, इन सबकी जो मर्यादा ली है, उसका अतिक्रमण अतिचार है। (ब) हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम–घडे, बिना घडे सोने चादी तथा जवाहरात की मर्यादा का अतिक्रमण करना। (स) धन–धान्यातिक्रमण– गणिम, धरिम, गेय, परिच्छेद्य रूप चार प्रकार के धन तथा चौबीस प्रकार के धान्य की स्वीकृत मर्यादा का उल्लघन करना। (द) द्विपद–चतुष्पद प्रमाणातिक्रम– द्विपद सन्तान, स्त्री, दास–दासी, पक्षी तथा चतुष्पद गाय घोडा आदि के परिमाण का उल्लंघन करना। (य) कुप्य प्रमाणातिक्रम–सोने चादी के सिवाय अन्य धातु तथा घर बिखरी की स्वीकृत मर्यादा का अतिक्रमण करना।

श्रावक के पाच अणुव्रत के बाद तीन गुण व्रतों का क्रम आता है जो इस प्रकार है–

(6) दिशा परिमाण व्रत– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अधो (नीची) व ऊर्ध्व (ऊची) इन छ दिशाओं के क्षेत्रों की मर्यादा निर्धारित करना तथा मर्यादा के उपरान्त आगे के क्षेत्रों में जाने आने की क्रियाओं का त्याग करना। इस व्रत का यह व्यवहार अंश है तो चार गति को कर्म की परिणति समझ कर

उनमे उदासीन भाव रखना तथा सिद्धावस्था को उपादेय मानना निश्चय दिशा परिमाण व्रत है। पाच अतिचार–(अ) ऊर्ध्व दिशा परिमाणातिक्रम– ऊर्ध्व दिशा की मर्यादा का उल्लघन। (ब) अधोदिशापरिमाणातिक्रम–नीची दिशा की मर्यादा का उल्लंघन। (स) तिर्यग् दिशा परिमाणातिक्रम–तिरछी दिशाओं की मर्यादा का उल्लघन। इन उल्लघनो मे अनुपयोग या असावधानी रहे तो अतिचार और जान बूझकर उल्लघन करे तो अनाचार होगा। (द) क्षेत्र वृद्धि–एक दिशा का परिमाण घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण को बढा देना। (य) स्मृत्यन्तर्धान–ग्रहण की हुई मर्यादा का स्मरण न रहना स्मृतिभ्रश अतिचार है।

(7) उपभोग परिभोग परिमाण व्रत–उपभोग (एक बार भोगी जाने वाली वस्तुए जैसे भोजनादि) तथा परिभोग (अनेक बार भोगी जाने वाली वस्तुए जैसे वस्त्र, अलकार आदि) की वस्तुओं की इच्छानुसार मर्यादा रखना और मर्यादा के उपरान्त सभी वस्तुओ के उपभोग–परिभोग का त्याग करना। निश्चय दृष्टि से आत्मा ही ज्ञानादि स्वगुणो का कर्त्ता और भोक्ता होता है अत आत्मस्वरूपानुगामी परिणाम का निश्चय उपभोग–परिभोग परिमाण व्रत कहते हैं। पाच अतिचार (अ) सचित्ताहार–परिमाण से अधिक सचित्त वस्तु का आहार करना, (ब) सचित्त प्रतिबद्धाहार–सचित्त वृक्ष बीज आदि से सम्बद्ध पके फल आदि का आहार करना। मर्यादा उपरान्त सचित्त से सम्बन्ध (सघट्टा) रखने वाली अचित्त वस्तु को खाना भी अतिचार है। (स) अपक्व औषधि भक्षण–अग्नि मे बिना पकी हुई शालि आदि औषधि का भक्षण करना। अनुपयोग से खाने में यह अतिचार है। (द) दुष्पक्व औषधि भक्षण–बुरी तरह से पकाई हुई अग्नि मे अधपकी औषधि को पकी हुई जानकर भक्षण करना। (य) तुच्छौषधि भक्षण–असार औषधियो का भक्षण करना। अल्प तृप्ति के गुण वाली ऐसी चीजो को खाने से बडी विराधना होती है। इस व्रत मे भोजन की अपेक्षा से ये पाच अतिचार हैं तथा वृत्ति की अपेक्षा पन्द्रह प्रकार के अकरणीय व्यवसाय (कर्मादान) बताये गये हैं।

(8) अर्थदड विरमण व्रत–निष्प्रयोजन, अपनी आत्मा को पाप, आरभ आदि कार्यो मे लगाना अनर्थदड है। इसका त्याग करना व्यवहार अनर्थदड विरमण व्रत है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग से जिन शुभाशुभ कर्मो का बध होता है, उनमे अपनापन रखना निश्चय अनर्थदड है। इन्हें आत्मा से भिन्न समझकर इनसे व इनके कारणों से आत्मा को बचाना निश्चय अनर्थदड विरमण व्रत है। पाच अतिचार (अ) कन्दर्य–काम उत्पन्न करने वाले

वचन का प्रयोग करना, राग के आवेश मे हास्य मिश्रित मोहोद्दीपक मजाक करना। (ब) *कौत्कुच्य—भाडो की तरह अगो को विकृत बनाकर दूसरो को* हसाने की चेष्टा करना। (स) मोखर्य—ढिठाई के साथ असत्य—ऊटपटाग वचन बोलना। (द) सयुक्ताधिकरण—कार्य करने के योग्य ऐसे ऊखल—मूसल, शिला—लोढा, धनुष—बाण आदि अधिकरणो को जो साथ साथ में काम आते हैं, एक साथ रखना। (य) उपभोग परिभोगतिरिक्त उबटन, तैल, वस्त्राभूषण आदि उपभोग—परिभोग की वस्तुओ को अपने व अपने आत्मीयजनो के उपयोग मे अधिक रखना।

पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एव चार शिक्षाव्रत—ये कुल मिलाकर बारह अणुव्रत श्रावक के होते हैं। चार शिक्षाव्रत निम्न हैं—

(9) सामायिक व्रत—मन, वचन, काया•को पाप व आरभ से हटाना और पापारभ न हो इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति करना व्यवहार सामायिक है। जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणो का विचार करना और आत्म गुणो की अपेक्षा सर्व जीवो को समान समझ कर समता भाव धारण करना निश्चय सामायिक है। पाच अतिचार—(अ) मनोदुष्प्रणिधान—मन का दुष्ट प्रयोग करना याने मन को बुरे योग—व्यापार मे लगाना। जैसे सामायिक करके घर सम्बन्धी अच्छे—बुरे कार्यों का विचार करना। (ब) वाग्दुष्प्रणिधान—वचन का दुष्ट प्रयोग करना जैसे असभ्य, कठोर एव सावध वचन बोलना। (स) काय दुष्प्रणिधान—बिना देखी, बिना पूजी जमीन पर हाथ, पैर आदि अवयव रखना। (द) सामायिक का स्मृत्यकरण—सामायिक की स्मृति नही रखना अर्थात् उपयोग नही रखना। प्रमादवश भूल जाना। (य) अनवस्थित सामायिक करण—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना जैसे अनियत अल्पकाल तक ही बैठना या अस्थिरता से अनादरपूर्वक करना। पहले तीन अतिचार अनुपयोग तो बाद के दो अतिचार प्रमाद से अधिक सम्बन्धित हैं।

(10) देशावकाशिक व्रत—मन, वचन, काया के योगों को स्थिर करना ओर एक जगह बैठकर धर्मध्यान करना व मर्यादित दिशाओ से बाहर आश्रवो का सेवन नहीं करना। ज्ञान स्वरूप जीव द्रव्य का ध्यान करना एवं इसी मे रमण करना। पाच अतिचार—(अ) आनयन प्रयोग—मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर स्वय न जा सकने से दूसरे से सदेश आदि देकर सचितादि द्रव्य मगाना। (ब) प्रेष्य प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर मर्यादा अतिक्रम के भय से स्वय न जाकर नोकर—चाकर आदि को भेजकर द्रव्य मगाना या कार्य करना। (स) शब्दानुपात—मर्यादा अतिक्रम के भय से बाहर के निकटवर्ती लोगो को छींक,

खासी आदि शब्द द्वारा ज्ञान कराना। इसमे व्रत भग का भय भी रहता है। (द) रूपानुपात—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरो को अपने पास बुलाने के लिये अपना या पदार्थ विशेष का रूप दिखाना। (य) बहिर्पुद्गल प्रक्षेप— नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरो को जताने के लिये ढेला, ककर आदि फैंकना।

(11) पौषध व्रत—चार प्रहर से लेकर आठ प्रहर तक सावद्य व्यापार का त्याग कर समता परिणाम को धारण करना और स्वाध्याय तथा ध्यान में प्रवृत्ति करना व्यवहार पौषध व्रत है। अपनी आत्मा को ज्ञान—ध्यान द्वारा पुष्ट करना निश्चय पौषध व्रत है। पाच अतिचार—(अ) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या सस्तारक शय्या, सस्तारक का आखो से निरीक्षण न करना या अन्यमनस्क होकर असावधानी से निरीक्षण करना। (ब) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या सस्तारक—शय्या, सस्तारक को न पूजन अथवा अनुपयोगपूर्वक असावधानी से पूजना। (स) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार प्रस्त्रवण भूमि—मल—मूत्र आदि परिठवने के स्थडिल को न देखना या बिना उपयोग असावधानी से देखना। (द) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्त्रवण भूमि स्थडिल को न पूजना या अनुपयोग पूर्वक असावधानी से पूजना। (य) पौषधोपवास का सम्यक् अपालन—आगमोक्त विधि से स्थिर चित्त होकर पौषधोपवास का पालन न करना तथा पौषध मे आहार, शरीर सुश्रूषा, अबह्म तथा सावद्य व्यापार की अभिलाषा करना।

(12) अतिथि सविभाग व्रत—हमेशा और विशेष कर पौषध के पारणे के दिन पचमहाव्रतधारी साधु एव स्वधर्मी बधु को यथाशक्ति भोजनादि देना व्यवहार अतिथि सविभाग व्रत है। अपनी आत्मा एव शिष्य को ज्ञान दान देना या स्वय पढना, शिष्य को पढाना तथा सिद्धान्तो का श्रवण करना और कराना निश्चय असविभागव्रत है। पाच अतिचार—(अ) सचित्त निक्षेप—साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक सचित्त धान्य आदि पर अचित्त अन्नादि का रखना। (ब) सचित्त अपिधान—साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक अचित्त अन्नादि को सचित्त फलादि से ढकना। (स) कालातिक्रम—उचित भिक्षा काल का अतिक्रमण करना। काल के अतिक्रम हो जाने पर यह सोचकर दान के लिये उद्यत होना कि अब साधुजी आहार तो लेगे नहीं पर वे जान लेगे कि यह श्रावक दातार है। (द) पर—व्यपदेश—आहारादि अपना होने पर भी न देने की बुद्धि से उसे दूसरे का बताना (य) मत्सरिता—अमुक पुरुष ने दान दिया है तो क्या मैं कृपण या हीन हू—ऐसे ईर्ष्या भाव से दान देने मे प्रवृत्ति

करना। मागने पर कुपित होना या होते हुए भी नहीं देना। कषाय कलुषित चित्त से साधु को दान देना।

एक सुश्रावक मे इक्कीस गुणों की अपेक्षा रखी गई है—(1) अक्षुद्र—गभीर स्वभावी, (2) रूपवान्—सागोपाग (3) सौम्य प्रकृति—स्वभाव से विश्वसनीय, (4) लोकप्रिय—गुणसम्पन्नता से, (5) अक्रूर—क्लेश रहित, (6) भीरू—पाप भय, (7) अशठ—निष्कपट, (8) सदाक्षिण्य—परोपकार उत्सुक (9) लज्जालु—पाप सकोच (10) दयालु—पर दु ख द्रवित, (11) मध्यस्थ—तटस्थ विचारक (12) सौम्यदृष्टि— स्नेहालु, (13) गुणानुरागी—सद्गुण समर्थन, (14) सत्कथक सुपक्षयुक्त, कथोपदेशक व न्यायी, (15) सुदीर्घदर्शी—दूरदर्शिता, (16) विशेषज्ञ—हिताहित ज्ञाता, (17) वृद्धानुगत—अनुभवियो का अनुगामी, (18) विनीत—नम्र, (19) कृतज्ञ—उपकार मानने वाला, (20) परहितार्थकारी—सदा दूसरो का हित साधने वाला एव (21) लब्धलक्ष्य—विद्याभ्यासी।

श्रावकत्व के बारह व्रतो तथा इक्कीस गुणो का आदर्श आराधक बनने के लिए सतत यत्नशील रहना चाहिए। इस रूप मे उसके चार विश्राम होंगे। (1) पाच अणुव्रत, तीन अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत तथा अन्य त्याग–प्रत्याख्यान को अगीकार करे। (2) दूसरा विश्राम होगा सामायिक, देशावशिक व्रतो का पालन करू एव अन्य ग्रहण किये हुए व्रतो मे रखी हुई मर्यादाओ का प्रतिदिन सकोच करता रहूँ और उनका सम्यक् पालन करू। (3) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करू। (4) अन्त समय में सलेखना अगीकार कर आहार पानी को त्याग निष्चेष्ट रहते हुए और मरण की इच्छा न करते हुए रहू—यह चौथा विश्राम होगा।

श्रावकत्व की सफलता ही उसको ऊपर के साधुत्व के सोपान पर आरूढ करायेगी, जिस प्रकार सम्यक्त्व जागरण ने उसको श्रावकत्व के ऊपर के सोपान पर उठाया था। मेरी यही मनोकामना रहती है कि मेरे आत्मविकास की महायात्रा सतत रूप से चलती रहे तथा प्रगति के नये–नये आयाम खोजती और प्राप्त करती रहे।

ज्ञान विन क्रिया, क्रिया विन ज्ञान

मुझे यह सत्य सुविदित है कि ज्ञान एव क्रिया के सार्थक सयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। दोनो मे से एक का अभाव दूसरे को निरर्थक बना देगा। मुझे लगडे और अधे का रूपक याद है। ज्ञान को लगडा समझिये तो क्रिया को अधी। लगडा चल नही सकेगा क्योकि उसके पाव नहीं होते

और क्रिया भी अच्छी तरह चल नहीं सकेगी क्योकि उसके आखे नही होती। लेकिन दोनो मिल ,जाये तो चले भी जाये। क्रिया के कधो पर ज्ञान बैठ जाये और उसे रास्ता सुझाता रहे तो क्रिया भली–भाति चली रहेगी तथा गतव्य तक पहुचा देगी।

मैं सोचता हू कि ज्ञान बिना क्रिया का हो तो वह क्या होगा ? कल्पना करे कि मैं रोगी हू, अपने रोग की रामबाण औषधि जानता भी हू परन्तु औषधि लेने की क्रिया नही करता तो मेरे रोग का क्या होगा ? क्या मेरे मात्र औषधि ज्ञान से मेरा रोग चला जायेगा ? क्रिया बिना मेरा वह ज्ञान निरर्थक रहेगा। अत मैं आध्यात्मिक विषयो को जानू–यह पहली आवश्यकता है ही किन्तु जो मैं जानता जाऊ, और उसे क्रियान्वित करता जाऊ तभी कार्य सम्पादन का क्रम बना रह सकता है। बिना क्रिया भी ज्ञान तो रहेगा, लेकिन वह निष्प्रयोजन तथा निरूपयोगी होगा। फिर मैं सोचता हू कि उस क्रिया की क्या दशा होगी जो ज्ञानपूर्ण न हो ? कल्पना करे कि मैं रोगी हू और औषधि लेने को आतुर व सक्रिय भी, लेकिन औषधि का ज्ञान नहीं है। यह अज्ञान मुझे विष भी खिला सकता है। इस कारण बिना ज्ञान की क्रिया तो भयावह परिणाम वाली हो सकती है।

मेरी मान्यता बन गई है कि चारित्र रहित पुरुष को बहुत से शास्त्रो का अध्ययन भी क्या लाभ दे सकता है ? क्या लाखों दीपको का जलाना भी कही अँधे को देखने मे सहायक हो सकता है ? जैसे चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार ही का भागी है। चन्दन की शीतलता उसे नही मिलती है। इस प्रकार चारित्र्य रहित ज्ञानी का ज्ञान केवल भार रूप है। वह सुगति का अधिकारी नही होता। क्रियाशून्य ज्ञान निष्फल है। अज्ञानपूर्वक की गई क्रिया भी फलवती नहीं होती है। आग लग जाने पर पगु पुरुष का देखना उसे आग से नहीं बचा सकता और न अधे पुरुष का पराक्रम ही उसे निरापद स्थान पर पहुचा सकता है। किन्तु निरपेक्ष ज्ञान क्रिया वाले दोनो ही आग में जल जाते हैं।

मैं आप्त वचनो का पुण्य स्मरण करता हू तो स्पष्ट हो जाता है कि पहले ज्ञान होना चाहिये और फिर तदनुसार दया अर्थात् क्रिया या आचरण। अज्ञानी आत्मा क्या करेगी ? वह पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगी ? जो श्रेय हितकर हो उसी का आचरण करना चाहिये। जो न जीव (चेतन) को जानता है, न अजीव (जड) को, वह सयम को कैसे जान पायेगा ?

इस बिन्दु पर मैं चिन्तन करता हू कि मे सयम को कैसे जान, मान ओर धार पाऊगा ? उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर मेरा ध्यान केन्द्रित होता है कि ज्ञान और क्रिया के डग साथ–साथ उठने चाहिये। साधारण सी विधि है कि जब एक पथिक अपने गतव्य का मार्ग नहीं जानता तो ज्ञाताओ से मार्ग पूछता रहता है और आगे बढता जाता है। बीच–बीच मे सन्देह होने पर अपनी मार्ग सम्बन्धी धारणा की पुष्टि भी करवाता रहता हे। यही विधि वीतराग देवो ने भी बताई है। पहले मिथ्यात्व के पतनकारक स्वरूप को समझो और उसके दलदल से बाहर निकलो। फिर सम्यक्त्व के प्रकाश को निहारो और अपने आत्म स्वरूप को परखो। उसे परखने पर आवरण दिखेगे तब आवरणो का भी ज्ञान करो, मूल स्वरूप को भी जानो और सयम की शुभ क्रिया मे सक्रिय बन जाओ। जानते रहो, करते रहो और बढते रहो। सम्यक्त्व के प्रकाश मे ही व्रत धारण करने की निष्ठा उत्पन्न होती है। छोटे–छोटे व्रत और त्याग प्रत्याख्यान लेते हुए एक एक करके या एक साथ श्रावक के बारह व्रत अगीकार किये जा सकते हैं। उससे आगे का चरण सर्वांशत सिद्धान्तनिष्ठ साधु जीवन अगीकार करने का हो सकता हे। सयम की अडिग साधना ही ऊचे से ऊचे गुणस्थानो मे पहुचाकर आत्मा को परम समाधि का अक्षय सुख प्रदान कर सकती है।

मैं सोचता हू कि ज्ञान बिन क्रिया और क्रिया बिन ज्ञान की अवस्था को किसी भी स्तर पर अपने जीवनाचरण मे न आने दू और ज्ञान व क्रिया के दोनो पहियो पर सयम का रथ मोक्ष के राजमार्ग पर चलाता रहू ओर रत्नत्रय की आराधना मे तल्लीन बन कर प्रतिपल उस रथ को आगे और आगे बढाता रहू।

निर्विकारी स्वरूप की ओर

मे सोचता हू कि वास्तव मे 'निर्विकारी स्वरूप की ओर'—यह शब्द समूह एक प्रकार से भ्रामक है क्योकि मेरा अपना निर्विकारी स्वरूप कहीं बाहर नहीं है जिसकी ओर मैं जाऊ, वह स्वरूप तो मेरे भीतर मे ही विराजमान है जिसे मुझे निरावृत्त करना है। निरावृत्त इसलिये कि उस पर आवरण छाये हुए हैं और वे आवरण हें मेरे ही अपने विकारों के। ये विकार हैं मेरे अपने मोह–महत्त्व के विकार जो राग और द्वेष के बीजो पर अकुरित होकर विषय और कषाय के रूप मे वट वृक्ष की तरह फैलते हैं। फिर मे प्रमादग्रस्त हो जाता हू। जितना प्रमाद बढता है, मिथ्यात्व का अँधकार बढता है, मेरा अपना स्वरूप मैल ओर अधेरे की हजारो परतो से आवृत्त हो जाता हे। मुझे इन्ही विकारो

को पूरी तरह से हटा लेना है, साफ कर लेना है। विकार हटे और मेरा अपन परम ज्ञान एव अमिट सुखमय स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा। यही मेरा निर्विकारी स्वरूप होगा, ऐसा स्वरूप जो फिर विकारो मे कभी भी किसी भी रूप मे लिप्त नही बन सकेगा। मैं अपने उसी निर्विकारी रूप मे अजरामर हो जाऊगा—सदा सदा के लिये सिद्ध।

निर्विकारी स्वरूप मे स्थित हो जाना यही मेरा परम और चरम लक्ष्य है। यही मेरे आत्म विकास की महायात्रा का गतव्य है। इसी गतव्य पर पहुचने का मुझे पराक्रम दिखाना है जो सर्वश्रेष्ठ पराक्रम है। पराक्रम और ऐसा सर्वश्रेष्ठ पराक्रम सफलतापूर्वक दिखाना आसान नहीं है यह मैं जानता हूँ। इसके लिये मुझे परम पुरुषार्थ करना होगा—घटाटोप अधकार से निकलकर सदा प्रकाशमान दिव्यालोक मे अवस्थान बना लेने का पुरुषार्थ। यही पुरुषार्थ सम्यक्त्व, सयम और समता का पुरुषार्थ है। मेरा सम्यक्त्व अविचल बनेगा, सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर अडिग आस्था से जो तर्कसगत भी होगी तो परम श्रद्धास्वरूप भी। तर्क एक सीमा तक मुझे अग्रगामी बनायेगा, किन्तु जहा तर्क का क्षेत्र भी समाप्त हो जायेगा, वहा मेरी अमित आस्था का क्षेत्र आरम होगा कि मैं पूरे आत्म विश्वास के साथ सयम की कठिन साधना मे प्रवृत्त हो जाऊ, अपने मन, वचन एव कर्म के अशुभ योग व्यापार को समाप्त करता चलू तथा सत्य श्रद्धा के साथ श्रेष्ठ सिद्धान्तो के पालन मे एकनिष्ठ बन जाऊ।

मैं जानता हू कि साधक की यह सयम साधना बहुआयामी होगी। सम्यक् श्रद्धा वाला बनेगा तभी सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् आचरण को वरण करने वाला भी बन सकेगा। तभी वह त्याग वृत्ति की ओर उन्मुख भी बन सकेगा। विविध प्रकार के त्याग—प्रत्याख्यानो के अनुसरण से इसी महत्कार्य मे सचेष्ट बना रहता है कि धीरे—धीरे वह सासारिकता ही त्याग करता रहे। पहले श्रेष्ठ पाच सिद्धान्तो के आशिक पालन करने मे प्रवृत्त हो। ताकि वह एक सद्गृहस्थ और एक सुश्रावक बन सके—ऐसा सद्गृहस्थ जो अपने घर—परिवार मे रहता हुआ भी धर्माचरण मे दत्त चित्त बन जाता है और जिसकी अर्थोपार्जन की नीति भी सम्पूर्णतया अहिसा एव नैतिकता पर आधारित हो जाती है। जो अपनी गृहस्थी का कार्य चलाने के लिये परिग्रह कमाता है और रखता है किन्तु स्वय परिग्रहवादी नहीं होता। जो विविध प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से अपने विकारो को समाप्त करता जाता है तथा अपने भीतर और बाहर चारो तरफ के वातावरण मे समता का

शान्तिदायक आलोक फैलाता रहता है। जो अपने स्वीकृत व्रतो के छिद्रो को रोकता है, प्रतिक्रमण द्वारा पापो से पीछे हटता है और श्रमणोपासना से स्वय श्रमण बन जाने के मनोरथ पर निरन्तर चिन्तवन करता रहता है।

वह जब ऐसा सद्गृहस्थ बन जाएगा तो प्रगति के पथ पर उसके चरण रुकेगे नहीं। तब सासारिकता से विमुख बन कर वह इसी ससार मे अपने तथा अन्य प्राणियो के कल्याण कार्य मे सर्वतोभावेन सलग्न हो जाने के लिये साधु धर्म अगीकार कर लेगा। वह साधु धर्म जो तलवार की धार पर चलने जैसा दुष्कर होता है और इतना दुष्कर कि मेरु पर्वत को अपने तराजू से तोलो। वह अपने सयम के तराजू से मेरु पर्वत को भी तोल लेने का सामर्थ्य और पुरुषार्थ दिखायेगा। अपने हृदय मे क्रोध के स्थान पर सहिष्णुता, मान के स्थान पर विनम्रता, माया के स्थान पर सरलता और लोभ के स्थान पर सन्तोष को बसा लेने का प्रयास करेगा। यहा तक कि वह अपनी सयमोप-लब्धियो को अहभाव नही छु पाए इस ओर सावधान रह सकेगा और न ही उनके द्वारा अपनी कीर्ति की लालसा को कोई स्थान दे सकेगा। अपने सदाचरणमय जीवन को लोकोपकार हेतु विसर्जित कर गन्तव्य की ओर गतिशील होगा।

तीसरा सूत्र और मेरा संकल्प

तीसरे सूत्र के सदर्भ मे मैं सकल्पबद्ध होता हू कि मैं अपने चरम लक्ष्य को सम्यक् रीति से पहिचानूगा, मानूगा ओर अपनी समस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो को लक्ष्याभिमुखी बनाऊगा। लक्ष्य के उस उत्कृष्ट बिन्दु पर दृष्टि स्थिर करके ही मैं जान सकूगा कि वहा से मैं कितनी दूरी पर खडा हुआ हू और मुझे कितना चलना है ? मैं अडिग निश्चय के साथ चलूगा सत्य श्रद्धा और श्रेष्ठ सिद्धान्तो का सम्बल लेकर। मैं सम्यक्त्व से लेकर श्रावकत्व एव साधुत्व के सोपानो पर ऊपर से ऊपर चढता जाऊगा। मेरी उस उर्ध्वगामिता का आधार होगा ज्ञान एव क्रिया का अद्भुत सयुक्तीकरण तथा अपने समस्त विकारो (कर्मो) का क्षयीकरण। मैं अपने उस परिमार्जित आचरण के साथ निर्विकारी बनने मे यत्नरत हो जाऊगा।

अध्याय पांच

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 4

मैं सुज्ञ हूँ, सवेदनशील हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मानस, मेरी वाणी और कार्य तुच्छ भावो से ग्रस्त क्यो हैं ?

अनुभूति के क्षणो मे मुझे ज्ञात होगा कि अष्ट कर्मो की जडग्रस्तता ने मेरी मूल महत्ता किस रूप मे ढक दी है, मेरे पुरुषार्थ को कितना दबा दिया है और मेरे स्वरूप को कैसा विकृत बना दिया है ? यही मेरी तुच्छता व हीन भावना का कारण है, जिसे मैं धर्माराधना से दूर करूगा। मन, वाणी व कार्यो मे लोक कल्याण की महानता प्रकटाऊगा और 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूगा।

चौथा सूत्र

मैं सुज्ञ हू, सवेदनशील हू। मैं सब जानता हू, इतना ही नही है। मैं सबका अच्छा जानता हू--हित जानता हू, शुभ जानता हू--इसीलिये मैं सुज्ञ हू। मैं सबका अच्छा, हित और शुभ जानता हू तो क्या अपना स्वय का अच्छा, हित और शुभ नहीं जानता ? ऐसा कैसे हो सकता है ? क्या सब मे मेरा सम्मिलन नही है ? सबमे मैं भी तो आ ही जाता हू। अन्तर है तो यह कि मैं अपना ही अच्छा, हित और शुभ नही चाहता हू--सबका चाहता हू, अपना भी चाहता हू। यही तो मेरी सुज्ञता है।

मैं सुज्ञ हू, सबका हित जानता हू और चाहता हू। मेरा हृदय ऐसे सरोवर के समान है जो मानो स्फटिक शिलाओ के मध्य निर्मल जल से भरा हुआ हो जिसमे--मैल का अश तक नही। विशुद्ध निर्मलता सबके लिये हे, मेरे लिये है। मेरी आन्तरिकता मे ऐसा अनुपम सरोवर लहरा रहा है। जल की सतह शान्त और प्रशान्त है। ऊपर से ही भीतर की स्फटिक शिलाए चमक रही हे। तल से लेकर सतह तक निर्मलता की एकरूपता हे। यह सरोवर मेरे अन्त करण मे मूल रूप से विभूषित अनन्त दया और अनन्त करुणा का सरोवर है। मेरी यह दया और करुणा समता से आप्लावित है। वह कोई विषमता का भेद नहीं जानती। ससार के समस्त प्राणियो पर यथायोग्य रूप से बरसना चाहती है। मेरी करुणा मुझ पर ही बरसे--यह आश्चर्य की बात हो सकती हे किन्तु मैं सुज्ञ हू अत जानता हू कि मैं स्वय करुणा का कितना बडा पात्र हू ? मेरी आज की विदशा क्या मुझ पर अपार करुणा नही उपजाती ? क्या मैं ही मेरी दुर्दशा पर तरस नहीं खाता हू ? मेरी यह करुणा ही मुझे जगाती हे कि उठो और अपने भीतर के सरोवर के चारो ओर फैली गदगी को दूर करलो। तुम जैसे निर्मल के लिये यह मल का अस्तित्व कलक की बात हे। यह बद्ध कर्मो का मल है जिसे मेरी सुज्ञता स्वच्छ बना देने को आतुर हे। वह सबको प्रेरणा देना चाहती हे कि सभी प्राणी अपने हृदय मे स्थित इस सरोवर के चारो तरफ के मल को स्वच्छ करले, ताकि सरोवर की निर्मल शोभा सुप्रकट हो जाये।

मैं सुज्ञ हू इसीलिये सवेदनशील हू। मेरी करुणा के जल सतह पर लगने वाला सूक्ष्म आघात भी मुझमे तीव्र स्पन्दन उत्पन्न कर देता है–लहरो पर लहरे उठने लग जाती हैं। मैं करुणा से हिल उठता हू। यह आघात दूसरे ही नही करते, मैं स्वय भी करता हू। मेरी एक अशुभ क्रिया भी मुझे सवेदित करती है कि मे उसकी अशुभता को समझू और अशुभता के स्थान पर शुभता का सचार करू। जब दूसरे की अशुभ क्रिया भी अपने ही किसी साथी को पीडा पहुँचाती है, तब वह पीडा भी मुझे सवेदित और स्पन्दित बना देती है। मैं अपार करुणा से ओतप्रोत हो जाता हू। करुणा अपनी पीडा पर तो करुणा दूसरों की पीडा पर–यह करुणा मेरा धर्म बन जाती हे।

कभी आपने किसी झील के शान्त जल को देखा है ? उसमे गिरने वाला एक छोटा–सा ककड भी उस शान्त जल को आन्दोलित बना देता है। ककड के गिरने के स्थान से लहरें उठती ही चली जाती हैं। उस जल में अगर शिलाखड गिर जाये तो समझिये कि सारे सरोवर मे हलचल मच जाती है। सवेदनशीलता भी ऐसी ही होती है।

मैं सवेदनशील हू, इस कारण पीडा के मर्म को भलीभाति समझता हू। मेरी अपनी पीडा भी कम नहीं होती है। सोचिये कि एक आदमी उडना चाहे और उडने के लिये तत्पर हो जाय, तभी उसे ज्ञात हो कि उसके पैरो मे तो बेडिया पडी हुई है–वह उड़ तो क्या, चल भी नही सकता है। तो विचार कीजिये कि उसकी उडने की उग्र उमग को बेडियो की विवशता किस कदर कुचल देती है ? उसकी उस समय की पीडा का अनुभव कीजिये। वैसी ही मेरी अपनी पीडा है। मेरा जो मूल आत्मस्वरूप हे, ऊर्ध्वगामिता उसका प्रधान गुण है। मैं ऊपर उठना चाहता हू किन्तु अपने ही कृत कर्मो की मेरे पैरों मे पडी भारी बेडिया जब मुझे अपनी जगह से हिलने तक नहीं देती है तो में अपने ही भीतर की भीषण पीड़ा से कराह उठता हू। तब मेरी सवेदना पर चोट पडती है–मेरे सरोवर मे हलचल मच जाती हे, भावोर्मिया उठती है और मेरी ही करुणा मेरे ऊपर बरसने के लिए आतुर हो जाती है। मेरी करुणा मुझे जगाती है कि उठ और अपने पावो की बेडियो को तोड–बधनो को तोड़, तू ऊपर उठ सकेगा।

मेरी सुज्ञता तब मेरी सवेदनशीलता मे घुलमिल कर एकाकार बन जाती है–अत्यन्त प्रभावपूर्ण हो जाती है। मुझे जगाने के बाद ही वास्तव मे मेरी सवेदनशील सुज्ञता का कार्य और प्रभावक्षेत्र प्रारम्भ होता है जो सम्पूर्ण विश्व के विशाल क्षेत्र मे प्रसरित हो जाना चाहता है।

सुज्ञता और संवेदनशीलता

सच पूछे तो जब सुज्ञता होती है, तब ही सवेदनशीलता आती है और सवेदनशीलता की गूढता के साथ सुज्ञता की प्रखरता बढती जाती है। मेरे अन्त करण मे सुज्ञता और सवदेनशीलता की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। सुज्ञता मुझे सबका हित जानने की प्रेरणा देती है तो सवदेनशीलता उस हित को साधने के लिये मुझे तत्पर बनाती है। ज्ञान और क्रिया का सजीव सम्मिश्रण हो जाता है जो मुझे स्व–पर कल्याण हेतु जागृत और सक्रिय बना देता है।

मैं जानता हू कि मैं सुज्ञता और सवेदनशीलता का स्फटिक सरोवर हू किन्तु मैं यह भी जानता हू कि अभी मैंने उस सरोवर को आवृत्त कर रखा है–प्रभावहीन बना रखा है। इस कारण मुझे देखना है कि मेरी सुज्ञता कैसे जागे–मेरी सवदेनशीलता कैसे स्पन्दित हो ?

यह सही है कि सुज्ञता और सवेदनशीलता का अपार कोष अन्तरात्मा मे भरा पडा है, किन्तु वह अनेकानेक आवरणो से बधा हुआ है। इस कारण सुज्ञता का मुक्त प्रसार नहीं दिखाई देता व सवेदनशीलता का मुक्त सचार भी दिखाई नहीं देता फिर भी कुछ कारण ऐसे रहते हैं जिनमे यदि मेरी चेतना की जागृति बनी रहे तो इन दोनो गुणो का सुप्रभाव बाहर प्रकट होता रहता है। मैं अकेला नही रहता हू, समाज में रहता हू, जहा अन्य लोगो के साथ तो मेरा ससर्ग होता ही है किन्तु छोटे बडे प्राणी भी मेरे सम्पर्क मे आते हैं। यह सामाजिक सम्पर्क ऐसा होता है जो किसी न किसी रूप मे हर समय मौजूद रहता है। यह ससर्ग मेरे व्यवहारगत भी होता है तो अव्यवहारगत भी। जैसे मैं सडक पर चला जा रहा हू, मैंने देखा कि सडक के किनारे एक आदमी बेहोश पडा हुआ है। उसके मुह से झाग निकल रहे हैं। उसका जीवन खतरे मे दिखाई देता है। मेरी सुज्ञता मुझे खडा कर देती है और स्थिति का अनुमान लगाने को कहती है। मेरी सवेदनशीलता मेरे हृदय को द्रवित बना देती है और निर्देश देती है कि इस मृत्योन्मुख मनुष्य को तुरन्त शुभ भावो से उपयोगी सहायता दो। मेरी उस बेहोश पडे आदमी से कोई जान–पहिचान नही, न मेरा उसके साथ कभी कैसा भी व्यवहार पडा है–सिर्फ मेरा ससर्ग हुआ उसकी पीडामरी बेहोशी के साथ और इसी ससर्ग ने मेरी सुज्ञता को जगाया ओर मेरी सवेदनशीलता मे कोमल स्पदन पैदा कर दिये।

मैं कल्पना करता हू कि यदि हृदय के साथ आखे खुली हुई रहे तो ऐसे करुणाजनक दृश्य रात दिन दिखाई दे सकते हैं। एक सुज्ञ पुरुष ऐसा

सुकोमल सहायक होता है जो स्वय की पीडा को भी देखता हे तो पर-पीडा का छोटा-सा दृश्य भी उसे द्रवित बना देता है क्योकि उसकी सवेदनशीलता सदा प्रवहमान रहती है। मै अनुभव करता हू कि अपनी पीडा भी दो प्रकार की होती हे। एक तो तब जब कोई अन्य कष्ट पहुचाता है और दूसरी तब जब मैं किसी अन्य को कष्ट देता हू। पहली प्रकार की पीडा के समय मेरी अज्ञता मुझे उत्तेजित और प्रतिशोध हेतु तत्पर बनाती है किन्तु मेरी सुज्ञतापूर्ण सवेदनशीलता मेरे क्रोध पर मरहम लगाती है और मे सहनशीलता के साथ शान्त हो जाता हू। फलस्वरूप मुझे कष्ट पहुचाने वाला स्वय पश्चाताप से ग्रस्त हो जाता है। दूसरी प्रकार की पीडा मेरे अपने कुकृत्य की पीडा होती है। मेरी सुज्ञता मुझे फटकारती हे कि मेंने ऐसा कुकृत्य क्यो किया ? ग्लानि के उन क्षणो मे मेरी सवेदनशीलता मेरी पीडा पर अपनी करुणा बरसाती हे-मुझे प्रेरित करती हे उस व्यक्ति से क्षमा चाहने के लिये, जिसको मैंने दुखित किया था और इस प्रकार मेरे और उसके हृदयो मे से कटुता निकल जाती है। ऐसे चमत्कार करती ही रहती है मेरी सुज्ञता और मेरी सवेदनशीलता-जो ऐसी करुणा को बारबार बरसाती हुई अधिकाधिक परिपुष्ट होती जाती है।

यो कहें कि बाह्य जगत् का ससर्ग ही मेरी सुज्ञता एव मेरी सवेदनशीलता की कसोटी का काम करता है। इस कसोटी से रगड खाकर इसका खरा-खोटापन सामने आता है ओर यह स्वरूप भी सामने आता है कि उनकी परिपुष्टता कितने टच की बन गई है और मेरी आत्मा के साथ-मेरे जीवन के साथ बाह्य जगत् का ससर्ग प्रतिपल होता रहता है। प्रतिपल ऐसी परिस्थितिया सामने आती रहती हें जो मेरी सुज्ञता और सवेदनशीलता का दामन खींचती हैं कि आगे बढो, दु ख की पीडा को कम करो अपनी करुणा और सहायता से तथा आवश्यकता समझो तो अपना सब कुछ न्यौछावर कर दो इस सदुद्देश्य के लिये। मैं जानता हू कि करुणा की कोई सीमा नही होती क्योकि उसकी कोमलता अपार होती है। कई वक्त मैं ऐसी करुणा से द्रवित हो उठता हू ओर यथाशक्ति दु ख दूर करने का सत्प्रयास करता हू किन्तु कई बार ऐसा होता हे कि प्रमाद, प्रतिशोध या ऐसी ही किसी विकारग्रस्तता के कारण मैं सामने आई हुई उस पीडा को नजरन्दाज कर जाता हू-अपनी सुज्ञता और सवेदनशीलता को सोई हुई ही रहने देता हू। यह मेरे हृदय का कठोर व्यवहार होता हे, बल्कि यो कहू कि वह मेरे हृदय की तुच्छता होती हे और हृदय जब तुच्छता को पकडता है तो मेरा विचार, मेरा वचन और मेरा कर्म भी तुच्छ बनता जाता है। यह तुच्छता पनपती है मेरी सुज्ञता और

सवेदनशीलता की सुप्तावस्था मे। जब मेरी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे इस प्रकार की तुच्छता का विस्तार होता चला जाता है तो मेरी आन्तरिकता भी निष्करुण हो जाती हे, क्योकि मेरी सुज्ञता का प्रकाश मिट जाता है ओर मेरी सवेदनशीलता के तार झकृत नही होते।

तुच्छता जड़ग्रस्तता से

किन्तु ऐसा क्यो होता है ? यही स्थिति और समस्या मेरे मन–मस्तिष्क को मथती रहती है। तब मैं अपनी अन्तर्दृष्टि को जगाता हू यह देखने के लिये कि मेरे भीतर ऐसा क्या हो रहा है, जिसने मेरी करुणा मुझसे छीन ली है, मेरी वाणी की मधुरता हर ली है और मेरे कार्य को सहयोग–शून्य बना दिया है ?

मैं बाहर की दुनिया पर भी एक नजर दौडाता हू कि क्या मेरे जैसा मैं ही हू या दूसरे भी हैं जो मुझसे ज्यादा अच्छे हो व ऐसे भी लोग हो सकते हैं जिनसे मैं ज्यादा अच्छा होऊ। इस सदर्भ मे मुझे चार प्रकार के मनुष्य दिखाई देते हैं जिनके हृदय को घडे की और उनके वचन को ढक्कन की उपमा दी गई–(1) मधु का घडा और मधु का ढक्कन याने विचार भी मधुर और वचन भी मधुर, (2) मधु का घडा और विष का ढक्कन–वचन भले कडुए हो मगर हृदय निष्पाप और मधुर, (3) विष का घडा और मधु का ढक्कन–वे खतरनाक होते हैं जो ऊपर से मीठा बोलते हैं लेकिन भीतर मे जहर भरा रखते हें तथा (4) विष का घडा और विष का ढक्कन–विचार और वचन दोनो मे जहर भरा हो।

मैं सोचता हू कि मैं किस श्रेणी मे हू ? ये श्रेणिया मानव–ससर्गजनित कसौटिया ही तो हैं जो अनुभव के आधार पर बनाई जाती हैं। यह श्रेणी निर्धारण मुझे बता सकता हे कि मेरा मानस, मेरी वाणी और इनके द्वारा सचालित होने वाले मेरे कार्य कितने उच्च हैं अथवा कितने तुच्छ ?

इसी प्रसग मे मैं अपने स्वरूप दर्शन को आप्त वचनो की गहराई मे उतारना चाहता हू जिनमे कहा गया है कि जिसका अन्तर्हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, उसकी सुज्ञता और सवेदनशीलता सदा जागृत रहती है। कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् सकल्प करते हैं किन्तु कुछ गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तैरने जैसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं। कुछ व्यक्ति गोष्पद तेरने जैसा क्षुद्र सकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते है। कुछ गोष्पद तैरने जेसा क्षुद्र सकल्प करके गोष्पद तैरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं। फिर मैं सोचता हू कि मैं किस प्रकार का व्यक्ति हू, और मुझे किस प्रकार का व्यक्ति होना चाहिये ?

मैं सोचता हू, मैं देखता हू ओर मेरी अपनी आलोचना का क्रम चल पडता है। मैं अनुभव करता हू कि मेरा मानस, मेरी वाणी ओर मेरे कार्य तुच्छ भावो से ग्रस्त हो रहे हैं, मेरी मूल महत्ता आवृत्त हो रही है, मेरा पुरुषार्थ श्लथ हो रहा है और मेरा स्वरूप विकृत बनता जा रहा हे। क्यों हो रहा है ऐसा ? मैं यह जानने को अधीर हो जाता हू। तब मेरा चिन्तन गहराई मे उतरता जाता है कि मेरी ऐसी तुच्छता और हीन भावना का क्या कारण है ?

मैं अपने ज्ञान की स्मृतियो को उलटता पलटता हू तो मुझे लगता है कि मैं कभी ऐसा भी था जब मेरे मानस मे सर्वहित–कारिणी सुज्ञता रहती थी, जब मेरी वाणी सवेदनशीलता के तारो को झकृत करती हुई निकलती थी तथा जब मेरे कार्य दयाद्रवित और मानवीय होते थे। जब कभी मैं ऐसा था तो आज की तुच्छताओ ओर हीनताओ से उबर कर क्या में पुन वेसा ही नहीं हो सकता हू। किन्तु वैसा होने के लिये मुझे उस कारण पर दृष्टिपात करना होगा जिसने मेरा ऐसा रूपान्तरण कर दिया, क्योकि कारण को समझकर ही उसका निदान ओर समाधान कर सकूगा।

मेरी वर्तमान विदशा की पृष्ठभूमि मे जब मैं पहुचता हू तो समझ मे आता है कि ज्यो–ज्यो में अपने 'आप' को भूलता गया और सासारिकता में रमता गया, त्यो–त्यों विषय एव कषायो के तूफान मेरे भीतर उमडने–घुमडने लगे। मेरा आन्तरिक स्वरूप आन्दोलित हो उठा और उस तूफान से उडी मिट्टी और उछले मैल से ढक गया। यह मैल और मिट्टी कर्मो की मलिनता थी। मुझसे भाति भाति के अकार्य होते गये और आठो कर्मो के बधन कसते गये। पूरा आत्मस्वरूप कर्मपुद्गलो के विभिन्न आवरणो से आच्छादित हो गया। भीतर ही जब जड पुद्गलो का शासन स्थापित हो गया तो बाहर उन जड पुद्गलो के शासन का निरोध करने वाला बचा ही कौन था ? बाह्य जगत् के लुभावने पदार्थो की प्राप्ति ही मेरा समूचा लक्ष्य बन गया। में अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियो का दास बन गया जो जड पदार्थो की मनोज्ञता में ही रमण करने लगे। सर्व प्रकार से मैं सत्ता और सम्पत्ति के मोह मे ऐसा भान भूला कि भूल गया सब कुछ जिसे सुज्ञता और सवेदनशीलता कहते हैं।

वस्तुत यह मेरी जडग्रस्तता का सकट हे। जिस चेतना को सतत ज्ञान एव जागृतिमय रहना चाहिये, वही चेतना स्वय जड जैसी बन गई और जडग्रस्त हो गई। जडता भी ऐसी गहरी कि जिसके घनत्व को हटाने के लिये कठिन पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। यह जडता या जडग्रस्तता ही मेरी समस्त तुच्छता एव हीन भावना की जड हे। जब तक मैं उस जड को नहीं

उखाड पाऊगा–जडता को मिटा नही पाऊगा, तब तक मे मेरे मानस, मेरी वाणी तथा मेरे कार्यों की तुच्छता को भी हटा नही पाऊगा।

तुच्छता से स्वरूप विकृति

जब मैं अपने सुख की खोज भीतर नही करके बाहर ही बाहर करता हूँ तो मुझे इन्द्रियो के विषय–सुख ही दिखाई देते हैं और उन सुखों की सामग्री अपने लिये अर्जित करने मे मैं अपनी सारी शक्तियॉ लगा देता हूँ। तब मेरी दृष्टि उच्च्य वर्ग की तरफ लगी रहती है, जिनके पास ऐसी सुख सामग्री विपुलता मे उपलब्ध रहती है। उसे मैं देखता हूँ और मेरी इच्छाएँ बढती रहती हैं। एक इच्छा को पूरी करने के लिये श्रम करता हूँ तो दूसरी इच्छा अतृप्ति की प्यास लिये मेरे सामने आकर खडी हो जाती है–अकेली नहीं, उसके पीछे इच्छाओ की कतार लग जाती है। मैं तब भ्रम मे पड जाता हूँ और सोचता हूँ कि किस प्रकार अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति जल्दी से जल्दी कर डालू। तभी मुझे समझ मे आता है कि ऐसा मैं नैतिकतापूर्वक किये गये अपने श्रम से कभी भी नहीं कर पाऊगा और पदार्थों का मोह ऐसा प्रगाढ हो जाता है कि मैं सुखकारी और मनोज्ञ पदार्थों को पाने के लिये दूसरे अवाछित रास्तो पर बढ जाता हूँ। उन पदार्थों को येन–केन प्रकारेण प्राप्त कर लेने का ही मेरा ध्येय बन जाता है। मैं तब अनीति का कोई कार्य त्याज्य नहीं मानता, बल्कि वैसे कार्य करके भी सत्ता और सम्पत्ति जमा करने का निश्चय कर लेता हूँ।

यही से मेरे अध पतन का मार्ग आरम होता है। समाज विरोधी प्रवृत्तियो मे मैं बेभान बन कर जुट जाता हूँ–तब न हिसा का ध्यान रहता है न झूठ का, न विचारो की हीनता और न वचनो की विद्रूपता तथा कार्यो की कुत्सितता का। सब पर कालिख पोतता हुआ मैं काले धघो मे व्यस्त हो जाता हूँ। यह जडग्रस्तता की मेरी अधकारपूर्ण मनोदशा होती है। ऐसी ही मनोदशा मे कभी–कभी सत्ससर्ग के कारण कुछ प्रकाश की रेखाए प्रकट होती हैं।

तब मैं सोचता हूँ कि मन, वाणी और कर्म की मेरी उच्चता कैसी थी और अब उन्ही की तुच्छता कितनी जघन्य और निकृष्ट हो गई है ? मेरी सुज्ञता और सवेदनशीलता मे हल्का–सा ज्वार आता है और मेरा चिन्तन चलता है–अहिसा को परम धर्म मानते हुए मे अपनी सुख सुविधा पर कम और अन्य प्राणियो की सुख–सुविधा पर अधिक ध्यान देता था, किन्तु अब मुझे यह क्या हो गया है कि मे अत्यन्त तुच्छ और हीन हो गया हूँ ? दूसरों के दु ख नही देखता हूँ या दूसरो को सुख पहुँचाने की भावना नहीं रखता

हूँ—इतनी ही तुच्छता मेरे मे नही पनपी है, अपितु अब तो में दूसरे का सुख देख भी नही सकता हूँ। मुझे सिर्फ अपना ही सुख दीखता है। दूसरे का सुख नहीं देखू—वह भी एक बात, लेकिन मैं इतना निर्दयी हो गया हूँ कि दूसरे का सुख कुचल कर अपनी सुख सामग्री जुटाने मे उतारू बन जाता हूँ। मेरी तुच्छता ओर हीनता कितने नीचे स्तर तक पहुँच गई है ?

चिन्तन के इस प्रवाह मे मैं मेरे मन की हीन तुच्छता का आकलन करने लगता हूँ तो मुझे अनुभव होता है कि मेरा मन ऐसी—ऐसी नीच वृत्तियो मे डूबा हुआ हे—(1) गर्हित—सावद्य एव निन्दित हिसापूर्ण वृत्तियो से युक्त (2) सक्रिय—निन्दनीय वृत्तियो को कुत्सित प्रवृत्तियो मे ढालने से युक्त, (3) सकर्कश—कठोर भावो से युक्त, (4) कटुक— अपनी आत्मा के लिये ओर दूसरे प्राणियो के लिये अनिष्टकारी वृत्तियो से युक्त, (5) निष्ठुर—कोमलताहीन भावो से युक्त, (6) परुष—स्नेह रहित मानसिक वृत्तियो से युक्त, (7) आश्रवकारी—अशुभ कर्मो के आगमन की तत्परता से युक्त, (8) छेदकारी—अमुक प्राणी के प्राणो को छेद डालने की दुष्ट प्रवृत्ति से युक्त, (9) भेदकारी—अमुक प्राणी के प्राणो को भेद डालने की दुष्ट प्रवृत्ति से युक्त, (10) परितापनाकारी—प्राणियो को सन्ताप आदि उपजाने की हीन वृत्तियो से युक्त, (11) उपद्रवकारी—अमुक प्राणी को ऐसी वेदना हो कि उसका प्राणान्त हो जाये ऐसी घृणित दुष्चिन्ताओ से युक्त तथा (12) भूतोपघातकारी—जीवो को विनष्ट कर देने के क्रूर भावो से युक्त। मेरी जडग्रस्तता से उत्पन्न ऐसी तुच्छ और हीन मेरी मन स्थिति मेरे लिये चिन्तनीय बन गई है। मन की ऐसी अचिन्तनीय वृत्ति मुझे अब अखरने लगी है।

किन्तु मैं देखता हूँ कि मनोवृत्तियो की मेरी तुच्छता ओर हीनता के कारण मेरी वाणी की विद्रूपता भी असह्य होने लगी है। जिसके कारण, मुझे अवक्तव्य का भी भान नही रहा है। वचन से जो कहा जाना चाहिये वह वक्तव्य और जो नही कहा जाना चाहिये—वह अवक्तव्य होता है। छहो द्रव्यो मे अनन्त गुण और अनन्त पर्याय वक्तव्य है। वीतराग देव सर्व द्रव्यो ओर उनकी सर्व पर्यायो को देखते हैं, परन्तु उनका अनन्तवॉ भाग ही कह सकते हैं। उस कथित ज्ञान को भी सपूर्ण रूप से गणधर आगम रूप में गूथ नहीं पाते हैं तथा उन आगमो का भी यत्किंचित् भाग ही वर्तमान मे उपलब्ध है—वह भी इतना कल्याणकारी है कि मेरी वाणी की विद्रूपता उसे सुनकर कहने नहीं देती—उसका रसास्वादन करने नहीं देती। मेरे वचनो की विपरीत प्रवृत्ति बन गई है। वे (1) असत्य, (2) तिरस्कार युक्त, (3) दूसरो को झिडकने वाले, (4) कठोर, (5)

अविचारपूर्ण तथा (6) शान्त हुए कलह को फिर से भडकाने वाले वचन बन गये हैं। मैं ऐसी भाषा बालता हूँ। जिसमे यह भान नहीं रखता कि उससे चारित्र शुद्ध हो रहा है अथवा अशुद्ध बल्कि भाषा द्वारा प्रकट होने वाली भावना का भी ध्यान नही रखता हूँ। इसीलिये मेरे वचनो मे भी ये दोष उत्पन्न हो गये हैं—(1) कुवचन—कुत्सित वचन बोलना, (2) सहसाकार—सहसा अविचारपूर्ण तथा अप्रतीतिकर वचन बोलना, (3) सच्छन्द—धर्मविरुद्ध राग—द्वेष बढाने वाले वचन बोलना, (4) सक्षेप—सामायिक आदि के पाठ को छोटा करके बोलना, (5) कलह—क्लेश फैलाने वाले वचन बोलना, (6) विकथा—स्त्री कथा आदि चार विकथा करना, (7) हास्य—कौतूहल तथा कटाक्षपूर्ण वचन बोलना, (8) अशुद्ध—मलिनता फैलाने वाले वचन बोलना, (9) निरपेक्ष—असावधानी या अनुपयोग से बालना, तथा (10) मुण—मुण—अस्पष्ट उच्चारण करना। चाहे धार्मिक अनुष्ठान के समय मे हो या अन्यथा, ऐसे वचन मेरी वाणी तुच्छता के चिह्न रूप होते हैं। मेरे वचनो का ऐसा विद्रूप भी कई बार प्रकट होता है—(1) आलाप—थोडा पर टेढा बोलना (2) अनालाप—दुष्ट भाषण करना (3) उल्लाप—व्यगपूर्वक बोलना, (4) अनुल्लाप—व्यग के साथ दुष्टतापूर्वक बोलना, (5) सलाप—गुप्त वार्तालाप करना, (6) प्रलाप—निरर्थक बकवास करना, (7) विप्रलाप—निष्प्रयोजन भाषण करना। मुझे लगता है कि मेरी वाणी की तुच्छता इन सभी रूपों मे सीमा पार कर रही है।

मेरे मन और मेरी वाणी की तुच्छता भला मेरे कार्यो की तुच्छता को क्यो नही भडकायगी ? मेरे कार्यो की तुच्छता भी दयनीय बनी हुई है। वह तुच्छता शरीर की असावधानी से अशुभ व्यापारपूर्ण इन कार्यो मे प्रकट होती हे—(1) असावधानी से जाना, (2) असावधानी से ठहरना, (3) असावधानी से बैठना, (4) असावधानी से लेटना, (5) असावधानी से उल्लघन करना, (6) असावधानी से इधर—उधर बार—बार उल्लघन करना तथा (7) असावधानी से सभी इन्द्रियों व योगो की प्रवृत्ति करना। इस प्रकार मेरी शरीर की विषय, कषाय एव प्रमादपूर्ण क्रियाओ से निरन्तर कर्म बध होता रहता है। दुष्ट व्यापार विशेष रूप तथा कर्म बध के कारण रूप मेरी ऐसी क्रियाए पाच प्रकार की होती है—(1) कायिकी—काया के दुष्ट व्यापार से होने वाली क्रिया, (2) आधिकरणिकी—जिस दुष्प्रवृत्ति विशेष अथवा बाह्य खड्ग आदि शस्त्र से आत्मा का पतन होना है, उसे अधिकरण कहते हैं, अत ऐसे अधिकरण से होने वाली क्रिया, (3) प्राद्वेषिकी—जीव के मत्सर भाव रूप अकुशल परिणाम रूप प्रद्वेष से होने वाली क्रिया (4) परितापनिकी—ताडनादि से दु खित करने वाली

परिताप आदि की क्रिया, (5) प्राणातातिपातिकी क्रिया—इन्द्रियादि प्राणो को अतिपात पहुँचाने वाली क्रिया। अन्य प्रकार से इन्हीं क्रियाओं के पाच भेद इस रूप मे भी होते हैं। (1) आरभिकी छ काया रूप जीव की हिसा से लगने वाली क्रिया, (2) पारिग्रहिकी—मूर्च्छा—ममत्त्व से लगने वाली क्रिया, (3) माया प्रत्यया—कपटपूर्वक दूसरो को ठगने से लगने वाली क्रिया, (4) अप्रत्याख्यानिकी—अव्रत याने थोडी—सी भी विरति के परिणाम न होने रूप क्रिया तथा (5) मिथ्यादर्शन प्रत्यया—मिथ्यात्व से लगने वाली क्रिया। अन्य अपेक्षा से क्रियाओ के पाच प्रकार इस रूप मे भी होते हैं। (1) प्रेम प्रत्यया—माया और लोभ से उपजे राग भाव के कारण लगने वाली क्रिया, (2) द्वेष प्रत्यया—क्रोध और मान से उपजे द्वेष भाव के कारण लगने वाली क्रिया, (3) प्रायोगिकी क्रिया—आर्तध्यान व रौद्रध्यान जनित पापजनक काय—व्यापार से लगने वाली क्रिया, (4) सामुदानिकी क्रिया—समग्र आठ कर्मो को ग्रहण करने से अथवा अनेक जीवो को एक साथ एक—सी पाप क्रिया से लगने वाली, तथा (5) ईर्यापथिकी क्रिया—उपशान्त मोह, क्षीण मोह और सयोगी केवली—इन तीन गुणस्थानो मे रहे हुए अप्रमत्त साधु के केवल योग कारण से साता वेदनीय कर्म रूप बधने वाली क्रिया।

मेरा मानस, मेरी वाणी ओर मेरे कार्य किस प्रकार के तुच्छ भावो से ग्रस्त हैं—यह मेंने जाना है और यह भी जाना है कि वे ऐसे हीन तुच्छ भावो से ग्रस्त क्यो है ? इसका कारण हे अष्ट कर्मो की जडग्रस्तता जिसके अनेकानेक आवरणो ने मेरे आत्म—स्वरूप को आवृत्त बनाकर उसके स्वरूप को अपरूप बना दिया है। यह स्वरूप विकृति मेरे लिये कलक रूप बन गई है। मेरी मूल महत्ता तो छिपी ही है, किन्तु मेरा पुरुषार्थ भी सुशुप्त हो गया है। मैं यह जान गया हूँ कि मेरी यह स्वरूप विकृति मेरी ही तुच्छता ओर हीन भावना के कारण हुई है। पदार्थ मोह मे पडा हुआ मैं कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता हुआ अपने आत्म—स्वरूप को जडता से ढक रहा हूँ तो बाहर भी इन्हीं पदार्थो को प्राप्त करने की भाग—दोड मे अपने मन, वचन एव काया के योग व्यापार को जडता से मलिन बना रहा हूँ। अब मैं इस जडग्रस्त तुच्छता से विलग तभी हो सकता हूँ जब मैं एक ओर अपने अशुभ योग व्यापार को शत्रुता से ढालू तथा दूसरी ओर अष्ट कर्मो के कठिन बधनो को धर्माराधना से तोडू व अपनी स्वरूप—विकृति को स्वरूप—शुद्धि मे परिवर्तित करू।

अष्ट कर्मों के बन्धन

सासारिकता के कारणभूत इन कर्मों की प्रक्रियाओ को मुझे गहराई से समझना होगा, क्योकि मेरी स्वरूप–विकृति इन्हीं के बधनो की वजह से है। इस समझ के साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी समाधान मागता है कि इस ससार के सचालन का सूत्रधार कोन है ?

मैं तथा अन्य प्राणी अपने–अपने अनुभव से यह तथ्य जानते हैं कि इस ससार की प्रकृति मे जो कार्य हो रहे हैं, वे बहुत ही विधिवत हो रहे हैं। प्रकृति के इस सुव्यवस्थित क्रम को भग करता हे तो अधिकाशत बुद्धिशाली मनुष्य ही। फिर भी ऐसी अनेक घटनाए सबके ध्यान मे आती हैं जिनके कारण खोजने से भी नही मिलते। अपनी कर्तृत्व शक्ति एव गूढ वैचारिकता के कारण मनुष्य का महत्त्व कम नहीं है, फिर भी वह अनेक बार अपने को ऐसा असहाय महसूस करता है कि वह अपने ऊपर एक शक्ति को मान लेने के लिये विवश हो जाता है। इस शक्ति के आगे वह अपने को अशक्त अनुभव करने लग जाता है।

मे सोचता हू कि शायद ऐसी ही विवशता की छाया मे मनुष्य ने ससार के एक रचयिता की कल्पना की हो। अत यह मान्यता उपजी और फैली कि इस ससार की रचना करने, इसका पालन करने तथा विनाश करने वाला स्वय परमात्मा है। इतना ही नही, इस ससार मे होने वाली किसी भी तत्त्व की क्रिया या प्रक्रिया का प्रेरक भी परमात्मा ही है–यह मान्यता मनुष्य के मन मे बैठी जिसके आधार पर ही वह कहने लगा कि परमात्मा ही सारे ससार की समस्त हलचलो का सचालक हे तथा उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता है। मैं देखना चाहता हूँ कि क्या यह मान्यता मनुष्य के वास्तविक शक्तिसम्पन्न ज्ञान से उत्पन्न हुई है अथवा मात्र अज्ञानजनक भय से ?

इस मान्यता की थोडी–सी मीमासा जरूरी है। पहले इस बात का निर्णय करना होगा कि यह मनुष्य मात्र परमात्मा जैसी किसी शक्ति के हाथ का खिलौना है अथवा स्वय एक शक्तिशाली आत्मा ? यदि उसे कठपुतली मान लेते हें तो इस जीव तत्त्व को अजीव ही कहना पडेगा जिसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न रहे। किन्तु सभी अपने–अपने अनुभव से जानते हैं कि ऐसा कुछ नही है। सब आत्माए स्वतन्त्र शक्ति की धारिणी हें तथा अपने–अपने शक्ति–विस्फोट के अनुसार अपने–अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन भी करती रहती है जिसे सब देखते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य की आत्मा भी अपना

सर्वोच्च विकास साध ले तो वह स्वय भी परमात्मा बन सकती हे। आत्मा से परमात्मा—यह सबकी समझ मे बैठी हुई उक्ति है। फिर एक बार जो आत्मा परमात्म पद को प्राप्त कर लेती हे वह अपने अनन्त सुख को त्याग कर भला ससार के पचडो मे फिर क्यो पडे ? कल्पना करले कि परमात्मा फिर से ससार का सचालन सूत्र पकडने के लिये यहॉ आवे भी याने अवतार ले भी तो क्या वह अपने पद की उज्ज्वलता ओर शुद्धता को भी तिलाजलि दे देगे जो इस ससार की घोर विषमताओ का सचालन करे ? ओर यदि वह अपने पद से पतित होकर ऐसा सचालन समालते है ता वह भेदभावपूर्ण सचालन मान्य ही कैसे हो सकता है ? अत ससार के सचालन का सूत्रधार परमात्मा या ईश्वर हो—यह न तो बोध गम्य है ओर न अनुभव गम्य। कारण, फलस्वरूप विशुद्ध स्वरूपी परमात्मा कभी भी पुन ससार मे आते नही ओर सासारिकता से सपृक्त बनते नही।

तब प्रश्न पैदा होता है कि फिर ससार का इतना सुव्यवस्थित सचालन केसे होता है ? उसका उत्तर यह है कि यह सचालन स्वचालित है। जैसे कि ऑटोमेटिक घडी होती है तो वह बिना चाबी भरे ही चलती रहती है। हाथ इधर—उधर हिलते रहते हैं ओर घडी के पुर्जे चलते रहत हैं। ऐसा ही इस ससार मे होता है। हाथ चलने की तरह जीव एव अजीव तत्त्व का सयोग चलता रहता है ओर घडी से समय निकलने की तरह उस सयोग की हलचलो का फलाफल निकलता रहता है। इसे यो कहे कि मैंने एक क्रिया की तो उसके प्रभाव रूप उस तरह के कार्माण वर्गणा के पुद्गल मेर आत्म स्वरूप से बध जाते हें। फिर स्थिति पकने पर ये पुद्गल अपना शुम अथवा अशुम फल देकर ही छूटते हैं या साधना के बल पर उनसे मुक्त हुआ जा सकता है। कर्मो के बध, उदय ओर फल का जो यह क्रम चलता रहता है, वही शरीरधारी सभी प्राणियो की स्थिति—परिस्थिति तथा वृत्तियो—प्रवृत्तियो का कारणभूत बनता है। कर्मो का यह क्रम काफी हद तक सुव्यवस्थित होता हें जिसे आत्म—जागृति से खडित किया जा सकता हे। असल मे कर्मो का यही क्रम सारे ससार का सचालन करता है जो इस प्रकार से स्वचालित होता है। यही कर्मवाद अथवा स्वनिर्मित भाग्यवाद का सिद्धान्त कहलाता है।

कर्मवाद के इस सिद्धान्त को कुछ गहराई से समझे। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से आत्म प्रदेशो मे हलचल होती है तब जिस क्षेत्र मे आत्म—प्रदेश हैं उसी क्षेत्र मे रहे हुए अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल जीव के साथ बध को प्राप्त होते हैं। जीव ओर कर्म का यह मेल ठीक

वैसा ही होता है, जैसा दूध या पानी का या अग्नि और लौह पिड का। इस प्रकार आत्म–प्रदेशो के साथ बध को प्राप्त कार्माण वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते हैं। या यो कहे कि मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणो से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। कर्म का यह लक्षण भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनो मे घटित होता है। आत्मा के राग द्वेषादि रूप वैभाविक परिणाम भावकर्म हैं और कर्म वर्गणा के पुद्गलो का समूह द्रव्य कर्म है। राग द्वेषादि के वैभाविक परिणामो मे जीव उपादान कारण होता है, इसलिये भाव–कर्म, कर्त्ता उपादान रूप से जीव हे। द्रव्य कर्म मे जीव निमित्त कारण हे। इसलिये निमित्त रूप से द्रव्य कर्म का कर्त्ता भी जीव ही है। भावकर्म के होने मे द्रव्य कर्म निमित्त है ओर द्रव्य कर्म मे भाव कर्म निमित्त है। आपेक्षिक दृष्टि से इस प्रकार द्रव्य कर्म और भाव कर्म इन दोनो का परस्पर बीज ओर अकुर की तरह कार्यकारण भाव सम्बन्ध हे।

ससार के सभी जीव आत्म स्वरूप की अपेक्षा से एक से हैं फिर भी वे पृथक्–पृथक् योनियो मे भिन्न–भिन्न शरीर धारण किये हुए हैं ओर भिन्न–भिन्न परिस्थितियो मे विद्यमान हैं। एक ही माँ की कोख से जन्म लेने पर भी तथा एक–सी परिस्थितियो मे पले पोसे और शिक्षित हुए दो सगे–भाइयो मे भी कई बातो का अन्तर दिखाई देता है। यह विचित्रता तथा विषमता बिना किसी कारण के हो–ऐसा नही होता। इस सुख–दु ख, सम्पन्नता–विपन्नता अथवा सबलता–दुर्बलता का कोई कारण होना चाहिये जैसे कि अकुर का कारण बीज होता है। अत इस विषमता का कारण कर्म ही हो सकता है।

मैं देखता हूँ कि कई लोग इस तथ्य मे पूरा विश्वास नही करते हैं ओर दलील देते हैं कि सुख–दु ख के कारण तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जैसे माला, शय्या, स्त्री आदि सुख के कारण हैं तो कटक, विष आदि दु ख के कारण, फिर दृश्यमान सुख–दु ख के कारणो को छोडकर अदृष्ट कर्म की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ? सुख–दु ख के इन बाह्य साधनो से भी परे सुख–दु ख के कारण की खोज इसलिये करनी पडती है कि सुख की समान सामग्री प्राप्त पुरुषो के सुखानुभव मे भी अन्तर दिखाई देता हे। इस अन्तर का कारण कर्म के सिवाय क्या हो सकता हे ? एक व्यक्ति को सुख के कारण प्राप्त होते हैं तो दूसरे को नही। इसका भी नियामक कारण होना चाहिये ओर वह कर्म ही हो सकता हे।

आत्मा के बाह्य शरीर औदारिक आदि रूप तो प्रत्येक जन्म मे बदलते रहते हैं किन्तु कर्म बद्ध रूप उसका कार्माण शरीर जन्म जन्मान्तर मे भी साथ

चलता है। यह शरीर विग्रह गति मे भी जीव के साथ रहता हे और उसे उत्पत्ति क्षेत्र मे ले जाता है। दानादि क्रियाए भी फलवाली होती हैं क्योकि वे सचेतन द्वारा की जाती हैं, अत उनका फल भी कर्म के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। 'यह कर्म पुद्गल रूप माना गया हे अत मूर्त्त लक्षण वाला होता है। जो कार्य मूर्त्त होता है उसका कारण भी मूर्त्त ही होता है जैसे घट का कारण मिट्टी। कर्म कारण है तो उसका कार्य शरीर आदि मूर्त्त रूप मे ही होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जब कर्म मूर्त्त रूप है तो वह अमूर्त्त रूप जीव के साथ अपना सम्बन्ध कैसे जोडता है ? ससारी जीव अनादिकाल से कर्म सन्तति के सम्बद्ध रहा है और वह कर्म के साथ क्षीर–नीर की तरह एक रूप हो रहा है। यह एकरूपता उसके अमूर्त्तत्व गुण को आवृत्त करके रहती हे इसलिए अमूर्त्त जीव सकर्म अवस्था मे मूर्त्त कहा जाता है इसी बात को *भगवती सूत्र मे 'रूपी आया' के रूप मे कहा गया है ? आत्मा को रूपी सकर्म* की अपेक्षा से ही समझना चाहि। ऐसी मूर्त्त आत्मा ही मूर्त्त कर्म से सम्बन्ध जोडती है।

अब यह विचार उठता है कि जड कर्म फल कैसे देते हें ? सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर बुरे कर्म का दु ख रूप फल कोई जीव नहीं चाहता। किन्तु ध्यान मे रखने की बात यह है कि जीव–चेतन के सग से कर्मो मे ऐसी शक्ति पेदा हो जाती है कि जिससे वे अपने शुभाशुभ विपाक को नियत समय पर स्वय ही फल मिल जाता है। नहीं चाहने से कर्म का फल न मिले–यह समव नहीं है। आवश्यक सामग्री के एकत्रित होने पर कार्य स्वत हो जाता है। कारण–सामग्री की पूर्ति हो जाने पर व्यक्ति विशेष की इच्छा से कार्य की उत्पत्ति न हो–ऐसी बात नहीं है। जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसके तीखेपन का अनुभव स्वत हो जाता है। व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद न आवे–यह नहीं होता, न उसके तीखेपन का अनुभव कराने के लिये अन्य आत्मा की ही आवश्यकता पडती है। यही बात कर्म फल भोग के विषय मे भी है। *काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ*–इन पाच समवायो के मिलने से कर्म फल का भोग होता है। इस प्रकार चेतन का सम्बन्ध पाकर कर्म स्वय फल दे देता है और आत्मा भी उसका फल–भोग ले लेता हे। इसमे परमात्मा या किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नही पडती है।

कर्म करने के समय ही परिणामानुसार जीव मे ऐसे सस्कार पड जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म का फल आप ही भोग लेता है और कर्म भी चेतन से सम्बद्ध होकर अपने फल को स्वत प्रकट कर देता है। कर्मो

की शुभाशुभता का प्रश्न भी विचारणीय है। लोक मे सर्वत्र कर्म वर्गणा के पुदगल भरे हुए हैं। उनमे शुभाशुभ का भेद नही है। जीव अपने शुभाशुभ परिणामो के अनुसार कर्मो को शुभाशुभ रूप मे परिणत करते हुए ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार जीव के परिणाम कर्मो की शुभाशुभता के कारण है। दूसरा कारण है आश्रय का स्वभाव। कर्म के आश्रयभूत जीव का भी यह स्वभाव है कि वह कर्मो को शुभाशुभ रूप से परिणत करके ही ग्रहण करता है। प्रकृति, स्थिति तथा अनुभाग की विचित्रता व प्रदेशो के अल्पबहुत्त्व का भेद भी जीव कर्म–ग्रहण करने के समय ही करता है। इसे एक दृष्टान्त से समझें। सर्प और गाय को एक से दूध का आहार दिया जाये तब भी सर्प के शरीर मे वह दूध विष रूप मे परिणत हो जाता है तथा गाय के शरीर मे दूध रूप मे। इसका कारण है आहार और आहार करने वाले का स्वभाव। एक ही समय मे पडी हुई वर्षा की बूदो का आश्रय के भेद से भिन्न–भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसे स्वाति नक्षत्र में गिरी हुई बूदे सीप के मुह मे जाकर मोती बन जाती है और सर्प के मुह मे जाकर विष। यह तो भिन्न–भिन्न शरीरो मे आहार की विचित्रता होती है किन्तु एक शरीर मे भी एक से आहार की विचित्रता देखी जाती है। शरीर द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार भी ग्रहण करते हुए सार–असार रूप मे परिणत हो जाता है एव आहार का सार भाग भी सात धातुओ मे परिणत होता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव से ग्रहण किये जाकर शुभाशुभ रूप मे परिणत होते हैं।

कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध अनादिकालीन है। वह सदा यथायोग्य मन, वचन, काया के व्यापारो मे प्रवृत्त रहता हे–इससे उसके प्रत्येक समय कर्म बध होता रहता है। इस रूप मे पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं ओर नये कर्म बधते रहते हैं। ऐसा होते हुए भी सामान्य रूप से तो कर्म सदा से जीव के साथ लगे हुए ही रहे हैं। देह युक्त आत्मा से कर्म होता है और कर्म युक्त आत्मा देह धारण करती हे। इस प्रकार देह ओर कर्म एक दूसरे के हेतु हें। दोनो मे हेतु हेतु मद्भाव का सम्बन्ध है ओर यह सम्बन्ध अनादि है।

कर्म बध के मुख्यत पाच कारण माने गये हें–(1) मिथ्यात्व (2) अविरति (3) प्रमाद (4) कषाय और (5) योग। सक्षेप मे योग और कपाय कर्म बध के कारण हैं। कर्म बध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग ओर प्रदेश–ये चार भेद किये हैं। इनमे प्रकृति और प्रदेश बध योग–निमित्तक हें और स्थिति ओर अनुभाग बध कषाय–निमित्तक हैं। योग को भी गौण कर दे तो कपाय ही मुख्य कर्मबध का कारण हो जाता है। कपाय के क्रोध, गान, माया, लाग आदि

विकार होते हैं जिनमें राग और द्वेष का भी समावेश हो जाता है। यो कोई भी मानसिक विकार हो, उसकी जड राग या द्वेष मे ही होती है। ये राग द्वेषात्मक वृत्तियाँ ही मनुष्य को कर्म जाल मे फसाती तथा फसाये रखती हैं। जेसे मकडी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने ही बनाये हुए जाले मे फसती हे, उसी प्रकार जीव भी स्वकीय राग–द्वेषात्मक प्रवृत्ति से अपने को कर्म पुद्गलो के जाल मे फसा लेता है। राग–द्वेष की वृद्धि के साथ ज्ञान भी विपरीत होकर मिथ्या ज्ञान मे परिवर्तित हो जाता है। जिस प्रकार शरीर में तैल लगाकर कोई धूल मे लेटे तो रेत कण उसके शरीर से चिपक जाते हैं। उसी प्रकार राग–द्वेषात्मक परिणामो से परिणत जीव भी आत्मा से घिरे हुए क्षेत्र मे व्याप्त कर्म पुद्गलो को ग्रहण करता है। राग–द्वेष की चिकनाई ही मुख्य रूप से कर्मबध का कारण बनती है। इस चिकनाई के तीव्र होने पर उत्कट कर्मो का बध होता है। राग–द्वेष की कमी के साथ अज्ञान घटता है ओर ज्ञान विकसित होता हे। ऐसी दशा मे कर्म–बध तीव्र नहीं हाता।

कर्मबध हमेशा आत्म प्रदेशो के साथ बधे हुए ही रहे–यह स्थिति नहीं है। क्षीर–नीर की तरह एकमेक बने कर्म भी अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं, परन्तु राग–द्वेष की नई–नई परिणतियो से नये–नये कर्मो का बध भी होता जाता है। इस प्रकार ससार का क्रम चलता रहता है। किन्तु कर्मो से छुटकारा भी होता हे। मुक्ति कर्मो से पूरे छुटकारे का ही दूसरा नाम है। जैसे सोना और मिट्टी जमीन के भीतर एकमेक बने हुए होते हैं किन्तु उन्हे बाहर निकाल कर तापादि प्रयोग द्वारा पूरी तरह से विलग कर दिया जाता हे। सोना अपने पूर्ण शुद्ध रूप मे पृथक् हो जाता है। उसी प्रकार धर्माराधना से आत्मा कर्म–मल को दूर कर देती है और अपने ज्ञानादि मय शुद्ध स्वरूप को सुप्रकट कर लेती है।

ये कर्म आठ प्रकार के बताये गये हैं–(1) ज्ञानावरणीय कर्म–ज्ञान पर आवरण डाल देने वाले (2) दर्शनावरणीय कर्म–दर्शन (आस्था) पर आवरण डाल देने वाले (3) वेदनीय कर्म–सुख या दु ख पूर्ण वेदना का अनुभव देने वाले, (4) मोहनीय कर्म–परिग्रह रूप जडग्रस्तता से जकड देने वाले, (5) आयु कर्म– आयुबध कराने वाले, (6) नाम कर्म–गति आदि पर्यायो का अनुभव देने वाले, (7) गोत्र कर्म–उच्च व नीच शब्दो से सम्बोधित कराने वाले तथा (8) अन्तराय कर्म–विभिन्न प्रकार की प्राप्तियों मे बाधा डालने वाले।

ये अष्ट कर्म आत्म–गुणो पर अष्ट आवरण के समान है अत इन आवरणो को जब तक हटाने का प्रयास प्रारभ न करें, तब तक उन सम्बन्धित

गुणो के प्रकट होने का अवसर नही आता है। जैसे ज्ञान का आवरण रूप कर्म जिस रूप मे हटता जायेगा, उसी रूप में आत्मा का ज्ञान गुण प्रकाशित होता जायेगा। मेघाछन्न आकाश के समान मानिये कि बादलो का घनत्व जिस रूप मे घटेगा, उसी रूप मे सूर्य की आभा प्रकट होगी। सम्पूर्ण आवरण के हट जाने पर जिस प्रकार सूर्य अपनी सम्पूर्ण आभा से प्रकाशित हो जाता हे, उसी प्रकार सम्पूर्ण आवरणो को हटा देने के बाद ससार मे बद्ध यह आत्मा मुक्त होकर बुद्ध तथा सिद्ध बन जाती हैं।

इन आठो कर्मो की प्रवृत्तियो, बध कारणो तथा क्षय–उपायो पर विचार आवश्यक हे। जिससे मेरी आत्मा कर्म सिद्धान्त की समूची प्रक्रिया को भली–भाति समझ सके तथा उन उपायो पर चल सके जिनके द्वारा कर्मो का उपशय–क्षय करते हुए अनावृत्त स्वरूप प्राप्त किया जा सकता हे।

ज्ञान शक्ति के आवरण

मेरी विकास की महायात्रा मे अपनी आत्मा का जो मार्गदर्शक गुण है, वह है ज्ञान गुण। सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में ही इस महायात्रा का समारभ, सचालन तथा समापन समव हो सकता है। मेरे भीतर ऐसे ज्ञान का प्रकाश अल्प क्यो हैं? इसलिये कि ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मो को मेंने बाध रखा है जिन्हे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। मैं ज्ञान शक्ति के इस आवरण को मन्द कैसे बनाऊ और धीरे–धीरे समाप्त कैसे करू–इसके लिये मैं इस कर्म का पूरा स्वरूप जानना चाहता हूँ।

मेरा अध्ययन और अनुभव बताता है कि वस्तु के विशेष अवबोध को ज्ञान कहते हैं तथा ज्ञानावरणीय कर्म इस अवबोध–शक्ति को आच्छादित कर देता है। जिस प्रकार आखो पर पट्टी बाध देने से वस्तुओ को देखने मे बाधा पडती है, उसी तरह इस कर्म के दुष्प्रभाव से आत्मा को सम्यक् एव यथार्थ पदार्थ ज्ञान मे बाधा पडती है। मेरा यह पक्का अनुभव है कि ज्ञानावरणीय कर्म का कैसा भी गहरा आच्छादन हो जाय तब भी आत्मा सर्वथा ज्ञान शून्य कभी भी नहीं होती है क्योकि ज्ञान और उपयोग उसका मूल लक्षण है। ज्ञान का यह शाश्वत सद्‌भाव ही उसे पुन पुन जागृत बनाता रहता है। यदि ऐसा न हो तो आत्मा जड ही बन जाय किन्तु चेतन कभी जड बनता नही हे तथा जड कभी भी चेतन बनता नही हे। अत आत्मा ज्ञानाश से रहित कभी नही होती है।

ज्ञान के पाच भेद हैं, उस दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म के भी पाच भेद कहे गये हैं–

(1) मति ज्ञानावरणीय—मतिज्ञान एव उसके सभी प्रकारों को आच्छादित करने वाले कर्म। इन्द्रिय ओर मन की सहायता से वस्तु को जानने वाला ज्ञान मति ज्ञान अथवा आभिनिबोधिक ज्ञान कहलाता है।

(2) श्रुत ज्ञानावरणीय—श्रुत ज्ञान एव उसके सभी प्रकारो पर आवरण डालने वाले कर्म। वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय मन कारणक ज्ञान श्रुतज्ञान होता है। यह मतिज्ञान के अनन्तर मतिपूर्वक ही होता है तथा शब्द व अर्थ की पर्यालोचना मे निहित रहता है। जैसे घर शब्द सुनते ही उसके आकार, रग आदि भिन्न–भिन्न विषयो पर विचार करना श्रुत ज्ञान का विषय होता है। यही ज्ञान को कच्चे दूध की तरह और श्रुत ज्ञान को पक्के दूध की तरह भी कह सकते हैं।

(3) अवधि ज्ञानावरणीय—भव प्रत्यय एव गुण प्रत्यय तथा अनुगामी, अननुगामी आदि भेद वाले अवधि ज्ञान के आवरक कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के विना मर्यादा को लिये हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान करना अवधि ज्ञान कहलाता है।

(4) मन पर्यय ज्ञानावरणीय—ऋृजुमति ओर विपुलमति भेद वाले मन पर्यय ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए सज्ञी जीवों के मनोगत भावो को जानना मन पर्यय ज्ञान है।

(5) केवल ज्ञानावरणीय—केवल ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्म। मति आदि ज्ञान की अपेक्षा बिना त्रिकाल एव त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् जान लेने वाला केवलज्ञान होता है। इन पाच ज्ञानावरणीय कर्मो मे मात्र केवल ज्ञानावरणीय कर्म ही सर्वघाती होता हे और शेष चार कर्म देशघाती हैं। ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तो उत्कृष्ट तीस कोडा–कोडी सागरोपम की है।

ज्ञानावरणीय का बध जिन कारणो से होता है, वे छ हैं— (1) ज्ञानी से विरोध करना या उसके प्रतिकूल आचरण करना। (2) ज्ञान गुरु तथा ज्ञान का गोपन करना, (3) ज्ञानार्जन मे अन्तराय–बाधा देना, (4) ज्ञानी से द्वेष करना, (5) ज्ञान एव ज्ञानी की असातना–अवमानना करना तथा (6) ज्ञान एव ज्ञानी के साथ निरर्थक विवाद करना व उनमे दोष दिखाने की चेष्टा करना। इन कारणो के सिवाय ज्ञानावरणीय कर्म का उदय भी विभिन्न रूपो मे इस कर्मबध का कारण भूत होता है। इस कर्म का अनुभाव दस प्रकार का वताया गया हे— (1) श्रोत्रावरण—इस आवरण से श्रोत्रेन्द्रिय विपयक क्षयोपशम का

आवरण समझना चाहिये जिसमे उपयोग का आवरण भी शामिल है। (2) श्रोत्रविज्ञानावरण—श्रवण सम्बन्धी शक्ति के साथ उसके विज्ञान पर भी आवरण आ जाता है। (3) नेत्रावरण—ज्ञान दृष्टि पर आवरण। (4) नेत्र विज्ञानावरण—दृष्टि विज्ञान पर आवरण। (5) घ्राणावरण—सूघने की शक्ति पर आवरण। (6) घ्राण विज्ञानावरण— सूघने के विज्ञान पर आवरण। (7) रसनावरण—स्वाद शक्ति पर आवरण। (8) रसना विज्ञानावरण—रस के विज्ञान पर आवरण। (9) स्पर्शावरण—स्पर्श शक्ति पर आवरण। तथा (10) स्पर्श विज्ञानावरण—स्पर्श के विज्ञान पर आवरण। प्रत्येक कर्म का अनुभव स्व ओर पर की अपेक्षा से होता है। गति, स्थिति और भव पाकर कर्मोदय से जो फल—भोग होता है, वह स्वत अनुभाव हे। उदीरणा आदि शक्ति विशेष के माध्यम से पुद्गल और पुद्गल परिणाम की अपेक्षा जो फल—भोग होता है, उसे परत अनुभाव समझना चाहिए। स्वत अनुभाव मे कोई कर्म, गति—विशेष को पाकर ही तीव्र फल देता है, जैस कुछ असाता वेदनीय कर्म नरक गति मे तीव्रतम फल देता है। तीव्र अनुभाग के उदय के साथ स्थिति से भी तीव्र फल मिलता है जैसा कि मिथ्यात्व की स्थिति मे। भव विशेष पाकर भी कभी—कभी कर्म का तीव्र फल होता है। इस प्रकार परत अनुभाव मे कर्म किसी पुद्गल का निमित्त पाकर फल देता है जैसे किसी के लकडी या पत्थर फेंकने पर चोट पहुचती है। इसी प्रकार मदिरा पान से ज्ञानावरणीय का भी उदय होता है। अत इस अनुभाव को दस से सक्षिप्त करके केवल दो भेदो मे भी देखी जा सकता है—स्वत निरपेक्ष तथा परत सापेक्ष। पहली स्थिति मे बाह्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही स्वाभाविक ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से जीव ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जानता है, जानने की इच्छा रखते हुए भी नही जान पाता है और एक बार भूल जाने से दूसरी बार नहीं जानता है। यहा तक कि वह आच्छादित ज्ञान शक्ति वाला हो जाता हे, जबकि दूसरी स्थिति मे पुद्गल, पुद्गल परिणाम की अपेक्षा ज्ञान शक्ति का आच्छादन होता है तथा जीव ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता है। जेसे कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुचाने के लिये पत्थर, ढेला या शस्त्र फैंकता हे तो उनकी चोट से उसके ज्ञान मे लगने वाले उपयोग मे बाधा उत्पन्न होती हे। क्योकि उसका उपयोग ज्ञान में न लग कर चोट मे लग जाता हे। यह पुद्गल की अपेक्षा हुई। फिर पुद्गल परिणाम की अपेक्षा यह होगी कि एक व्यक्ति भोजन करता है, उसका परिणमन ठीक तरह से न होने के कारण वह अजीर्णवश दु खानुभव करता हे, और उस दु ख की अधिकता से वस्तु विशेष को जानने की ज्ञान शक्ति पर बुरा असर पडता है। स्वाभाविक पुद्गल परिणाम की अपेक्षा से

शीत, ऊष्ण आदि के कारण जीव की इन्द्रियो मे क्षति पहुचाने से इन्द्रियजन्य ज्ञान मे बाधा पहुचती हे।

मे ज्ञानावरणीय कर्म के इस स्वरूप विश्लेषण से यह शिक्षा लेना चाहता हू कि ज्ञान पर आवरण डालने वाले कर्मो के जो कारण हे, उनसे दूर रहू और बचू। दूसरे, जब मेरे पूर्व कृत ज्ञानावरणीय कर्म का उदय काल आवे तथा उस फल भोग के कारण मेरे ज्ञानार्जन मे बाधाए खडी हो, तब मैं उन बाधाओ को शान्तिपूर्वक सहू और अपने प्रयासो की निरन्तरता को बनाये रखू। साथ ही ज्ञान के प्रसाद एव ज्ञानियो की सेवा मे मैं अपने आपको निष्ठापूर्वक लगाऊ ताकि मेरे ज्ञान के आवरण कर्मो का क्षयोपशम और क्षय भी होता चले। इस कर्म के बधनो को तोडने मे मुझे सफलता इसी आधार पर मिल सकती है कि मैं हर समय समभाव पूर्वक सावधान, सतर्क ओर जागृत रहू जिससे मेरी वृत्तिया ओर प्रवृतिया ज्ञान के क्षेत्र मे बाधक न रह कर सहायक बन कर प्रवृत्ति करे।

आवृत दर्शन-शक्ति

वस्तु के सामान्य स्वरूप को जानने वाला ज्ञान, दर्शन कहलाता है। यह ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से अभिव्यक्त होता है। और इस सामान्य ज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म दशानिवरणीय कर्म कहलाता है।

दर्शन चार प्रकार का बताया गया है—(1) चक्षु दर्शन, (2) अचक्षु दर्शन, (3) अवधि दर्शन तथा (4) केवल दर्शन। इन प्रकारों के साथ पाच प्रकार की जागरणहीन अवस्थाओ को मिलाने से दर्शनावरणीय कर्म के नव प्रकार कहे गये हैं –

(1) चक्षुदर्शनावरणीय—चक्षु (आखों) द्वारा जो पदार्थो के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है, उस ग्रहण शक्ति पर आवरण डालने वाले कर्म।

(2) अचक्षुदर्शनावरणीय—चक्षु (आखों) के सिवाय शेष स्पर्श, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों तथा मन से जो पदार्थो के सामान्य धर्म का आभास होता है, उसे ढक देने वाले कर्म।

(3) अवधि दर्शनावरणीय—इन्द्रियो और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उस वोध को आवृत्त बना देने वाला कर्म।

(4) केवल दर्शनावरणीय–आत्मा द्वारा ससार के सकल पदार्थो का जो सामान्य ज्ञान होता हे, उस ज्ञान को आच्छादित बनाने व बनाये रखने वाले कर्म।

(5) निद्रा–जिस निद्रा मे सोने वाला सुखपूर्वक धीमी–धीमी आवाज से जग जाता है, वह निद्रा है।

(6) निद्रा–निद्रा–जिस निद्रा मे सोने वाला जीव बडी मुश्किल से जोर–जोर से चिलाने या हाथ से हिलाने पर जगता है, वह निद्रा–निद्रा है।

(7) प्रचला–खडे–खडे या बैठे–बैठे व्यक्ति को जो नीद आती है, वह प्रचला है।

(8) प्रचला–प्रचला–चलते–चलते व्यक्ति को जो नींद आती है, वह प्रचला–प्रचला है।

(9) स्त्यानगृद्धि–जिस निद्रा मे जीव दिन या रात मे सोचा हुआ काम निद्रितावस्था मे कर डालता है वह स्त्यानगृद्धि है। वज्र ऋषभनाराच सहनन वाले जीव को ऐसी निद्रा आती है तब उसमे वासुदेव का आधा बल आ जाता है।

आत्मा की दर्शन शक्ति को ढकने वाले दर्शनावरणीय के ये नौ प्रकार वस्तु के सामान्य ज्ञान के दर्शन को बाधित करते हैं। दर्शनावरणीय कर्म को द्वारपाल के समान माना गया है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन मे बाधा डालता है, उसी प्रकार यह कर्म पदार्थो के स्वरूप को देख पाने मे बाधा डालता है। यह आत्मा की दर्शन–शक्ति को प्रकट नही होने देता है। चक्षुदर्शनावरणीय आदि चार दर्शनावरण मूल से ही दर्शन लब्धि की घात करते हैं और पाच निद्राएँ प्राप्त दर्शन शक्ति की घात करती हैं। दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की होती है।

दर्शनावरणीय कर्म के बध होने के भी छ कारण बताये गये हैं– (1) दर्शनवान् के साथ विरोध करना या उसके प्रतिकूल आचरण करना, (2) दर्शन का गोपन करना, (3) दर्शन मे अन्तराय–बाधा देना, (4) दर्शन से द्वेष करना, (5) दर्शन अथवा दर्शनवान् की असातना या अवमानना करना, तथा (6) दर्शन या दर्शनवान् के साथ निरर्थक विवाद करना अथवा उनमे दोष दिखाने की चेष्टा करना। इनके सिवाय दर्शनावरण कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव दर्शनावरणीय कर्म बाधता है। दर्शनावरणीय कर्म का

अनुभाव उसके नव भेदो की दृष्टि से नव प्रकार रूप है। यह अनुभाव स्वत और परत रूप से दो प्रकार का भी कहा गया है। स्वत अनुभाव इस प्रकार हे कि दर्शनावरणीय पुद्‌गलो के उदय से दर्शन शक्ति का उपघात होता है ओर जीव दर्शन योग्य वस्तु को देख नही पाता, देखने की इच्छा रखते हुए भी देख नहीं सकता तथा एक बार देखकर वापिस भूल जाता हे। उसकी दर्शन शक्ति दब जाती हे। परत अनुभाव के रूप मे कोमल शय्या आदि के रूप में एक या अनेक पुद्‌गलो का निमित्त पाकर जीव को निद्रा आती है। पुद्‌गल परिणाम रूप भेंस के दूध का दही आदि भी निद्रा का कारण होता है तथा स्वाभाविक पुद्‌गल परिणाम रूप बरसात की झडी आदि निद्रा मे सहायक होती हे।

इस प्रकार मेरी आवृत्त दर्शन शक्ति ही मेरी दुर्बलता की प्रतीक बनी हुई हे। किसी भी वस्तु स्वरूप को जानकर उसे देखने का जो प्रतिभास होता है, वह कम महत्त्व का नही होता। जेसे घडा एक बार दखा ओर जाना, फिर उसके बाद बिना घडे की मोजूदगी के उसके आकार रग आदि का जो प्रतिभास होता रहता हे, वह वस्तु स्वरूप का सामान्य दर्शन हे। इस आवृत्त दर्शन शक्ति के प्रकटीकरण के लिये दर्शनावरणीय कर्म बध को धर्माराधन से क्षयोपशम और क्षय करते हुए चलना चाहिये। ज्ञान और दर्शन के बधन जब मन्द हो जाते हें तो ज्ञान ओर दर्शन की क्षमता अधिक बढाई जा सकती है।

वेदना की शुभाशुभता

मुझे अनुकूल विषयो से जो सुख रूप तथा प्रतिकूल से जो दु ख रूप से वेदन अर्थात् अनुभव होता हे, वह वेदनीय कर्म के प्रभाव से होता है। यों तो सभी प्रकार के कर्मो का वेदन होता हे, परन्तु साता-असाता याने सुख-दु ख का अनुभव कराने वाले कर्मविशेष मे ही वेदनीय रूढ है, इसलिये इस अनुभव से अन्य कर्मो का बोध नही लिया जाता है।

वेदना की शुभाशुभता की दृष्टि स इस वेदनीय कर्म के दो भेद होते हैं-

(1) साता वेदनीय- जिस कर्म के उदय से जीव को अनुकूल विषयो की प्राप्ति हो तथा शारीरिक एव मानसिक सुख का अनुभव हो, वह साता वेदनीय कर्म होता हे।

(2) असाता वेदनीय-जिस कर्म के उदय से जीव को अनुकूल विषयो की अप्राप्ति से तथा प्रतिकूल विषयो की प्राप्ति से दु ख का अनुभव होता हे, उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हें।

इस वेदनीय कर्म को मधु–लिपटी तलवार की उपमा दी जाती है कि जेसे तलवार पर लगे शहद का स्वाद साता वेदनीय के समान और तलवार की धार से जीभ कटने का दु ख असाता वेदनीय के समान है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति वीतराग गुणस्थान को छोडकर बारह अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है।

जीव को साता वेदनीय कर्म का बध इन कारणो से होता हे कि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा–दया की जाय, उन्हे दु ख न पहुचाया जाय, उन्हे शोक न कराया जाये जिससे कि वे दीनता दिखाने लगे, उनका शरीर कृश हो जाये ओर उनकी आखो से आसू व मुह से लार गिरने लगे, उन्हे लकडी आदि से ताडना नही दी जाये तथा उनके शरीर को परिताप या क्लेश न पहुचाया जाये। साता वेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव साता वेदनीय कर्म बाधता है। इसके विपरीत यदि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा भाव न रखे, उन्हे दु ख, परिताप, क्लेश आदि पहुचाये तथा उपरोक्त कार्यो से विपरीत कार्य करे तो उससे जीव को असाता वेदनीय कर्म का बध होता है। असाता वेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव असाता वेदनीय कर्म बाधता है।

साता वेदनीय कर्म का अनुभाव आठ प्रकार का होता है–(1) मनोज्ञ शब्द, (2) मनोज्ञ रूप, (3) मनोज्ञ गध, (4) मनोज्ञ रस, (5) मनोज्ञ स्पर्श, (6) मन की स्वस्थता एव सुख की महसूसगिरी, (7) कानो को मधुर लगने वाली तथा मन मे हर्ष उत्पन्न करने वाली वाणी रूप सुखी वचन तथा (8) स्वस्थ, निरोग व सुखी काया। यह अनुभाव परत भी होता है और स्वत भी। पुद्गलो के भोगोपभोग, देश, काल, वय और अवस्था के अनुरूप आहार परिणाम रूप पुद्गलो के परिणाम तथा शीतोष्ण रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम रूप जीव जिस रूप मे सुख का अनुभव करता हे, वह जीव परत सापेक्ष अनुभाव होता हे। मनोज्ञ शब्दादि विषयो के बिना भी साता वेदनीय कर्म के उदय से जीव जो सुख का अनुभाव करता है, वह निरपेक्ष स्वत अनुभाव होता है। तीर्थंकर के जन्मादि के समय होने वाला नारकी जीव का सुख ऐसा ही होता हे।

इसी प्रकार असाता वेदनीय कर्म का अनुभाव भी आठ प्रकार का है–(1) अमनोज्ञ शब्द (2) अमनोज्ञ रूप (3) अमनोज्ञ गध, (4) अमनोज्ञ रस, (5) अमनोज्ञ स्पर्श (6) अमनोज्ञ (अस्वस्थ) मन, (7) अमनोज्ञ वाणी तथा (8) दु खी काया। यह अनुभाव भी परत एव स्वत दोनो प्रकार का होता हे। परत अनुभाव पुद्गल, पुद्गल परिणाम, तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम रूप तीन

प्रकारो से जीव को दु ख भोग कराता है। स्वत अनुभाव की दृष्टि से असाता वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य निमित्तो के न होते हुए भी जीव को असाता या दु ख का भोग होता है।

महावली कर्मराज मोहनीय

मैं जानता हू कि अष्ट कर्मो मे मोहनीय कर्म को कर्मराज माना गया है क्योकि मेरे आत्मस्वरूप के साथ सम्बद्ध होने वाले कर्मो मे सासारिकता के प्रति मोहग्रस्तता के कर्म महाबली होते हैं। यदि में अपनी सम्पूर्ण वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे मोह—ममत्त्व का शमन और दमन कर दू तो फिर ऐसा कोई कर्म नही रहता जिसका सरलता से क्षय नही किया जा सके। मैं अष्टकर्मो को पाप का वट वृक्ष मानू तो मोहनीय कर्म उसकी जड कहलायेगा। वृक्ष कितना ही विशाल क्यों न हो—उसका फैलाव भी कितना ही व्यापक क्यो न हो, यदि उसकी जडो को उखाड फेकू तो वह सारा वृक्ष धराशायी हो जायेगा ओर उसके बेशुमार पत्ते, फल—फूल देखते—देखते सूख कर नष्ट हो जायेगे। जडो को उखाड फेकने का ही श्रम कठिन और कष्ट साध्य होगा। इसके बाद वृक्ष का पूर्णतया विनाश करने के लिये कोई उल्लेखनीय श्रम नही करना पडेगा। यही स्थिति मोहनीय कर्म की होती है। मोह—ममत्त्व ही सम्पूर्ण कर्म बधन की जड के समान होता है। मोह उखड जाय तो अन्य कर्म बधन स्वत ही टूट जायेगे।

मैं इस दृष्टि से मोहनीय कर्म को आठो कर्म का राजा ओर महाबली मानता हू। राजा को परास्त कर दिया जाय तो मान लिया जायगा कि उसके अन्य सभी योद्धा तथा सारी सेना परास्त कर दी गई है।

ससारी जीव के नाते इस ससार के बाह्य पदार्थो एव सम्बन्धो के साथ मानव की घनिष्ठ मूर्च्छा भावना होती हे। वह समझता है कि मेरी हस्तगत सम्पत्ति ओर सत्ता मेरी है, घर—मकान मेरा हे, परिवार, पत्नी, पुत्र—पुत्रिया आदि मेरी हैं और सबसे बढकर यह शरीर मेरा हे। सबके प्रति गहरा ममत्व ही मेरा मोह हे। में जानता ओर देखता हू कि वह मानव 'मेरे' समझे जाने वाले इन भोतिक पदार्थो एव सम्बन्धो के लिये किस प्रकार अपना सारा समय, अपनी सारी शक्तिया ओर अपने सारे प्रयत्न नियोजित करता है ? रात—दिन इन्हीं की प्राप्ति के लिये अथवा प्राप्त उपलब्धियो को बनाये रखने व बढाते रहने के लिये गभीर रूप से चिन्तित रहता है। इस गाढी मोहग्रस्तता के कारण वह किसी भी आत्मार्थी अथवा लोकोपकार के कार्य मे अपना मन एकाग्र नही बना पाता है। उसे हर वक्त बाह्य ससार का मोह सताता रहता है ओर वह

ससार के बाह्य वातावरण मे ही अपना सुख खोजता रहता है। मोहजनित मूर्च्छा और प्रमाद अभेद्य आवरणो के रूप लेकर उसके आत्म स्वरूप पर छाये रहते हें। ऐसी स्थिति को देखकर मैं अपने सम्यक् ज्ञान ओर अपनी ऊर्ध्वगामी दृष्टि को भी कई बार इन आवरणो को भेद कर अपनी आन्तरिकता की जाच–परख करने मे अपने आपको नियोजित कर पाता हू। मोहनीय कर्म को बाधते और भोगते समय मेरी आत्मदशा असहाय जैसी हो जाती है जो मेरे लोभी मन और कामना ग्रस्त इन्द्रियो के नियत्रण पाश से बध कर छटपटाती रहती है, लेकिन उस पाश को तोडने का पुरुषार्थ नहीं कर पाती है।

मैं मानता हू कि मोहनीय कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा को मोहित कर देता है–उसे भले बुरे के विवेक से शून्य बना देता है। जैसे एक शराबी शराब पीकर अपना हिताहित सर्वथा भूल–सा जाता है और परवश बन जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के दुष्प्रभाव से मेरा जीव भी सत् और असत् का विवेक खोकर पर–पदार्थो तथा सम्बन्धो मे उलझ कर परवश हो जाता है। मोहनीय कर्म के मुख्य रूप से दो भेद माने गये हैं–यथा दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय (1) दर्शन मोहनीय–दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक् अवबोध मे रुकावट डालता है जिससे आत्मा की दर्शन–शक्ति कुठित बन जाती है। दर्शन के तीन भेद किये गये हें–(अ) मिथ्यादर्शन–मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अदेव में देव बुद्धि और अधर्म मे धर्म बुद्धि आदि रूप आत्मा के विपरीत श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं। (ब) सम्यक् दर्शन–यह दर्शन तब होता है जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होता है और आत्मा में सम्यक् दर्शन के भाव उमडते हैं। सम्यक् दर्शन का उदय हो जाने पर मति, श्रुति आदि अज्ञान भी सम्यक् ज्ञान रूप मे परिणत हो जाते हैं। (स) मिश्रदर्शन–मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से यथार्थ तत्त्वो का प्रकाश भी फेलता है तो कुछ अयथार्थ तत्त्वो का भी आत्मा के श्रद्धान मे अस्तित्व रहता हे तब मिश्र दर्शन होता है। इस सम्बन्ध मे एक शका उठ सकती है कि सम्यक्त्व मोहनीय तो वीतराग देवो द्वारा प्रणीत तत्त्वो पर श्रद्धानात्मक सम्यक्त्व रूप से भोगा जाता है और वह दर्शन की घात नहीं करता तब उसे दर्शन मोहनीय के भेदो मे क्यो नहीं गिना जाता है? इसका समाधान यह हे कि जैसे चश्मा आखो का आवरण करने वाला होने पर भी देखने मे रुकावट नहीं डालता, उसी प्रकार शुद्ध दलिक रूप होने से सम्यक्त्व मोहनीय भी तत्त्वार्थ–श्रद्धान मे रुकावट नहीं डालता हे परन्तु चश्मे की तरह वह आवरण रूप तो होता ही है। इसके सिवाय सम्यक् मोहनीय मे अतिचारो की भी सभावना रहती है। ओपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व दर्शन के लिये यह

स्वच्छ दर्शात्मक के रूप भी है। इसलिये यह दर्शन मोहनीय के भेदो मे दिया गया है। इस प्रकार दर्शन मोहनीय की स्पष्ट व्याख्या यह होगी कि जो पदार्थ जेसा है उसे उसी रूप मे समझना ओर विश्वास करना यह तो दर्शन और इसको विपरीत रूप से समझना यह दर्शन मोहनीय। तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप दर्शन आत्मा का गुण होता है। इस गुण को मोहित (घात) करने वाले कर्म को दर्शन मोहनीय कहते हैं। सामान्य उपयोग रूप दर्शन से दर्शन मोहनीय कर्म का दर्शन भिन्न हो जाता है।

(2) चारित्र मोहनीय–जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है उसे चारित्र कहते हैं। यह भी आत्मा का गुण होता है। इस गुण को मोहित (घात) करने वाले कर्म को चारित्र मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके दो भेद कहे गये हैं–(अ) कषाय मोहनीय– कष अर्थात् जन्म मरण रूप ससार की प्राप्ति जिसके कारण हो, वह कषाय है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जो मलिन बनाता है, उसे कषाय कहते हैं। यह कषाय ही 'कषाय मोहनीय' है। कषाय चार होती हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ।

अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा सज्वलन के भेद से प्रत्येक कषाय के चार–चार प्रकार हैं अत कषाय के कुल सोलह प्रकार हैं। (ब) नोकषाय मोहनीय–कषायो के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे नोकषाय हैं। ये क्रोधादि कषायो को उभारते हैं। नौ भेद होने से क्रोधादि के सहचर होने से ये नोकषाय हैं–हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुरुष वेद तथा नपुसक वेद। मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथ उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की है। इस प्रकार मोहनीय कर्म कुल 3+16+9=28 प्रकार का होता है।

मोहनीय कर्म का बध छ प्रकार से किया जाता है–(1) तीव्र क्रोध करके, (2) तीव्र मान करके, (3) तीव्र माया करके, (4) तीव्र लोभ करके (5) तीव्र दर्शन मोहनीय के द्वारा तथा (6) तीव्र चारित्र मोहनीय के द्वारा। यहा चारित्र मोहनीय का अर्थ नोकषायों से लिया जाना चाहिये। मोहनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव मोहनीय कर्म का बध करता है।

मोहनीय कर्म का अनुभाव पाच प्रकार का बताया गया है– (1) सम्यक्त्व मोहनीय (2) मिथ्यात्व मोहनीय (3) सम्यक्त्व मिथ्यात्व मोहनीय (4) कषाय मोहनीय तथा (5) नोकषाय मोहनीय। यह अनुभाव पुद्गल तथा पुद्गल परिणाम की अपेक्षा होता है तो स्वत भी होता है। सम, सवेग आदि

परिणाम के कारणभूत एक या अनेक पुद्गलो को पाकर जीव सम्यक्त्व मोहनीय आदि को वेदता हे। देश काल के अनुकूल आहार परिणाम रूप पुद्गल परिणाम से भी जीव प्रशमादि भाव का अनुभव करता हे। आहार के परिणाम विशेष से भी कभी–कभी कर्म पुद्गलो मे विशेषता आ जाती है, जैसे ब्राह्मी औषधि आदि आहार परिणाम से ज्ञानावरणीय का विशेष क्षयोपशम होना प्रसिद्ध है। कर्मो के उदय, क्षय और क्षयोपशम जो कहे गये हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और भव पाकर होते हैं। बादलो के विकार आदि रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी वैराग्य हो जाता है। इस प्रकार सम, सवेग आदि परिणामो के कारणभूत जो भी पुद्गल आदि हैं, उनका निमित्त पाकर जीव सम्यक्त्व आदि रूप से मोहनीय कर्म को भोगता है। यह परत अनुभाव हुआ। सम्यक्त्व मोहनीय आदि कार्मण पुद्गलो के उदय से जो प्रशम आदि भाव होते हैं, वह स्वत अनुभाव है।

मोह का समीक्षण

मैं मनुष्य जीवन की गरिमा को पहचान गया हूँ। मैं इस जीवन से ही ऊर्ध्वरेता बन सकता हू, ऊर्ध्वारोहण कर सकता हू वीतराग देव की पवित्र वाणी से मेरा अत करण रूपान्तरिक होकर सम्यक् दृष्टि भाव की सर्चलाइट श्रद्धा के रूप मे अभिव्यक्त हो चुकी है, उसके आलोक मे हेय, ज्ञेय और उपादेय को मे जान चुका हू। मेरा स्वरूप जागृत हो चुका है, मेरी बहिर्आत्मा सर्पकञ्चुकी की तरह अलग भाषित होती है उसको हेय मानने की अभिनव चेतना जागृत हो चुकी है। दर्शन मोह की जडों को मैं उखाड चुका हू, मेरी प्रसन्नता क्षायिक भाव–सी लगने लगी है। अन्य सकल्प तीव्र बन चुका है। मेरी अन्त ध्वनि हेय अवस्था को त्यागने के लिए छटपटा रही है, ज्ञपरिज्ञा को प्रत्याख्यान परिज्ञा मे परिणत करता हुआ ऊर्ध्वगमन आखिरी मजिल को लक्ष्य रूप से निर्धारित कर चुका हू वही लक्ष्य त्रिकाल स्थायी एव अबाधित है मैं उस ध्रुवयुक्त उत्पाद व्यय के साथ परिणामि चैतन्य देव के ज्ञानान्द मे रमण करने के लिए अत्यत उत्सुक हू।

सभी विकारी उपाधियो से निर्लिप्त रहता हुआ अतीन्द्रिय ज्ञान को वरने के लिए छटपटा रहा हू वह अतीन्द्रिय ज्ञान एव अतीन्द्रिय गुण मय चितामणी रत्नों का अखूट खजाना मेरी अतरात्मा श्रद्धा रूप से चमक उठा है। मे निश्चय कर चुका हू कि चारित्र मोह के अनादि कालीन योद्धाओ को परास्त करने मे सक्षम बनू। उस सक्षमता मे मेरा सत्पुरुषार्थ निरंतर चालू रहे, साध्य एव साधन की समन्वयात्मक उपादान आदि की अवस्था मे साध्य को कार्य रूप मे परिणत करके ही रहूगा।

साध्य ओर साधन मे जरा भी मोच नही आने दूगा यह मेरा साधनागत आतरिक सूत्र है। यह जीवन के गुणो के साथ सबद्ध रहा है, रह रहा हे, ओर रहेगा। इसमे सशय को अवकाश ही नही है क्योकि मेरा जीवन आर्य क्षेत्र कुल आदि के साथ आर्य गुणो के साथ सम्पन्न हो चुका है। इसीलिए मेरी चित परिणति को आतरिक अध्यवसाय को कर्म जनित सभी रगो से रहित बनाकर रहूगा। यह मेरी दृढ धारणा ही समर्थ सहकारी कारणो के साथ सयुक्त है। इस धारणा को तोडने का त्रिकाल मे भी प्रसग नहीं आ सकता। परिषह उपसर्ग इस धारणा को विमोचित करने के लिए उपस्थित हो सकते हैं कितु उनको भी में यथा तथ्य रूप से समीक्षण चक्षु से ही अवलोकित करूगा। पूर्व मे बहिर् आत्मा से सम्बन्धित जो उपकरण, परिवार आदि की उपाधिया आमने–सामने तैर रही हैं। किन्तु मैं उनको भी आसक्ति के रग से अनुरजित होकर नही देखूगा।

उस आसक्ति के रग को अनासक्ति मे परिणत करने वाला समत्व गुण समीक्षण दृष्टि से उपलब्ध हो चुका है। अतएव ममत्व की जजीरे समत्व की छेनी से ही परिछेदित की जा सकती है। यह परिछेदन की शक्ति मेरे में रही हुई हे। मैं शारीरिक, मानसिक आदि साधनो की शक्ति के अनुपात से सत्पुरुषार्थ पराक्रम चालू करने के लिए कटि–बद्ध हो चुका हू। उसमे कोई कसर नही रहने दूगा। प्राप्त सासारिक वैभव परित्यक्त करने का आतरिक परिणाम परिपूर्ण रूप से नही जगेगा तब तक कमल वत रहता हुआ यथायोग्य कर्त्तव्यो का पालन करूगा। लेकिन सभी कर्त्तव्यो मे लक्ष्यानुरूप उपयोग धारा रखूगा। समय आने पर उस परिवार आदि परिधि का भी अतिक्रमण कर वसुधैव कुटुम्बक की वृत्ति का परिपूर्ण जागरण करूगा। शुभ योग की सडक पर लक्ष्य की ओर चरण बढाता हुआ अप्रमतत्ता की जागृति मे अपने आपको समर्पित करता हुआ मोह कर्म के योद्धाओ का शमन, सक्षय आदि वृत्तियो मे अपने आपको सक्षम बनाऊँगा, सक्षय की अतिम रणभेरी के साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय ओर अतराय के सहयोगी योद्धाओं को परास्त कर साधन ओर साध्य की परिधि को पार करूगा।

रत्नत्रय रूप साधनो को चरम सीमा मे पहुचाता हुआ क्षायिक सम्यक्त्व केवल ज्ञान और क्षायिक चारित्र की स्व स्वभाव का त्रिपुटी को आपेक्षिक अभेद रूप में सलोकित करूगा कितु शरीर परिधि की सीमा को भी अतिक्रमण कर असख्य प्रदेशो को सदा–सदा के लिए ध्रौव्य एव अचलत्व को परिणति दूगा। अततोगत्वा साकार उपयोग के साथ सिद्धत्व स्वरूप को सदा सदा के लिए वरूगा। यह सिद्धि इस जन्म मे नहीं तो अन्य जन्म मे अवश्य पाऊगा।

आयुष्य के बधन

मैं जानता हू कि मेरी तरह प्रत्येक शरीरधारी ससारी जीव का अपनी-अपनी गति मे उसका निश्चित आयुष्य होता है, जो आयु कर्म के अनुसार प्राप्त होता है। आयु की इस निश्चित अवधि को, किसी अपराधी को मिले कारागार के दड की अवधि के समान माना गया है। जैसे दडाज्ञा की नियत अवधि के पहले कारागार से छूटा नहीं जा सकता है वैसे ही आयु कर्म के कारण जीव नियत समय तक अपने प्राप्त शरीर मे बधा रहता है। अवधि पूरी होने पर ही वह उस शरीर को छोडता है परन्तु उसके पहिले नही। अत जिस कर्म के रहते प्राणी जीता है तथा पूरा होने पर मरता है उसे आयु कर्म कहते हैं। आयु कर्म के प्रभाव से ही जीव एक गति से दूसरी गति मे जाता हे अथवा स्वीकृत कर्म से प्राप्त नरक आदि दुर्गति से निकलना चाहते हुए भी जीव को आयु कर्म उसी गति मे रोके रखता है। यह आयु कर्म प्रति समय भोगा जाता है या जिसके उदय मे आने पर भव (जन्म) विशेष मे भोगने लायक सभी कर्म फल देने लगते हैं।

आयु कर्म के चार भेद कहे गये हैं-(1) नरकायु-इस आयु बध के चार कारण हैं- (अ) महारम-बहुत प्राणियो की हिसा हो-इस प्रकार के तीव्र परिणामो से कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना, (ब) महा परिग्रह-वस्तुओ पर अत्यन्त मूर्च्छा रखना, (स) पचेन्द्रिय वध-पचेन्द्रिय (पाचो इन्द्रियो से सम्पन्न) जीवो की हिसा-हत्या करना तथा (द) कुणिमाहार-मास आदि का आहार करना। इन चार कारणो से जीव नरकायु का बध करता है। नरकायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव नरकायु का बध करता हे। नरकायु जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है।

(2) तिर्यचायु-इस आयुबध के भी चार कारण हैं- (अ) माया-(कुटिल परिणामो वाला) जिसके मन मे कुछ और हो और बाहर कुछ और अर्थात् जो विषकुम-पयोमुख की तरह ऊपर से मीठा हो और भीतर से अनिष्ट चाहने वाला हो। (ब) विकृति वाला-ढोग, आडम्बर आदि करके जो दूसरों को ठगने वाला हो। (स) जो झूठ बोलने वाला हो। (द) झूठे तोल झूठे माप वाला-खरीदने के लिये बडे और बेचने के लिये छोटे बाट नाप रखने वाला। शोषण सम्बन्धी श्रम-चोरी का समावेश इसी में होता हे। ऐसे जीव तिर्यच (पशु) गति के योग्य कर्म का बध करते हैं। तिर्यचायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव तिर्यचायु का बध करता हे। तिर्यच की आयु जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

(3) मनुष्यायु—मनुष्य जन्म भी चार प्रकार के कारणो से प्राप्त होता है—(अ) जो भद्र—सरल प्रकृति (स्वभाव) वाला हो, (ब) जो स्वभाव से ही विनीत हो, (स) जो दया और अनुकम्पा के परिणामो (भावो) वाला हो तथा (द) जो मत्सर अर्थात् ईर्ष्या—डाह न करने वाला हो। ऐसा जीव मनुष्यायु योग्य कर्म बाधता हे। मनुष्यायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव मनुष्य की जन्म आयु का बध करता हे। मनुष्य की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

(4) देवायु—देवायु बध के भी चार कारण बताये गये हैं— (अ) जो सराग सयम का धारक रहा हो, (ब) जिसने देश विरति श्रावक धर्म का पालन किया हो, (स) अकाम निर्जरा अर्थात् अनिच्छापूर्वक पराधीनता आदि कारणो से कर्मों की निर्जरा करने वाला, तथा (द) बाल भाव से विवेक के बिना अज्ञानपूर्वक कायाक्लेश आदि तप करने वाला। ऐसा जीव देवायु के योग्य कर्म बाधता है। देवायु कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव देव की आयु का बध करता है। देवायु जघन्य दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की हे।

आयु कर्म का अनुभाव चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु तथा देवायु। यह अनुभाव स्वत ओर परत रूप दो प्रकार का होता है। एक या अनेक शस्त्रादि पुद्गलो के निमित्त से, विषमिश्रित अन्नादि रूप पुद्गल परिणाम से तथा शीतोष्णादि रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से जीव आयु का अनुभव करता है, यह परत अनुभाव हुआ। नरकादि आयु कर्म के उदय से जो आयु का भोग होता है, वह स्वत अनुभाव समझना चाहिये।

आयु दो प्रकार की होती है—अपर्वतनीय तथा अनपवर्तनीय। बाह्य शस्त्र आदि का निमित्त पाकर जो आयुस्थिति पूर्ण होने के पहिले ही शीघ्रता से भोग ली जाती हे, वह अपवर्तनीय आयु हे। जो आयु अपनी पूरी स्थिति भोग कर ही समाप्त होती है—बीच मे नही टूटती, वह अनपवर्तनीय आयु हे। अपवर्तनीय और अनपर्वतनीय आयु का बध स्वाभाविक नहीं है। यह परिणामो के तार—तम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म मे बधती हे। आयु बध के समय यदि परिणाम मद हो तो आयु का बध शिथिल होता है। इससे निमित्त पाने पर बध काल की काल मर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि आयु बध के समय परिणाम, तीव्र हो तो आयु का बध प्रगाढ होता है। बध के प्रगाढ होने से निमित्त पाने पर भी बध—काल की काल—मर्यादा कम नहीं होती। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम होती है अर्थात् इसमें विष, शस्त्र

आदि का निमित्त प्राप्त होता है ओर उस निमित्त को पाकर जीव नियत समय के पूर्व ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। किन्तु अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम एव निरूपक्रम दोनो प्रकार की होती है। सोपक्रम आयु वाले को अकाल मृत्यु योग्य विष, शस्त्र आदि का सयोग होता है और निरूपक्रम आयु वाले को नहीं होता। विष, शस्त्र आदि का निमित्त मिलना उपक्रम कहा जाता है। अपवर्तनीय आयु शीघ्र ही समय से पहले भोग ली जाती है अत उसमे शस्त्र आदि की नियमत आवश्यकता पडती है। अनपवर्तनीय आयु बीच मे नहीं टूटती। उसके पूरी होते समय यदि शस्त्र आदि निमित्त प्राप्त हो जाय तो उसे सोपक्रम कहा जायेगा, यदि निमित्त प्राप्त न हो तो निरूपक्रम। देवता, नारकी, असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच और मनुष्य, उत्तम पुरुष (तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि) तथा चरम शरीरी (उसी भव में मोक्ष जाने वाले) जीव अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं और शेष जीव दोनो प्रकार की आयु वाले होते हैं।

नाम की विचित्रताएँ

मुझे ज्ञात हे कि नाम कर्म एक चित्रकार के समान होता है। जैसे चित्रकार विविध वर्णो से अनेक प्रकार के सुन्दर–असुन्दर रूपमय चित्र बनाता है, उसी प्रकार यह नाम कर्म जीव को सुन्दर–असुन्दर आदि अनेक रूप धारण करवाता है। नाम कर्म वह कर्म है जिसके उदय से जीव नारक, तिर्यंच आदि नामो से सम्बोधित होता हे जैसे कि अमुक जीव देव है, अमुक नारकी है, अमुक तिर्यंच है, अमुक मनुष्य है आदि। यह कर्म जीव को विचित्र पर्यायो मे परिणत करता है या गति आदि पर्यायो का अनुभव करने के लिये करता है।

नाम कर्म के मूल भेद बयालीस कहे गये हैं—चोदह पिड प्रकृतिया, आठ प्रत्येक प्रकृतिया, दस त्रसदशक तथा दस स्थावरदशक। चौदह पिड प्रकृतिया इस प्रकार हैं—

(1) गति—गति नामक नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्याय। यह चार प्रकार की है—(अ) नरक गति, (ब) तिर्यंच गति, (स) मनुष्य गति तथा (द) देवगति।

(2) जाति—अनेक मे एकता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को जाति कहते है। जैसे गोत्व (गाय पना) सभी भिन्न–भिन्न वर्णो की गोत्वो मे एकता का बोध कराता हे। इसी प्रकार एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय आदि जीवो मे एक, दो या इसी प्रकार इन्द्रियो की प्राप्ति से समानता का बोध होता है, इसलिये एकेन्द्रिय आदि जाति कहलाती है। जाति के पाच भेद हैं—(अ) एकेन्द्रिय—केवल

एक ही इन्द्रिय–स्पर्शेन्द्रिय के धारक जीवो की जाति, जेसे पृथ्वी, पानी आदि। (ब) द्विन्द्रिय–जिनके स्पर्श और रसना रूप दो इन्द्रिया होती हें जैसे लट, सीप, अलसिया वगेरा। (स) त्रिन्द्रिय–जिन जीवो के स्पर्श, रसना ओर नासिका–ये तीन इन्द्रिया हो जेसे चींटी, मकोडा आदि। (द) चतुरिन्द्रिय–जिन जीवो को श्रोत्रेन्द्रिय के सिवाय अन्य चारो इन्द्रिया प्राप्त हो उन जीवो की जाति, जैसे मक्खी, मच्छर, भवरा वगेरा तथा (य) पचेन्द्रिय–जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, नासिका, चक्षु ओर श्रोत्र ये पाचो इन्द्रिया हो वे पचेन्द्रिय हें, जेसे गाय, भैंस, सर्प, मनुष्य आदि।

(3) शरीर–जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्णशीर्ण होता रहता है तथा शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, ये शरीर पाच प्रकार के होते हैं– (अ) औदारिक–उ़दार अर्थात् स्थूल पुद्गलो से बना हुआ शरीर। यह अन्य शरीरो की अपेक्षा अवस्थित रूप से बडे परिमाण वाला होता है। इसके प्रदेश अल्प, पर परिमाण बडा होता है जो मास, रुधिर, अस्थि से बना होता है। यह शरीर मनुष्य और तिर्यचो के होता है। (ब) वेक्रिय–जिस शरीर से विविध व विशिष्ट क्रियाए होती हैं अर्थात् जो एक रूप होकर अनेक रूप धारण कर सकता है, छोटे से बडा तथा बडे से छोटा शरीर बना सकता हे। इस शरीर से पृथ्वी या आकाश पर चला जा सकता है। दृश्य–अदृश्य रूप बनाये जा सकते हैं। यह शरीर दो प्रकार का होता है–औपपातिक एव लब्धि प्रत्यय। जन्म से वेक्रिय शरीर मिले वह औपपातिक तथा तप आदि लब्धि से मिले वह लब्धि प्रत्यय। देवो व नारकीयों का वैक्रिय शरीर औपपातिक होता है तथा मनुष्य या तिर्यच इसके लब्धि–प्रत्यय रूप को प्राप्त कर सकते हें। (स) आहारक–प्राणी दया तीर्थकर भगवान की ऋद्धि का दर्शन तथा सशय निवारण आदि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधारी मुनिराज महाविदेह क्षेत्र आदि मे विराजमान तीर्थकर भगवान के समीप भेजने के लिये लब्धि विशेष से अतिविशुद्ध, स्फटिक के समान एक हाथ का जो पुतला निकालते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है। (द) तैजस–तेज पुदगलो से बना हुआ शरीर जो प्राणियो के शरीर मे ऊष्णता रूप होता है। यह शरीर आहार का पाचन करता है। इसी शरीर के कारण तपविशेष से तैजस लब्धि प्राप्त होती है। (य) कार्मण–कर्मो से बना हुआ शरीर जो जीव के प्रदेशों के साथ आठ प्रकार के कर्म पुद्गल रूप लगा हुआ होता है। यह शरीर ही सव शरीरो का बीज है। क्रम स 1 से 3 के शरीर क्रमश अधिक सूक्ष्मतर होते हैं तथा क्र स 4 से 5 के शरीर सभी ससारी जीवो के होते हैं। इन दोनो शरीरों

के साथ ही जीव मरण स्थान को छोड कर उत्पत्ति स्थान को जाता हे। इन दोनो शरीरो से मुक्ति तो मोक्ष मे जाने वाले की ही होती हे।

(4) अगोपाग—इस नाम कर्म के उदय से प्राप्त शरीर के विभिन्न अग या उपाग प्राप्त होते हैं। ये तीन होते हैं—औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक।

(5) बधन—जिस प्रकार लाख, गोद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजे आपस मे जोड दी जाती है, उसी प्रकार जिस नाम कर्म से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलो के साथ वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाले शरीर पुद्गल परस्पर बध को प्राप्त होते हें। इस नाम कर्म के पाच भेद हैं— (अ) ओदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म, (ब) वैक्रिय शरीर बधन, (स) आहारक शरीर बधन (द) तैजस शरीर बधन तथा (य) कार्मण शरीर बधन। पहले के तीन शरीरो मे उत्पत्ति के समय सर्वबध तथा बाद मे देश बध होता है। तैजस और कार्मण शरीर की नवीन उत्पत्ति न होने से उनमे सदा देशबध ही होता है।

(6) सघात—जो नाम कर्म गृहित और ग्रह्यमाण शरीर पुद्गलो को परस्पर सन्निहित कर व्यवस्था से स्थापित कर देता है, वह सघात नाम कर्म है। यह भी पाच शरीरो के रूप से पाच भेद वाला होता हे।

(7) सहनन—शरीर की हड्डियो की रचना विशेष को सहनन कहते हें। यह रचना छ प्रकार की होती है—(अ) वज्र ऋषभ नाराच सहनन—जिस सहनन मे दोनो ओर से मर्कट बध द्वारा जुडी हुई दो हड्डियो पर तीसरी पट्ट की आकृति वाली हड्डी का चारो ओर से वेष्टन हो ओर जिसमे इन तीनो हड्डियो को भेदने वाली वज्र नामक हड्डी की कील हो। (ब) ऋषम नाराच सहनन—उपरोक्त प्रकार मे जब वज्र नामक हड्डी की कील न हो। (स) नाराच सहनन—पहले प्रकार मे जब कील ओर वेष्टन पट्ट भी न हो (द) अर्ध नाराच सहनन—जब एक ओर मर्कट बध हो ओर दूसरी ओर कील हो। (य) कीलिका सहनन—जिसमे हड्डिया केवल कील से जुडी हुई हो तथा (फ) सेवार्त्रक सहनन—जिसमे हड्डिया, पर्यन्त भाग मे एक दूसरे को स्पर्श करती हुई रहती हे ओर सदा चिकने पदार्थ की अपेक्षा रखती हे।

(8) सस्थान—शरीर के आकार को सस्थान कहते हें। इसके भी छ भेद हें—(अ) समचतुरस्र पालथी मार कर बेठने पर आकार चार समकोण के समान हो। (ब) न्यग्रोध परिमडल सस्थान—वट वृक्ष की तरह ऊपर से विस्तृत तथा नीचे से सकुचित आकार का हो। (स) सादि सस्थान—नाभि से नीचे का भाग पूर्ण तथा ऊपर का भाग हीन हो। (द) कुब्ज सस्थान—हाथ, पेर गर्दन आदि ठीक हो लेकिन पेट—पीठ टेढे हो। (य) वामन सस्थान—पेट—पीठ के

अवयव ठीक हो लेकिन हाथ पेर आदि छोटे हो। तथा (फ) हुडक सस्थान—समस्त अव्यय बेढब हों।

(9) वर्ण—मूल वर्ण पाच—काला, नीला, लाल, पीला, सफेद ही होते हैं, बाकी सब इनके सयाग से बनते हैं।

(10) गध—जिस कर्म के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गध हो। यह दो प्रकार की होती है—सुरभिगध तथा दुरभिगध।

(11) रस—रस भी मूल रूप से पाच प्रकार के होते हैं—तीखा, कड़ुआ, कषेला, खट्टा तथा मीठा। शेष रस इन्ही के सयोग से बनते हैं।

(12) स्पर्श—जिस कर्म के उदय से शरीर मे कोमल रूक्ष आदि स्पर्श प्राप्त हो। स्पर्श आठ प्रकार के हैं—गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, ऊष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

(13) आनुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति से अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुचता है। यह नाम कर्म नाथ के समान होता है जिससे इधर उधर भटकते हुए बेल को इष्ट स्थान पर ले जाया जाता है। गति के नाम मे ही इसके चार भेद होते हैं।

(14) विहायोगति— जिस कर्म के उदय से जीव की गति (चाल) हाथी या बैल के समान शुभ अथवा ऊट या गधे के समान अशुभ होती है। इसके दो भेद हें—शुभ विहायोगति एव अशुभ विहायोगति।

आठ प्रत्येक प्रकृतिया निम्नानुसार होती हें—

(1) पराघात—जिसके उदय से जीव बलवानो के लिये भी अजेय हो।

(2) उच्छवास—जब श्वासोश्वास लब्धि से युक्त हो।

(3) आतप—जब जीव का शरीर स्वय ऊष्ण न होकर ऊष्ण प्रकाश फेलाता हो।

(4) उद्योत—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीत प्रकाश फेलाता है।

(5) अगुरुलघु—जव जीव का शरीर न भारी होता है और न हल्का अर्थात् सन्तुलित होता हे।

(6) तीर्थकर—जिस कर्म के उदय से जीव तीर्थकर पद पाता है।

(7) निर्माण—जब जीव के शरीर के सभी अग ओर उपाग यथास्थान व्यवस्थित हो।

(8) उपघात—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवो से क्लेश पाता हे जेसे प्रति जिह्वा, चोर दात, छठी अगुली आदि।

त्रसदशक की दस प्रकृतियो का स्वरूप निम्न प्रकार है—

(1) त्रस—जो जीव सर्दी—गर्मी से अथवा अपना बचाव करने के लिये एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं वे त्रस कहलाते हैं। एकेन्द्रिय के सिवाय सभी त्रस जीव होते हैं।

(2) बादर—जिस कर्म के उदय से जीव बादर अर्थात् सूक्ष्म होते हैं।

(3) पर्याप्ति—आहार आदि के लिये पुद्गलो को ग्रहण करने तथा उन्हे आहार, शरीर आदि रूप परिणमाने की आत्मा की शक्ति विशेष को पर्याप्ति कहते हैं। यह छ प्रकार की है—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा ओर मन।

(4) प्रत्येक—जिस कर्म के उदय से जीव मे पृथक—पृथक शरीर होता है।

(5) स्थिर— जब शरीर के अवयव स्थिर निश्चल होते हैं।

(6) शुत्र—नाभि से ऊपर के अवयव जब शुत्र होते हैं।

(7) सुभग—जब किसी उपकार या सम्बन्ध के बिना ही जीव सबका प्रीतिपात्र हो।

(8) सुस्वर—जब जीव का स्वर मधुर ओर प्रीतिकारी हो।

(9) आदेय—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो।

(10) यश कीर्ति—जिस कर्म के उदय से ससार मे जीव की यश—कीर्ति का प्रसार हो।

स्थावरदशक प्रकृतियों का स्वरूप ठीक त्रसदशक की प्रकृतियो के विपरीत होता हे, जो इस प्रकार हें—(1) स्थावर (2) सूक्ष्म (3) अपर्याप्ति (4) साधारण (5) अस्थिर (6) अशुभ (7) दुर्भग (8) दु स्वर (9) अनादेय तथा (10) अयशकीर्ति।

नामकर्म की पिड प्रकृतियो के उत्तर भेद गिनने पर तिरानवे प्रकृतिया होती हैं। यों नाम कर्म क सक्षिप्त दो भेद हैं—शुभ तथा अशुभ। शुभ नाम कर्म के बध—कारण हें—(1) काया की सरलता। (2) भाव की सरलता (3) भाषा की सरलता तथा (4) अविसवादन योग—कथनी करनी के भेद को विसवादन कहते है ओर अविसवादन का अर्थ है एकरूपता। शुभ नाम कर्म मे तीर्थकर

नाम कर्म भी सम्मिलित हैं जिसे बाधने के ये कारण हो सकते हैं—(1) अरिहत, (2) सिद्ध, (3) प्रवचन, (4) गुरु, (5) स्थविर, (6) बहुश्रुत और (7) तपस्वी मे भक्ति भाव रखना, इनके गुणो का कीर्तन करना तथा इनकी सेवा करना। (8) निरन्तर ज्ञान मे उपयोग रखना, (9) निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना, (10) निर्दोष रूप से ज्ञान आदि विनय का सेवन करना, (11) निर्दोष आवश्यक क्रिया करना, (12) मूल गुणो व उत्तर गुणो मे अतिचार नही लगाना, (13) सदा—सवेग भाव और शुभ ध्यान मे लगे रहना। (14) तप करना, (15) सुपात्रदान देना, (16) दस प्रकार की वैयावृत्य करना, (17) गुरु आदि की समाधि हो वैसा काम करना, (18) नवीन ज्ञान सीखना, (19) श्रुत का बहुमान करना तथा (20) प्रवचन की प्रभावना करना।

अशुभ नाम कर्म इन कारणो से बधता है—(1) काया की वक्रता (2) भाषा की वक्रता (3) मन की वक्रता तथा (4) विसवादन योग।

शुभ नाम कर्म का चौदह प्रकार का अनुभाव होता है—(1) इष्ट शब्द (2) इष्ट रूप (3) इष्ट गध (4) इष्ट रस (5) इष्ट स्पर्श (6) इष्ट गति (7) इष्ट स्थिति (8) इष्ट लावण्य (9) इष्ट यशकीर्ति (10) इष्ट उत्थान बलवीर्य पुरुषाकार पराक्रम (11) इष्ट स्वरता (12) कान्त स्वरता (13) प्रिय स्वरता तथा (14) मनोज्ञ स्वरता। अशुभ नाम कर्म के अनुभाव भी चौदह प्रकार के हैं किन्तु इनसे विपरीत होते हैं। दोनो प्रकार के नाम कर्म अनुभाव स्वत भी होता है तथा परत भी होता है।

गौत्र की नीचोच्चता

मैं ऊचा हू या नीचा हू—यह भेदस्थिति गौत्र कर्म के प्रभाव से होता है। इस कर्म के उदय से जीव ऊच—नीच शब्दो से सम्बोधित किया जाता है तथा जाति, कुल आदि की अपेक्षा छोटा बडा कहा जाता है, गोत्र कर्म को एक कुमकार के समान कहा गया है। जैसे कुम्हार कई घडो को इस तरह बनाता है कि लोग उनकी प्रशसा करते हैं तथा कलश मान कर अक्षत चन्दन से पूजा करते हें। किन्तु वह कई घडे ऐसे भी बनाता है जिनमे मदिरा आदि भरी जाने के कारण वे निंध होते हें। ऊच—नीच के भेद इसी कुमकार की तरह गौत्र कर्म बनाता हे। उच्च गोत्र के उदय से जीव धन, रूप आदि से हीन होता हुआ भी ऊचा माना जाता है और नीच गौत्र के उदय से धन, रूप आदि से सम्पन्न होते हुए भी वह नीच ही माना जाता है।

जीव उच्च गोत्र कर्म का बध आठ प्रकार के मद (अभिमान) नही करने स करता हे जो इस तरह हैं—(1) जाति का मद, (2) कुल का मद, (3) बल

का मद (4) रूप का मद, (5) तप का मद, (6) श्रुत का मद, (7) लाभ का मद ओर (8) ऐश्वर्य का मद। इसके विपरीत जो इन आठो स्थितियो का अभिमान करने वाला होता हे, वह नीच गोत्र कर्म का बध करता है। उच्च या नीच गौत्र कार्मण शरीर नाम कर्म के उदय से भी उच्च या नीच गौत्र का बध होता है।

उच्च गौत्र का अनुभाव आठ प्रकार से होता है–(1) जाति विशिष्टता (2) कुल विशिष्टता (3) बल विशिष्टता (4) रूप विशिष्टता (5) तप विशिष्टता (6) श्रुत विशिष्टता (7) लाभ विशिष्टता और (8) ऐश्वर्य विशिष्टता। यह अनुभाव स्वत भी होता है तथा परत भी। एक या अनेक बाह्य द्रव्य आदि रूप पुद्गलो का निमित्त पाकर जीव उच्च गौत्र कर्म भोगता है। राजा आदि विशिष्ट पुरुषो द्वारा अपनाये जाने से नीच जाति और कुल मे उत्पन्न हुआ पुरुष भी जाति–कुल सम्पन्न की तरह माना जाता है। दिव्य फलादि के आहार रूप पुद्गल परिणाम से भी जीव उच्च गौत्र कर्म का भोग करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल परिणाम के निमित्त से भी जीव उच्च गोत्र कर्म का अनुभव करता है। जैसे किसी ने अकस्मात् बादलो के आने की बात कही और सयोगवश बादलो के आ जाने से बात मिल गई। यह परत अनुभाव हुआ। उच्च गौत्र कर्म के उदय से विशिष्ट जाति कुल आदि का भोग करना–यह स्वत अनुभाव है।

नीच गौत्र कर्म का वेदन जीव नीच कर्म का आचरण, नीच पुरुष की सगति इत्यादि रूप एक या अनेक पुद्गलो का सम्बन्ध पाकर करता है। जातिवन्त और कुलीन पुरुष भी अधम जीविका चला कर या दूसरा नीच कार्य करके निन्दनीय हो जाता है। पुद्गल परिणाम तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी नीच गोत्र कर्म का परत अनुभाव प्राप्त होता है। नीच गौत्र कर्म के उदय से जातिहीन कुलहीन आदि होना स्वत अनुभाव हे।

अवरोधी अन्तराय

मेरा अनुभव है कि अन्तराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य आदि शक्तियो को अवरुद्ध बनाकर उनकी घात करता है। मेरे दान, लाभ आदि कार्यो मे जो बाधाए तथा रुकावटे आती हैं, वे इसी कर्मोदय के कारण आती हें। इस कर्म को भडारी के समान माना गया है कि राजा कोई पुरस्कार देने की आज्ञा दे दे किन्तु भडारी के विरुद्ध होने से वह आज्ञा कार्यान्वित न हो सके और याचक को खाली हाथ लौटना पडे। राजा की इच्छा को भी भडारी सफल नहीं होने देता। इसी प्रकार जीव राजा है, दान देने की उसकी इच्छा है, साधन भी उसके पास है किन्तु भडारी के समान यह अन्तराय कर्म

उसमे रुकावट डाल देता है। ओर जीव विवशतावश होकर कुछ भी नहीं कर पाता है।

अन्तराय कर्म के पाच भेद बताये गये हें–

(1) दानान्तराय–दान की सामग्री तैयार है, गुणवान पात्र आया हुआ है, दाता दान का फल भी जानता है फिर भी इस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नही होता या दान के बीच मे कोई अवरोध खडा हो जाता है। यह दानान्तराय का कुप्रभाव होता है।

(2) लाभान्तराय–योग्य सामग्री के रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, वह लाभान्तराय कर्म है। लाभ पाने के बीच मे रुकावट आ जाती है और लाभ नही मिलता।

(3) भोगान्तराय–त्याग, प्रत्याख्यान के न होते हुए तथा भोगने की इच्छा रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव विद्यमान स्वाधीन भोग सामग्री का कृपणतावश या अन्य बाधा से भोग न कर सके, वह भोगान्तराय कर्म हे।

(4) उपभोगान्तराय–जिस कर्म के उदय से जीव त्याग–प्रत्याख्यान न होते हुए तथा उपभोग की इच्छा रहते हुए भी विद्यमान स्वाधीन उपभोग सामग्री का कृपणतावश या अन्य बाधा से उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय कर्म है।

(5) वीर्यान्तराय–शरीर निरोग हो, तरुण अवस्था हो, बल का भी सयोग हो फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव प्राणशक्ति रहित होता हे तथा सत्त्वहीन की तरह प्रवृत्ति करता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है। इसके तीन भेद बताये गये हैं–(अ) बाल वीर्यान्तराय–समर्थ होते हुए और चाहते हुए भी जिसके उदय से जीव सासारिक कार्य नही कर सके, वह बाल वीर्यान्तराय कर्म है। (ब) पडित वीर्यान्तराय–सम्यक् दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखता हुआ भी जिस कर्म के उदय से जीव मोक्ष–प्राप्ति के योग्य, क्रियाए न कर सके, वह पडित वीर्यान्तराय हे। (स) बाल–पडित वीर्यान्तराय–देशविरति रूप श्रावक धर्म की आराधना की चाह रखते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव श्रावक की क्रियाओ का पालन न कर सके, वह बाल–पडित वीर्यान्तराय कर्म हैं। अन्तराय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त तथा उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है।

अन्तराय कर्म के वध के भी पाच ही कारण हैं–(1) दान मे अन्तराय या बाधा डालना (2) लाभ मे बाधा डालना (3) भोग मे वाधा डालना (4)

उपभोग मे बाधा डालना तथा (5) वीर्य–प्राण शक्ति मे बाधा डालना। अन्तराय कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव अन्तराय कर्म बाधता है।

अन्तराय कर्म का अनुभाव भी दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य मे विघ्न बाधा होने रूप पाच प्रकार का है। यह अनुभाव स्वत भी होता है तथा परत भी। परत अनुभाव पुद्गल निमित्त, पुद्गल परिणाम तथा स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से होता है तो स्वत अनुभाव अन्तराय कर्म के उदय से दान, भोग आदि मे अन्तराय रूप फल के भोगने से होता है।

जो जैसा करता है, वैसा भरता हे

मैं अनुभव करता हू कि ससार मे अष्ट कर्मो का स्वचालित शासन इतना सन्तुलित एव सुव्यवस्थित है कि कहीं कोई व्यवधान उत्पन्न नही होता है, बल्कि यह शासन समता–भाव का प्रतीक भी है जहा किसी के साथ पक्षपात या भेदभाव होने की कोई सभावना ही नहीं है। जो जेसा करता है, वैसा भरता हे। करने के वक्त यह स्वतत्र होता है किन्तु भरने (फल भोग के समय) के वक्त भरे बिना किसी हालत में छुटकारा नही होता यानि कि उस भरने मे किसी की कोई मदद भी नही चलती। स्वय करो–यह पुरुषार्थ का विषय है ओर स्वय ही भोगो–इसे भाग्य भी मान सकते हें क्योकि कर्मवाद का यह सिद्धान्त भाग्य और पुरुषार्थ का सुन्दर समन्वय है तथा विकास के लिये इसमे विशाल क्षेत्र है।

कर्मो की सफलता के सम्बन्ध मे मुझे वे आप्त वचन याद आते हैं जिनमे कहा कहा गया है कि प्राणियो के सभी अनुष्ठान फल सहित होते हैं। फल भोग किये बिना उनसे छुटकारा नही होता क्योकि वे कर्म अपना फल अवश्य देते हें। जेसे सधिमुख पर चोरी करते हुए पकडा गया चोर अपने चोर्य कार्य से दु ख पाता हे, वैसे ही यहा और परलोक मे जीव स्वकृत कर्मो से ही दु ख भोगते हैं। फल भोगे बिना कृत कर्मो से मुक्ति नहीं हो सकती है। यह आत्मा अपने कर्मो के अनुसार कभी देवलोक मे कभी नरक मे और कभी असुरो मे आदि विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होती रहती है। पापी जीव का दु ख न जाति वाले बटा सकते हैं ओर न मित्र लोग ही। पुत्र एव भाई बधु भी उसके दु ख के भागीदार नही होते। केवल पाप करने वाला अकेला ही दु ख भोगता है क्योकि कर्म कर्त्ता ही के साथ जाते हैं। द्विपद चतुष्पद, क्षेत्र, घर, धन, धान्य–इन सभी को यही छोडकर परवश हो यह आत्मा अपने कर्मो के साथ परलोक में जाती हे और वहा अपने कर्मो के अनुसार अच्छा या बुरा भव प्राप्त करती है।

मैं समझ गया हू कि आठो कर्मो के बध के कोन–कौनसे कारण है ओर उन्हे जानकर यह भी समझ गया हू कि किस प्रकार में इन कारणो को रोकने मे समर्थ हू ? यही सामर्थ्य मुझे आठो कर्मो से विलग कर सकता है। यदि में कर्मो के बध को ही रोकने लग जाऊ तो फिर ये कर्म मेरा कुछ भी नहीं बिगाड सकेगे। तब में अपनी सवर साधना के माध्यम से आते हुए कर्मो को रोक सकूगा तो पहले के बधे हुए कर्मो को क्षय करने की दिशा मे भी अपने पुरुषार्थ को लगा सकूगा। इस क्रमिक प्रक्रिया की सफलता के साथ में आशा कर सकता हू कि एक दिन में अपनी बद्ध आत्मा को बुद्ध तथा सिद्ध भी बना सकूगा।

मैं जान गया हू कि सामान्य रूप से आयु कर्म के सिवाय सभी सातो कर्मो का बध एक साथ होता है। इनके क्रम का कारण यह है–ज्ञान ओर दर्शन जीव के स्वतत्व रूप हें क्योकि इनके बिना जीवत्व की उत्पत्ति ही नही होती हे। जीव का लक्षण चेतना–उपयोग है और उपयोग ज्ञान–दर्शन रूप होता है। ज्ञान और दर्शन मे भी ज्ञान प्रधान है। ज्ञान से ही वैचारिकता जागती है तथा लब्धिया प्राप्त होती हैं और जिस समय जीव सकल कर्मो से मुक्त हो जाता है तब वह ज्ञानोपयोग वाला ही हो जाता है। इसी कारण ज्ञान के आवरक कर्म को पहले क्रम पर रखा गया है। ज्ञानोपयोग से गिरा हुआ जीव दर्शनोपयोग मे स्थित होता हे अत दूसरा क्रम दर्शनावरणीय कर्म का है। ये दोनो कर्म अपना फल देते हुए यथायोग्य सुख–दु ख रूप वेदनीय कर्म मे निमित्त होते हैं, इसलिये इसका तीसरा क्रम है। वेदनीय कर्म दृष्ट वस्तुओं के सयोग मे सुख तथा अनिष्ट वस्तुओ के सयोग मे दु ख उत्पन्न करता है जिसके कारण राग और द्वेष के भाव पेदा होते हैं। ये राग ओर द्वेष के भाव ही मोह के कारण हैं, अत चौथे क्रम पर मोहनीय कर्म रखा गया है। मोहनीय कर्म से मूढ हुए प्राणी महारम्भ, महापरिग्रह आदि मे आसक्त होकर नरक आदि का आयुष्य बाधते हैं इसलिये बाद में आयु कर्म का क्रम है। आयु कर्म के बाद नाम व गौत्र की रचना होती है तथा अन्तराय की स्थिति पैदा होती हे। अत इस क्रमिकता के अनुसार ही आठो कर्मो का क्रम है।

मैं यह भी जान गया हू कि मेरी आत्मा को जन्म–मरण के चक्र मे घुमाने वाला कर्म ही हे। यह कर्म मेरे ही अतीत के कार्यो का अवश्यभावी परिणाम है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियो का कर्म ही प्रधान कारण हे। मेरी वर्तमान अवस्थाए किसी बाह्य शक्ति की बनाई हुई या दी हुई नहीं हैं। यह पूर्व जन्म या वर्तमान जन्म में मेरे ही किये हुए कर्मो का फल हे। मैं जो

कुछ भी अभी घटित होते हुए देखता हू, वह मेरी ही किसी अन्तरग अवस्था का परिणाम होता हे। मैं जो कुछ पाता हू, वह मेरी ही अपनी खेती का फल हे । मैं जैसा बोता हू, वही काटता हू। या यो कहू कि मेंने जैसा किया है, वैसा भरता हू और जेसा अभी करता हू, वेसा आगे भरूगा। मैं ही अपने बनने वाले भाग्य का नियन्ता हू। में जब अपने भाग्य को दोष देता हू तो यह भी मुझे समझना चाहिये कि वह दोष मेरा ही है। इस समझ से मेरे भीतर यह ज्ञान जागेगा कि मुझे जैसा आगे अपना भाग्य चाहिये, वैसा ही पुरुषार्थ मैं आज करू। में पूर्ण रूप से स्वतत्र हू कि मैं अपने भाग्य को आज किस रूप मे ढालू। अष्ट कर्मों के इस विश्लेषण ने मुझे जगा दिया है कि मैं अपनी अज्ञानता को समाप्त करू, अपने पुरुषार्थ को क्रियाशील बनाऊ तथा अपनी स्वरूप–विकृति को परिमार्जित करने लगू। में अपने मन, वचन तथा कर्म की तुच्छता–हीनता को समझू, उससे अपने आपको लज्जित अनुभव करू एव तुच्छता के स्थान पर उदारता व उच्चता की प्रतिष्ठा करने के सत्प्रयास मे सलग्न बन जाऊ। में जान गया हू कि क्या तुच्छता धर्माराधना मे प्रवृत्ति करने से ही मिट सकेगी। ससार के सभी प्राणियों के प्रति जो मेरी हीन–भावना हे, वह स्वार्थवश हे ओर जब धर्म की सच्ची आराधना से स्वार्थपूर्ण मेरा ममत्व घटेगा, तो मेरी आन्तरिकता मे सबके प्रति उदार भाव का सचार होगा। यह उदार–भाव एक ओर मेरी त्याग वृत्ति को उभारेगा तो दूसरी ओर मेरे त्याग को दूसरे प्राणियो के प्रति सहानुभूति एव सहयोग के रूप में नियोजित करने की प्रेरणा प्रदान करेगा। मेरा त्याग भाव जितने अशो मे प्रबलता ग्रहण करता जायेगा, लोकोपकार एव लोक कल्याण मे मेरी वृत्ति और प्रवृत्ति गहरी होती जायेगी।

मेरा अनुभव है कि जब मैं लोकोपकार के कार्यो मे तल्लीन होता जाऊगा तो मेरा 'मैं' विराट् स्वरूप लेता जायेगा, तब 'मैं' मात्र 'में' मे ही सीमित नही रह जाऊगा वल्कि मेरा 'में', सम्पूर्ण विश्व मे विस्तृत हो जायगा तथा सम्पूर्ण प्राणियो की आत्माओ के साथ मत्री भाव मे समा कर एकाकार–सा हो जायगा। वह मेरी हीन भावना के विसर्जन की अवस्था होगी।

आत्मीय समानता का संदेश

मेरी गूढ वैचारिकता जब कर्म सिद्धान्त के मर्म मे गहरे पैठती हे तो मेरा यह अनुभव होता है कि इस सिद्धान्त के साथ ही आत्माओ की समानता तथा महानता का सन्देश जुडा हुआ है। मेरी अनुभूति स्पष्ट होती है कि मेरी आत्मा किसी रहस्यपूर्ण शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति या इच्छा के अधीन नहीं है एव

अपन सकल्पो तथा अपनी अभिलाषाओ की पूर्ति के लिये मुझे किसी का भी दरवाजा खटखटाने की जरूरत नही हे। अपने पापो का नाश करने के लिये और अपने उत्थान के लिये मुझे किसी भी शक्ति के आगे न तो दया की भीख मागने की आवश्यकता हे और न ही उसके आगे रोने या गिडगिडाने की आवश्यकता है।

मेरे सामने कर्मवाद का यह मतव्य साफ हो जाता हे कि ससार की सभी आत्माए एक समान हैं तथा सभी आत्माओ में एक समान ही शक्तिया रही हुई हें। इस ससार मे सभी आत्माओ के बीच मे जो भेद—भाव दिखाई देता है, वह उनकी मूल शक्तियों के कारण नहीं अपितु उन शक्तियो के न्यूनाधिक विकास के कारण है। यह विकास अपने अपने पुरुषार्थ पर निर्भर होता हे।

आत्मिक विकास की चरम सीमा का भी मुझे ज्ञान हो गया हे कि मैं आत्मा हू ओर मुझे परमात्मा बनना है। आत्मा ओर परमात्मा की स्थिति के बीच जो अन्तर है वही कर्मो के आवरण है। कर्मो के इन बादलो को अगर में छटाकर हटा दू तो फिर मेरी आत्मा रूप सूर्य को प्रकट होने से कौन रोक सकता हे ? यह सूर्य रूप ही सिद्ध रूप का प्रतीक है। आज मेरी आत्म—शक्तिया विभिन्न कर्मो से आवृत्त बनी हुई हैं, अविकसित हें एव परिग्रह से मूर्च्छाग्रस्त हैं। मुझे अपने ही आत्मबल को विकसित बनाकर अपनी इन शक्तियो का विकास करना है। इसी विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुच कर में परमात्म—स्वरूप को प्राप्त कर सकता हूँ। अपने इस पूर्ण विकास के लक्ष्य को स्थिर बनाने मे मुझे कर्मवाद से ही अपूर्व प्रेरणा मिलती है।

मैं महसूस करता हू कि अन्य प्राणियो के समान मेरा जीवन भी विघ्न—बाधाओ, दु खो व आपत्तियो से भरा हुआ हे। जब ये मुझे घेर लेती हें तो में घवरा उठता हू और मेरी बुद्धि अस्थिर बन जाती हे। में दो पाटो के बीच मे फस जाता हू क्योकि एक ओर तो बाहर की प्रतिकूल परिस्थितियॉ मुह बाए खडी होती हैं, तो दूसरी ओर चिन्तित व तनावग्रस्त बनकर मैं अपनी अन्तरग अवस्था को भी बिगाड लेता हू। परिणामस्वरूप प्रतिकूल परिस्थितियो से सफल सघर्ष करने का मेरा सन्तुलन भी विगड जाता है। ऐसी दुर्बल वनी मनोदशा मे भूल पर भूल करते हुए चले जाना जैसे मेरा स्वभाव वन जाता है। ऐसी अवस्था मे कभी—कभी हताशा मुझे इतनी बुरी तरह से झकझोर डालती है कि मैं अपने हाथो मे लिये हुए सत्कार्य को छोड बैठता हूँ। जव दु खो का क्रम चल पडता है तो में अपना धीरज भी छोड सकता हूँ ओर रोने –चिल्लाने लग जाता हूँ। उस दवी हुई विचार स्थिति मे मैं यही समझने लग जाता हूँ

कि बाह्य निमित्त ही मुझे दु ख देने वाले हैं। इसलिये मैं बाह्य परिस्थितियो तथा उनके निमित्त बनने वाले व्यक्तियो को कोसता और दोष देता हूँ। इस सम्बन्ध मे में अब समझ गया हूँ कि यह व्यर्थ का दोषारोपण मुझे व्यर्थ के क्लेश मे फसा देता है ओर उस रूप मे में अपने लिये व्यर्थ ही मे एक नये दु ख को खडा कर लेता हूँ। इस प्रकार की विश्रृखलित मन स्थिति मे यह कर्मवाद का सिद्धान्त मेरा सच्चा शिक्षक बन जाता है ओर मुझे पथभ्रष्टता से बचाता है कि हे आत्मन्, तू अपना भ्रम छोड दे और इस सत्य को समझले कि तू ही अपने भाग्य का प्रणेता हे। सुख और दु ख तेरे अपने ही किये हुए हैं। कोई भी बाह्य शक्ति न तुझे सुखी बना सकती है और न दु खी। जैसे वृक्ष के अस्तित्व का मूल कारण बीज होता है तथा पृथ्वी, पवन, पानी तो उसके निमित्त मात्र होते हैं। उसी प्रकार दु ख का बीज तेरे अपने पूर्वकृत कर्मो मे रहा हुआ है और ये बाह्य व्यक्ति या साधन तो निमित्त मात्र हैं। न इनको क्लेशित कर और न स्वय क्लेशित बन। अपनी आत्मशक्ति को ही जगा कि वह उस बीज को समाप्त कर दे–फिर कोई दु ख नहीं रह जायेगा।

यह शिक्षा और चेतावनी जब मुझे कर्मवाद के सिद्धान्त से मिलती है तब मैं सावधान हो जाता हूँ और अपने विश्वास को दृढ बना लेता हू। तब दु ख और विपत्ति के समय मेरा आकुल व्याकुल होना घट जाता है ओर विवेक भी जागता रहता है। फिर में अपने दु खो के लिये न दूसरों को दोष देता हूँ और न उन्हे क्लेशित करता हूँ। मैं तब अपने आपको निराशा के अधकार मे डूबने से भी बचा लेता हूँ। मुझे दु खो को सहने की ऐसी शक्ति मिल जाती है कि दु ख के पहाड टूट पडे तब भी मैं अपने हृदय की शान्ति तथा बुद्धि की स्थिरता को बनाये रखता हूँ और प्रतिकूल परिस्थितियो का धैर्य के साथ सामना करने मे कुशल बन जाता हूँ। पुराना कर्ज चुकाने वाले की तरह मैं शान्त भाव से कर्मो का ऋण चुकाता हू तथा कर्म–फल को उसी शान्त भाव से सह लेता हूँ। अपनी प्रत्यक्ष भूल से होने वाली बडी से बडी हानि को जिस प्रकार में शान्त भाव से सह लेता हूँ, वही सहनशीलता मैं कर्म फल भोगने मे भी स्थिर रख लेता हूँ। फिर अपने भूतकाल के अनुभवो से में अपने भविष्य–निर्माण के प्रति सजग वन जाता हूँ। इस प्रकार सुख और सफलता मे सयत रहने की मुझे ऐसी शिक्षा मिलती है कि में अपनी आत्मा को किसी भी परिस्थिति मे अनियत्रित, उच्छृखल या उद्दड वन जाने से वचा लेता हूँ।

आत्माओ की समानता के सदर्भ मे मैं यह समझ गया हूँ कि मैं विकास की इस प्रक्रिया मे स्वय घनिष्ठता से जुडू तथा अपने सम्पर्क मे आने वाले सभी प्राणियो को भी इस प्रक्रिया से जुडने की अनुप्रेरणा दू।

तुच्छता बनाम पुरुषार्थ

तुच्छता और हीनता उस मन स्थिति का नाम है, जब मनुष्य मे अमुक–अमुक कार्य करने की शक्ति तो नहीं होती, किन्तु वह वैसी शक्ति का अपने मे सद्भाव मान कर अहकार से भर जाता है। उसका अहकार थोथा होता है और थोथा चणा, बाजे घणा की उक्ति के अनुसार उसकी वह तुच्छता उसके मन, उसकी वाणी तथा उसके कर्म से बराबर फूटती रहती है। वह दूसरो को हीन इसलिये समझने लग जाता है कि वह स्वय हीनमन्यता से ग्रस्त हो जाता हे। ऐसी तुच्छता और हीनता उसकी वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे प्रवेश पाकर स्वार्थ, ममत्व तथा प्रमाद को उकसाती हे और उसे आत्म–विमुख बना देती हे। उस समय उसका पुरुषार्थ भी शिथिल ओर मलिन बन जाता है। इस रूप मे तुच्छता की वृत्ति तथा पुरुषार्थ वृत्ति परस्पर विरोधी होती है। तुच्छता बनी रहेगी तो आत्म पुरुषार्थ जागृत नही बनेगा और जब आत्म पुरुषार्थ जाग जायेगा तो फिर तुच्छता ठहर नही सकेगी। उसके स्थान पर उदारता और उच्चता का अवश्य ही विस्तार होने लगेगा। इस कारण मन, वाणी तथा कर्म की तुच्छता को मिटाना है तो अपने आत्म पुरुषार्थ को जगाना ही होगा। ऐसा जागृत बना आत्म पुरुषार्थ सबसे पहले आत्म स्वरूप के साथ बधे हुए कर्मो के क्षयोपशम के सत्प्रयास मे ही जुटेगा।

में तुच्छता एव हीनता के ओछेपन मे भटकता हुआ अपने मन, वचन तथा कर्म की नीच क्रियाओ को भुगत चुका हू क्योकि वे क्रियाए अपने साथियो को छेदने, भेदने और परिताप उपजाने वाली ही अधिक होती थी। उस समय की अपनी मनोदशा को आज जब याद करता हू तो महसूस होता है कि मैं अपनी सामान्य कार्य स्थिति से भी कितना नीचे गिर गया था और व्यर्थ मे ही नये–नये कर्मो का बध कर लेता था। अब उन्ही कर्म–बधो को तोडने के लिये मैं कठिन पुरुषार्थ करना चाहता हू।

विचारो की इस अवस्था मे मेरे मन मे एक शका पेदा होती है कि जब पूर्वकृत कर्मानुसार ही जीव को सुख–दु ख होते हैं तथा किये हुये कर्मो को भोगे विना आत्मा का छुटकारा भी सभव नहीं है तो सुख प्राप्ति तथा दु ख निवृत्ति के लिये मेरे द्वारा प्रयत्न किया जाना क्या व्यर्थ नही होगा ? भाग्य–फल को रोका नहीं जा सकता तो पुरुषार्थ की आवश्यकता ही कहा रह जाती हे ? क्या इस धारणा को लेकर कोई भी पुरुषार्थ विमुख नहीं होगा ? इन प्रश्नों के साथ ही मेरा चिन्तन चलता है कि होना हे सो होना है तथा होनी को टाल नहीं सकते हैं तो किसी भी प्रकार के प्रयत्न या पुरुषार्थ

के लिये कहा स्थान रह जाता है ? किन्तु आप्त वचन मेरी शका का सम्यक् समाधान करते हैं और मैं पुरुषार्थ की प्रक्रिया को भली-भाति जान और मान लेता हू। यह सही हे कि अच्छा या बुरा कोई भी कर्म बिना फल भोग दिये नष्ट नही होता। जो पत्थर हाथ से छूट गया है उसको वापिस नहीं लोटाया जा सकता हे। परन्तु जिस प्रकार सामने से वेग-पूर्वक आता हुआ पत्थर पहले वाले पत्थर से टकराकर उसके वेग को रोक देता है या उस की दिशा को बदल देता हे, ठीक इसी प्रकार किये हुए शुभाशुभ कर्म आत्म परिणामो की तीव्रता या मन्दता के अनुपात से न्यून या अधिक शक्ति वाले हो जाते हें, दूसरे रूप मे बदल जाते हैं और कभी-कभी निष्फल भी हो जाते हें। कर्म की एक निकाचित अवस्था ही ऐसी होती हे, जिस में कर्मानुसार अवश्य फल भोगना पडता हे। शेष अवस्थाएँ आत्म-परिणामानुसार परिवर्तनशील होती हैं। अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थ परिवर्तन ला सकता हे तथा कर्म की प्रकृति, स्थिति ओर अनुभाग को बदल सकता है। पुरुषार्थ के प्रभाव से कर्मो की सारी अवस्थाए परिवर्तित हो सकती है-एक मात्र निकाचित अवस्था ही अप्रभावित रहती है। आत्म पुरुषार्थ के बल पर एक कर्म को दूसरे कर्म मे बदला जा सकता है। लम्बी स्थिति वाले कर्म छोटी अवधि की स्थिति मे तथा तीव्र रस वाले कर्म मन्दरस मे परिणत किये जा सकते हैं। कई कर्मो का वेदन विपाक से न होकर प्रदेशो से ही हो जाता है। अत कर्मवाद का सिद्धान्त इस आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नही बनाता, बल्कि उसके पुरुषार्थ को जगाता हे कि उस पुरुषार्थ की कठोरता के बल पर पूर्व कृत कर्मो के स्वरूप को परिवर्तित कर सकते हैं। नये कर्म बाधने की दृष्टि से पुरुषार्थ ही शत-प्रतिशत मूल कारण होता है। सवर की साधना को सुदृढ बना ले। प्रत्येक स्थिति मे पुरुषार्थ तो करना ही चाहिए किन्तु यदि पुरुषार्थ सफल नहीं होता है तो धैर्य धारण कर सोचना चाहिये कि वहा कर्म की प्रबलता या निकाचितता है। किन्तु पुरुषार्थ उस स्थिति मे भी व्यर्थ नहीं होता है, क्योकि उसके प्रभाव से शेष कर्म तो छोटे ओर हल्के हो ही सकते हें। इस सम्पूर्ण विषय को चिन्तन मे लेकर मैं दृढतापूर्वक सकल्पित हो जाता हू कि सत्पुरुषार्थ को में सर्वोपरि ही मानूगा।

मेरी मान्यता दृढ हो गई है कि आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया एक ओर मेरी तुच्छता एव हीनता की वृत्तियो को उदारता और उच्चता मे परिवर्तित करेगी तो दूसरी ओर मेरे अधिकाश पूर्व कृत कर्मो को छोटे ओर हल्के रूप मे भी परिवर्तित कर देगी। इस कारण सत्पुरुषार्थ का पथ ही मेरे लिये साध्य तक पहुचाने वाला पथ है।

मुझे समझना हैं कि मेरा यह पुरुषार्थ क्या और कैसा होगा तथा वह मेरी आत्म विकास की महायात्रा के साथ कैसे जुडा हुआ रह सकेगा ? यह सत्य हे कि मेरे आत्म पुरुषार्थ का चरम साध्य अपनी आत्मा को सर्वथा कर्म बधन से मुक्त एव रहित बना देना हे ओर कर्म बधन को क्षय करने का मार्ग है श्रुतधर्म ओर चारित्रधर्म का पुरुषार्थ, यही मुक्ति का मार्ग है। किन्तु अपने चरम साध्य को दृष्टि मे रखते हुए उस दिशा मे अपने पुरुषार्थ का प्रारभ तो अपनी नई ढली क्रियाआ के साँथ ही करना होगा। जब मुझे कर्म बध के कारणो का ज्ञान हो गया है तो मेरे पुरुषार्थ का पहला चरण यही होगा कि में उन कारणो का निरोध करू याने कि अपनी क्रियाओ को इस नयेपन मे ढालू जो पाप–प्रभाव से मुक्त रहे। मेरी नई क्रियाए स्व–पर कल्याण की प्रेरक क्रियाए होनी चाहिये। क्योकि स्व–कल्याण की प्रक्रिया मे कुछ पुष्टता आने पर पर–कल्याण की ओर प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति की प्रगाढता के साथ स्व–कल्याण स्वय सरल बनता जाता है। स्व–पर कल्याण तब अभिन्न हो जाते हें।

लोकोपकार से महानता

एक अज्ञान या निष्क्रिय व्यक्ति तो लोकोपकार को समझेगा ही क्या ? लोकोपकार की तरफ अभिरुचि उस व्यक्ति की होगी, जिसका ज्ञान इतना विकसित हो गया हे कि अपने जीवन को अहिसा के आचरण मे ढालने का उपक्रम कर सके तथा जिसकी क्रियाशीलता इतनी सजग हो गई है जो परहित से ऊपर स्व–स्वार्थो को उठने नहीं दे। इसका अर्थ ही यह होगा कि अपने जीवन मे सामान्य–सा विकास हो जाने के वाद सबसे पहले अन्य प्राणियो के लिये सवेदना प्राप्त हो जाती हे। क्योकि सुज्ञता के साथ सवेदनशीलता बढती ही है ओर जब सवेदनशीलता बढती हे तो व्यक्ति शुभ क्रियाओ मे अधिकाधिक प्रवृत्ति करना आरभ कर देता है।

इस प्रक्रिया का मैं यह अभिप्राय समझता हू कि में ससारी जीवो की स्थिति तथा अपनी आत्मा की अवस्था को जानकर सुज्ञ वनू और निश्चित है कि मेरी सुज्ञता मेरी सवेदनशीलता को उभारेगी एव वस्तुत मेरे पुरुषार्थ को उभारेगी कि मैं दूसरे प्राणियो क दु ख दूर करने एव उन्हे सुखी वनाने म प्रयत्नशील वनू। जब में ऐसा करने लगूगा तो में अहिसक वनूगा। में दूसरो के हित मे अपने परिग्रह का त्याग करूगा, तव में पहले अपरिग्रहवादी, तटस्थ एव निष्काम वनने लगूगा। मैं छ काया के समस्त जीवों की रक्षा मे उदार वनूगा तो पहले मेरी ही आचार–विचार सम्वन्धी विश्रृखलताए दूर होगी और

में सत्य–दर्शन के समीप पहुचने लगूगा।

इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि दूसरे प्राणियो को कम या ज्यादा लाभ पहुचे परन्तु मुझे तो अत्यधिक लाभ मिलेगा। मेरा विश्वास है कि सुमर्यादित लोकोपकार की विशुद्ध भावना ही मुझे महान् बना सकती हे। लोकोपकार का क्षेत्र इतना व्यापक ओर इतने प्रभाव वाला होता हे कि बाहर के ससार मे भी अच्छाई फैलती है और भीतर के आन्तरिक ससार मे भी नित नये–नये आत्मीय गुणो का विकास होता हुआ चला जाता हे।

लोकोपकार की महत्ता को समझने के लिये मैं श्रावक के पहले अणुव्रत अहिसा का ही उदाहरण दू। श्रावक स्थूल हिसा का त्याग करता हे और साधु सम्पूर्ण हिसा का। श्रावक के हिसा त्याग का स्वरूप क्या ? अपराधी को छोड शेष द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवो की सकल्पपूर्वक हिसा का दो करण तीन योग से त्याग। इस अहिसा अणुव्रत को ग्रहण कर श्रावक तो शुभता प्राप्त करेगा, किन्तु इस हिसा–त्याग का सीधा लाभ किनको प्राप्त होगा ? उन द्विन्द्रिय आदि त्रस जीवो को यदि श्रावक पहला अणुव्रत ग्रहण नही करता तो वे जीव उसके हाथो प्राणघात पाते। इसका अर्थ यह लीजिये कि पर कल्याण के साथ ही, बल्कि उसकी साधना से ही स्व–कल्याण की साधना समव बनती है। अत आत्म कल्याण के नाम पर लोकोपकार को अलग नही किया जा सकता हे बल्कि लोकोपकार को गहरा बनाते जाने पर ही स्व–कल्याण का मार्ग सुगम बनता जाता है।

व्यक्ति समाज मे रहता है और न केवल अन्य व्यक्तियो के बल्कि पशु पक्षियो आदि स्थूल एव पृथ्वी, पानी आदि सूक्ष्म प्राणियो के भी सम्पर्क मे वह रात–दिन आता हे। इस दृष्टि से व्यक्ति का जीवन सामाजिक सुव्यवस्था को बल देने वाला हो—यह आवश्यक है। व्यक्ति के जीवन में सुधार का पहला दृष्टिकोण इसी आशय का रहता है। इसी तथ्य को इस भाषा मे भी कह सकते हैं कि सम्यक् लोक कल्याण की उच्चतम साधना मे ही आत्म–कल्याण की उत्कृष्टता भी समा जाती है ओर जो जितना बडा लोकोपकारी हो जाता हे, वह उतना ही महान भी कहलाता हे क्योकि श्रावक स्थूल हिसा का ही त्याग करता है उसका व्रत छोटा व्रत (अणुव्रत) कहलाता हे किन्तु साधु सम्पूर्ण हिसा का त्याग करके सभी स्थूल एव सूक्ष्म प्राणियो (छ काया) का रक्षक भी बनता है, अत उनका व्रत महाव्रत कहलाता हे। तो यह अणु ओर 'महा' इसी सत्य पर बने हे कि आपका लोक कल्याण का क्षेत्र कहा तक विस्तार पा गया हैं ? इस प्रकार मैं समझ गया हू कि मेरी महानता का मार्ग लोक

कल्याण के अहर्निश प्रयासो मे सन्निहित हे।

स्व-पर कल्याण की शुभ प्रवृत्ति मेरे आत्म स्वरूप के साथ शुभ कर्मो को सलग्न करेगी। शुभ कर्मो के फलोदय से शुभ सयोगो की प्राप्ति होगी, जिनकी सहायता से मेरी आत्मविकास की महायात्रा आसान बन जायेगी। पाप की तरह पुण्य भी कर्म पुज ही होता है, लेकिन पाप कर्मो के फल से दुर्योग मिलते हैं और पुण्य कर्मो के फल से शुभ सयोग। साध्य तक पहुचने के लिये शुभ सयोगो की भी आवश्यकता होती हे। जैसे मार्ग मे आई हुई नदी को पार करनी हे तो नाव की जरूरत होगी। यद्यपि उस किनारे पर पहुच जाने के बाद नाव भी छोडनी पडेगी, फिर भी किनारे तक पहुचने के लिये नाव की सहायता अनिवार्य हे। वैसे ही पुण्य कर्म मोक्ष तक पहुचाने मे नाव के समान सहायक होता हे। इस रूप मे कर्म बध, कर्म क्षय एव कर्म मुक्ति की प्रक्रिया को समझ लेना चाहिये।

कर्म बंध, क्षय एवं मुक्ति

वस्तुत स्व-पर कल्याण का जो पुरुषार्थ होता है, वह प्रारभ की स्थिति हे तो उसी पुरुषार्थ की अन्तिम परिणति कर्म मुक्ति के रूप में ही प्रतिफलित होती हे। जहा तक शुभ कर्मो के बध का प्रश्न है, कर्म बध मे भी पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है तो कर्म क्षय मे कठोर पुरुषार्थ की। कर्ममुक्ति तो आत्म-पराक्रम की परमोत्कृष्टता की प्रतीक होती है। अत कर्म बध, क्षय एव मुक्ति की प्रक्रिया का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

जैसे कोई व्यक्ति अपने शरीर पर तेल की मालिश करके रेत पर लेटे तो रेत के कण उसके शरीर पर चिपक जायेगे। उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि से आत्म प्रदेशो मे जब हलचल होती हे तो जिस आकाश मे आत्म प्रदेश होते हैं, वही के अनन्त-अनन्त कर्म योग्य पुद्गल परमाणु आत्मा के एक-एक प्रदेश के साथ बध जाते हैं। कर्म तथा आत्म प्रदेश दूध पानी या लोहपिड आग्नि की तरह एकमेक हो जाते हैं। आत्मा के साथ कर्मो का यह जो बध होता है, उसे ही कर्म बध कहते हैं।

कर्म बध चार प्रकार का कहा गया है-(अ) प्रकृति बध-कर्म पुद्गलो मे भिन्न-भिन्न स्वभावा तथा शक्तियो का पैदा होना। (ब) स्थिति बध-कर्म पुद्गलो मे अमुक काल तक आत्मा के साथ बधे रहने की कालावधि का होना। (स) अनुभाग बध-कर्म पुद्गलो मे अनुभव के तरतम भाव का अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना, तथा (द) प्रदेश बंध-कर्म पुद्गलों मे न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कधो का सम्बन्ध होना। कर्म बध का सम्पूर्ण

ज्ञान इन चार प्रकारो से होता हे कि बधे हुए कर्म का स्वभाव कैसा है, वह बध कितनी कालावधि का है, उसका अनुभव केसा होगा तथा उसका घनत्व कितना हे ? जैसे सौंठ, पीपल, कालीमिर्च आदि कई वस्तुओ को मिला कर लड्डू बनाया जाता है तो उस वस्तु बध रूप लड्डू से कर्म बध का स्वरूप समझिये। कल्पना करे कि वह लड्डू वायुहरण के लिये बनाया गया है तो वायुनाशक उस लड्डू की प्रकृति हो गई। वह लड्डू एक सप्ताह, दो सप्ताह या अमुक अवधि तक अपना निजी स्वभाव याने ताजगी बनाये रखेगा—यह उसकी स्थिति हो गई। उस लड्डू का स्वाद अधिक मधुर हे या अधिक कटु—यह उसका अनुभाग, अनुभव या रस हुआ। उसी प्रकार प्रदेश यह होगा कि वह लड्डू छोटे आकार का है या मध्यम या बडे आकार का। इस प्रकार कर्म बध के ये चार पहलू हैं।

कर्म बध के प्रारभ को उपक्रम कहते हें, जो चार प्रकार का है—(1) बन्धनोपक्रम—कर्म पुद्गल एव आत्म प्रदेशो के एकरूप सम्बन्ध होने को बधन कहते हें और इसी बन्धन के आरभ को बन्धनोपक्रम। इसका अर्थ हुआ कि बिखरी हुई अवस्था मे रहे हुए कर्मो को आत्मा से सम्बन्धित अवस्था वाले बना देना। (2) उदीरणोपक्रम—विपाक अर्थात् फल देने का समय नही होने पर भी कर्मो का फल भोगने के लिये प्रयत्न विशेष से उन्हे उदय—अवस्था मे प्रवेश करना उदीरणा हे। उदीरणा के प्रारभ का नाम है उदीरणोपक्रम। (3) उपशमनोपक्रम—कर्म उदय, उदीरणा, निधत्तकरण और निकाचना करण के आयोग्य हो जाए इस प्रकार उनकी स्थापना करना उपशमना हे ओर इसका आरभ उपशगनोपक्रम है। इसमे आवर्तन, उदवर्तन ओर सक्रमण—ये तीन करण होते हैं। (4) विपरिणामनोपक्रम—सत्ता, उदय, क्षय, क्षयोपशम, उद्वर्तना, अपवर्तना आदि द्वारा कर्मो के परिणाम को बदल देना विपरिणामना हे जिससे कर्म एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे बदल जाते हें। इस उपक्रम के प्रारभ को विपरिणामनोपक्रम कहते हैं। इन उपक्रमो से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा अपने योग्य पुरुषार्थ से कर्मो के मूल बधानुसार नियत फल भोग, उदय उदीरणा तथा अवस्था तक मे परिवर्तन कर सकती हे। इस का अभिप्राय यही है कि यद्यपि एक वार वध जाने पर कर्म अपना फल देते ही हैं, फिर भी आत्मा उनके फल देने के पहले ही धर्माराधना के बल पर उनके प्रभाव को गन्दतर वना सकती हे। आत्म पुरुपार्थ कभी भी निरूपयोगी नही होता।

इसी आत्म पुरुषार्थ के बल पर कर्मो का सक्रमण (सक्रम) भी किया जा सकता है। आत्मा जिस प्रकृति का कर्म वध कर रही है, उसी विपाक मे

पुरुषार्थ विशेष से दूसरी प्रकृति के कर्म पुद्गलो को परिणत करना सक्रमण कहलाता है। इससे बधे हुए कर्म एक स्वरूप को छोडकर दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति रूप बन जाते हें। यह चार प्रकार का होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एव प्रदेश।

आत्म पुरुषार्थ से सभी श्रेणियो के कर्म बध मे परिवर्तन लाया जा सकता है किंतु इसकी एक ही श्रेणी अपवाद रूप हे और वह हे निकाचित कर्मो की श्रेणी। निकाचित कर्म उन्हे कहते हैं जिनका फल कर्म बध के अनुसार ही निश्चय रूप से भोगा जाता है और जिन्हे बिना भोगे आत्मा का छुटकारा नहीं होता है। निकाचित कर्म मे कोई भी कारण नहीं होता। ये आत्मा के साथ प्रगाढता से सम्बन्धित हो जाते हैं।

बध से लेकर कर्म की चार अवस्थाए बताई गई हैं – (1) बध—मिथ्यात्व आदि के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि रूप मे परिणत होकर कर्म पुद्गलो का आत्मा के साथ दूध पानी की तरह मिल जाना बध कहलाता है। (2) उदय—उदय काल याने फल देने का समय आने पर कर्मो के शुभा-शुभ फल देने को उदय कहते हैं। (3) उदीरणा—आबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्म दलिक (समूह) पीछे से उदय मे आने वाले हैं, उनको पुरुषार्थ विशेष से खीच कर उदय प्राप्त दलिको के साथ भोग लेना उदीरणा है। (4) सत्ता—बधे हुए कर्मो का अपने स्वरूप को न छोडकर आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता कहलाता है।

कर्म अथवा कर्म के कारण होने वाले भव का अन्त करना अन्तक्रिया है। यो तो अन्तक्रिया एक ही स्वरूप वाली होती है किन्तु सामग्री के भेद से चार प्रकार की बताई गई हे। (1) पहली अन्तक्रिया—अल्प कर्म वाली आत्मा की। मनुष्य भव मे उत्पन्न ऐसी अल्प कर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है, प्रचुर सयम, सवर ओर समाधि की साधना करती हे तथा तपाराधन, शुभ ध्यान आदि से लम्बी दीक्षा पाल कर निर्वाण को प्राप्त हो जाती है। उसे उपसर्ग जनित घोर वेदना नही सहनी पडती हें ओर घोर तप भी नही करना पडता है। (2) दूसरी अन्तक्रिया—महाकर्म वाली आत्मा की। मनुष्य भव मे उत्पन्न ऐसी महाकर्म वाली आत्मा दीक्षित होती हे, किन्तु महाकर्मो को क्षय करने के लिये वह घोर तप करती हे और घोर वेदना भी सहती है। इस प्रकार की आत्मा थोडी ही दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध हो जाती हे। (3) तीसरी अन्तक्रिया—महाकर्म वाली तथा दीर्घ दीक्षा पर्याय पालने वाली आत्मा की। मनुष्य भव मे उत्पन्न ऐसी महाकर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है किन्तु

महाकर्मों को क्षय करने के लिये वह घोर तप करती है ओर घोर वेदना सहती हे। फिर वह दीर्घ दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध होती है। (4) चोथी अन्तक्रिया—अल्प कर्म वाली तथा अल्प दीक्षा पर्याय पालने वाली आत्मा की। मनुष्य भव मे उत्पन्न ऐसी अल्प कर्म वाली आत्मा दीक्षित होती है परन्तु वह न तो घोर तप करती हे, न ही घोर वेदना सहती हे, बल्कि वह अल्प दीक्षा पर्याय पाल कर ही सिद्ध हो जाती हे।

कर्म क्षय के लिये दो बाते आवश्यक है—(1) नवीन कर्मो के आगमन को रोकना तथा (2) सचित क्र्मो का नाश करना। नवीन कर्मो का आगमन सवर से रुक जाता है तो सचित कर्मो के विनाश के लिये तपाराधन करना चाहिये (तप का विस्तृत विश्लेषण आगामी अध्याय मे किया गया हे।)

कर्म क्षय के क्षेत्र मे अपने पुरुषार्थ एव पराक्रम द्वारा क्रमिक विकास करती हुई आत्मा जब तेरहवे गुणस्थान (गुणस्थानो का विस्तृत विश्लेषण आगामी अध्याय मे मिलेगा) मे पहुचती हे, उस समय उसके चार घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं। आत्मा के मूल गुणो की घात करने वाले होने से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म घाती कर्म कहे जाते हैं। इनमे पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है तब उसके बाद तीनो कर्मो का एक साथ क्षय होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा के ज्ञान—गुण पर पडा हुआ आवरण हट जाता हे। यह आवरण पूर्णतया हटते ही आत्मा अनन्त ज्ञान वाली बन जाती है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा का अनन्त दर्शन रूप गुण प्रकट हो जाता है। मोहनीय कर्म के क्षय होने से आत्मा मे अनन्त चारित्र प्रकट हो जाता है एव अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने पर आत्मा मे अनन्त शक्तिया उत्पन्न हो जाती हें। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य—ये जो आत्मा के चार मूल गुण हें, वे इन चार घनघाती कर्मो के क्षय हो जाने पर पूर्णत प्रकट हो जाते हें। तेरहवे गुणस्थान केवल उनके शुभ कर्मो मात्र एक समय के लिये ही बन्धते हें।

आगामी चरण कर्म क्षय से कर्म मुक्ति का होता है। चोदहवे गुणस्थान मे आत्मा योगो की प्रवृत्ति को भी रोक देती है। उस समय न मन कुछ सोचता हे, न वचन कुछ बोलता है तथा न काया मे कोई हलचल होती हे। इस प्रकार योग निरोध हो जाने से कर्मो का आगमन सर्वथा रुक जाता है। साथ मे बाकी बचे चार अघाती कर्म—वेदनीय, नाम, गौत्र तथा आयुष्य भी विनष्ट हो जाते हैं और आत्मा कर्म मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती हे। मुक्ति का अर्थ यही हे कि कर्मो से सर्वथा मुक्त हो जाना। चार अघाती कर्मो के क्षय

हो जाने से सिद्धात्मा मे उसके चार गुण प्रकट होते हैं। वेदनीय कर्म के क्षय से अनन्त या अव्याबाध सुख, नाम कर्म के क्षय से अरूपी स्वरूप, गोत्र कर्म के क्षय से अगुरु लघुत्व तथा आयुष्य कर्म के क्षय से आत्मा को अजरामरता प्राप्त हो जाती है।

ससार मे जन्म मरण का कारण कर्म हैं। कर्मों को सर्वथा क्षय कर देना ही इस जन्म मरण के चक्र से छूट जाना हे अर्थात् कर्म मुक्ति ही मोक्ष हे। मुक्त हो जाने पर आत्मा पुन ससार मे नही आती– सदा काल के लिये आठ गुणो से सयुक्त बन कर सिद्धावस्था मे ज्योति रूप बन जाती है।

कर्म बध, कर्म क्षय एव कर्म मुक्ति के इस विश्लेषण से मैं समझ गया हू कि कर्म मुक्ति ही मेरा अन्तिम ध्येय है। अत कर्म मुक्ति के लिये कर्म बध को अवरुद्ध करना तथा कर्म क्षय हेतु धर्माराधना करना मेरे पुरुषार्थ का प्रधान कर्त्तव्य हो जाता है। इस ध्येय के प्रति नियोजित होने वाला पुरुषार्थ ही आत्मा का सत्पुरुषार्थ कहलाता है। मेरा प्रथम प्रयास हो कि में सत्पुरुषार्थी बनू।

'मैं' मे समाहित सर्वहित

मेरी आन्तरिक अभिलाषा बन गई है कि ससार के सभी प्राणी सुखी हो, निरापद बने और इस अभिलाषा की पूर्ति मे मैं किसी भी प्राणी के प्राण को दुख न दू तथा जो मुझे किसी भी प्रकार से दुख पहुचावे, उसे मैं शान्तिपूर्वक सहन करू व उसके प्रति रच मात्र भी द्वेष भाव न लाऊ। फिर में दूसरे प्राणियो के दुखो को देखकर दयाभाव से ओतप्रोत बन जाऊ तथा उसके दुखो को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करू, उन्हे सुखी बनाने के कार्य करू। सर्वकल्याण की मेरी यह भावना मेरे स्वकल्याण का मार्ग भी प्रशस्त कर देगी, क्योकि सर्वहित मे 'मैं' भी समाहित हो जाता हू।

वस्तुत मेरी आत्म साधना सर्वहित की साधना बन जाती हे। मेरा जीवन अहिसापूर्ण बनता है, इसका सीधा प्रभाव मेरे सम्पर्क मे आने वाले प्राणियो पर पडता है कि वे मेरी ओर से सभावित हिसा के प्रहारो से वच जाते हैं। मेरे ही समान जव अधिकाधिक आत्माए इस प्रकार की साधना मे प्रवृत्त होती हैं तो अनेकानेक प्राणी आशकित दुखो से रक्षित होकर वे भी अहिसा को अपने जीवन मे स्थान देने लगते हे जिसके कारण समूचे सामाजिक वातावरण मे अहिसा, निर्भयता एव पारस्परिक सौहार्द्रता का सचार होता है। मैं असत्य के आचरण से विरत होता हू तो मेरे असत्य प्रयोग से दुखी वन सकने वाले प्राणी सुरक्षित हो जाते हैं। इसी प्रकार मेरा अचौर्य व्रत अनेक

प्राणियो के शोषण एव सत्रास को रोक देता है तो मेरा ब्रह्मचर्य व्रत सारे समाज को सादगी की प्रेरणा देता है। सड्ग पचेन्द्रिय जीवो की श्वास भी रोक देता हे। मैं जब अपरिग्रही बनता हू तो निश्चय मानिये कि मेरे येन केन प्रकारेण परिग्रह अर्जन एव सचय के प्रभाव से मुक्त होकर अनेक प्राणी राग द्वेष की विवर्जनाओ से बच जाते हैं ओर अपने भाव–परिणामो को विशुद्ध बनाने का अवसर पाते हैं। धार्मिकता से युक्त मेरी प्रत्येक क्रिया मेरी आत्मशुद्धि के साथ अन्य प्राणियो को निर्भीक एव सदाशयी बनाती है। उनके उस आचरण परिवर्तन से समग्र समाज मे एक प्रकार का उत्थानकारी धरातल तैयार होता है जिस पर वे प्राणी भी अपने पग बढाने का सत्प्रयास करते हैं जो सामान्य वातावरण मे अपनी चेतना को जागृत नही बना सकते थे।

समाज और व्यक्ति के अभिन्न सम्बन्धो की मार्मिकता को समझते हुए मैं जानता हू कि यहा समाज में एक व्यक्ति अपने घर–परिवार ग्राम–समाज, राष्ट्र और विश्व मे रहता है जहा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक अन्य व्यक्तियो एव प्राणियो के सम्पर्क मे आता है। इस दृष्टि से वह अन्य प्राणियो को अपने आचरण से प्रभावित करता है तो दूसरो के आचरण से यत्किचित् रूप मे स्वय भी प्रभावित होता है। यह पारस्परिक प्रभाव मन, वाणी और कर्म के माध्यम से पडता है। कौन बाहर के प्रभाव से कितना ग्रहण करता है अथवा कि कोन अपने प्रभाव को बाहर कितने विस्तार से छोडता है–यह व्यक्तिगत आत्म विकास पर निर्भर करता है। समझिये कि एक अन्य व्यक्ति ने मेरे प्रति दुर्भावना बनाई, फिर कुवचन मुझे कहे ओर मेरे पर आघात करने की चेष्टा की, उस समय यदि मेरे मन, वाणी और कर्म मे दुर्बलता होगी तो मेरी वृत्तिया भी तुच्छ बन जायेगी और उसकी तरह मैं भी हीन प्रवृत्तियो मे लग जाऊगा। इसके विपरीत यदि मेरा मन, मेरा वचन ओर मेरा कर्म सधा हुआ होगा तो मैं उसके समूचे व्यवहार को इस धैर्य और शान्ति से सह लूगा कि वह स्वय अपने व्यवहार पर लज्जित होकर उसमे शुभ परिवर्तन लाने का सकल्प कर लेगा।

इस रूप मे व्यक्ति–व्यक्ति अपना सत्प्रयास करे तो सारे समाज के सभी व्यक्तियो के आचरण मे धीरे–धीरे ही सही, किन्तु एक शुभ परिवर्तन ला सकते हैं। इस प्रयास को ही लोक कल्याण की सज्ञा दी जाती है, वरन् वह है स्व–कल्याण का ही सत्प्रयास । स्व जब प्रामाविक बनता है तो वह दूसरो को भी प्रभावित बनाता है। सर्व हित की रूपरेखा इसी प्रकार के व्यक्तिगत प्रयासो के आधार पर बनती, फूलती और फलती है। इसी दृष्टि से मेरे हित मे सर्वहित समाहित होता है तो सर्वहित मे स्वहित समाहित रहता है।

सर्वदा और सर्वत्र सुख और समाधि

कर्म क्षय की राह पर आगे बढते हुए मे यही चिन्तन करता हूँ कि सर्वदा और सर्वत्र सुख ओर समाधि का वातावरण प्रसारित होता रहे। सब हर जगह और हर समय सच्चे सुख ओर शान्त समाधि के शोधक बन जाये। जब मैं चाहता हूँ कि सब शोधक बना जाये तो पहले मेरा स्वय का शोधक बनना तो आवश्यक हे ही। इसलिए मैंने अपने मन, अपने वचन तथा अपने कर्म की समूची तुच्छता ओर हीनमन्यता को दूर करने का पुरुषार्थ प्रारम कर दिया है। मेरी तुच्छता मिटेगी और ह्वदय मे उदारता व्याप्त होगी तो मुझे आन्तरिक सुख मिलेगा—मेरी वृत्तियॉ ओर प्रवृत्तियॉ समाधि ग्रहण करेगी। सुख ओर समाधि मुझे मिलेगी तो वह मेरे भीतर ही बन्द थोडे ही रहेगी—उस की आनन्द लहरे बाहर भी लहरायेगी और अन्य प्राणियो को भी स्पर्श—सुख देगी। मेरी साधना की गूढता के साथ ये आनन्द लहरे आगे से आगे बढती ही जायेगी ओर फैलती ही जायेगी।

मेरे मन का सुख, मन की समाधि मे परिणत होता जायेगा। मन की समाधि यह होगी कि में किसी एक श्रेष्ठ उद्देश्य पर अपना ध्यान केन्द्रित करुगा ओर उसी के स्व—समीक्षण मे लम्बे समय तक अपने मन को लगाये रखूगा—वह होगी मेरी चित्त समाधि और मन मे कुछ भी नहीं सोचते हुए मन के योग व्यापार को परिपूर्ण नियत्रण की अवस्था मे रखूगा जो मेरी मध्यम चित समाधि होगी ओर उत्कृष्ट चित्त समाधि के लिए शुक्ल ध्यान के अग्रिम दो चरणो के अनुरूप साधना का स्वरूप बनाऊगा। इस योगाम्यास से कई सिद्धियॉ प्राप्त हो सकती हें, किन्तु में उनके प्रलोभन में नहीं पडते हुए अपने आत्म—विकास की महायात्रा मे निरन्तर प्रगतिशील बना रहूगा।

सर्वदा ओर सर्वत्र प्रवर्तित रहने वाली समाधि—अवस्था तक पहुॅचने के लिए में ऐहिक ओर पारलोकिक फल की इच्छा न रखते हुए तप करुगा, प्राणियो का आरम समारभ नही करुगा तथा धर्माराधना हेतु शुद्ध सयम का पालन करुगा। ऊॅची, नीची ओर तिरछी दिशाओ में जितने त्रस और स्थावर प्राणी हैं, अपने हाथ पैर और काया को वश मे करके उन्हे किसी तरह से दु ख नहीं दूगा तथा दूसरे द्वारा बिना दी हुई वस्तु भी ग्रहण नहीं करुगा। मैं श्रुत धर्म ओर चारित्र धर्म को यथार्थ रूप से कहूगा, वीतराग देवो की आज्ञा मे नि शक बनूगा एव समस्त प्राणियो को अपने समान मानूगा। में विवेक और समाधि मे रहते हुए अपनी आत्मा को धर्म मे स्थिर करुगा तथा प्राणातिपात आदि पापो से पूर्णतया निवृत्त होऊगा। मैं समस्त ससार को सममाव से

देखूगा—न कोई मेरा प्रिय होगा, न अप्रिय। परिषह एव उपसर्ग आने पर अथवा अपनी पूजा एव प्रशसा के अवसरो पर सयम मे मैं अविचल रहूगा। असत्य के त्याग को मैं सम्पूर्ण समाधि ओर मोक्ष का मार्ग मानकर सत्य की आराधना करूगा। में न विषय विकार के लिए जीने की इच्छा रखूगा, न दु ख से घबराकर मरने की, बल्कि शरीर पर भी ममत्व को त्याग कर सासारिक बधनो से मुक्त होकर विचरूगा।

यही नहीं, मैं सर्वविरति साधु अवस्था को दीपाते हुए पडित मरण की अभिलाषा रखूगा। विनय समाधि, श्रुत समाधि, तप समाधि तथा आचार समाधि का आनन्द लेकर मेरी आत्मा मे इतनी विशुद्धता व्याप्त हो जायेगी कि अपने इस जीवन के अन्त मे मरण को सुधार कर सारे जीवन और आगामी भव को भी वह सुधार लेगी। विनय समाधि से मैं जितेन्द्रिय बनूगा। श्रुत समाधि से ज्ञान प्राप्ति के लिए, चित्त को एकाग्र करने के लिए, विवेक पूर्वक धर्म मे दृढता प्राप्त करने के लिए तथा स्वय स्थिर होकर दूसरो को धर्म मे स्थिर करने के लिए मैं स्वाध्यायी बनूगा। तप समाधि की दृष्टि से मैं न इस लोक के फल के लिए, न परलोक के फल के लिए और न कीर्ति, वाद, प्रशसा या यश के लिए तप करूगा, बल्कि मात्र निर्जरा के लिए ही तप करूगा। मेरी आचार समाधि का उद्देश्य भी आश्रव निरोध और कर्म क्षय ही होगा। मैं मानता हूँ कि मन, वचन और काया से शुद्ध बन कर जो व्यक्ति सयम मे अपनी आत्मा को सुस्थिर बनाता है और चारो प्रकार की समाधियो को प्राप्त कर लेता है, वह अपना तथा सबका विपुल हित करता है एव अनन्त सुख देने वाले कल्याण रूप परम पद को प्राप्त कर लेता है।

यह मैं मान गया हूँ कि जिसको सम्यक् समाधि जीवन मे ओर सम्यक् समाधि मरण मे हो, वह जीवन धन्य हो जाता है। मैं भी ऐसे ही धन्य जीवन की आकाक्षा रखता हूँ।

'एगे आया' की दिव्य शोभा

ऐसा सम्यक् समाधिमय जीवन ओर मरण ही एगे आया (एकात्मा) की दिव्य शोभा का प्रतीक होता है। एकात्मता का अर्थ है सभी आत्माओ की समानता। जो निरन्तर ज्ञान आदि पर्यायो को प्राप्त होता है, वह आत्मा हे एव सभी आत्माओ का ज्ञान, उपयोग या चेतन्य रूप लक्षण एक है अत 'एगे आया' का सम्बोधन किया गया हे।

मेरा विचार है कि यह सम्बोधन अतीव महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बोधन मे न केवल ससार की समस्त आत्माएँ सम्मिलित हे, अपि सिद्ध आत्माएँ भी

सम्मिलित हैं। चैतन्य गुण सभी आत्माओ का है। गुण की दृष्टि से सभी बद्ध एव बुद्ध आत्माओ मे एकरूपता है। न्यूनाधिक विकास की दृष्टि से पर्याय भेद होता है किन्तु पर्याय भेद से स्वरूप भेद नहीं होता। इस दृष्टिकोण की महत्ता इस सत्य मे समाहित है कि ससार मे परिभ्रमण करने वाली आत्मा अपने अष्ट कर्मो को क्षय करके परमात्मा बनती हे। आत्मा ही परमात्मा बनती है जिसका मूल सन्देश यह हे कि परमात्मा अर्थात् मुक्त ईश्वर बनने का सामर्थ्य मेरी अपनी आत्मा और ससारी आत्माओ मे रहा हुआ है। यह सन्देश ही ससारी आत्माओ के लिए पुरुषार्थ का प्रबल प्रेरणा स्रोत हे कि ईश्वरत्व इस आत्मा से ऊपर कोई शक्ति नहीं है। इसलिए मेरे मन मे यह उत्साह समा जाता है कि मूल स्वरूप से मैं भी ईश्वर हू और ईश्वर बन सकता हूँ, काश कि ईश्वर बनने का मेरा आत्म–पुरुषार्थ पूर्ण रूप से सफल बन जाय। आत्मा अलग हे ओर ईश्वर अलग है—ऐसा जो मानते हैं, वे आत्म–पुरुषार्थ का द्वार ही बद कर देते हैं ओर आत्म–विकास की भावना को हताशा मे डुबो देते हैं। यदि यह विचार जम जाय कि में सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता तो मैं निराश हो जाऊगा कि में कोई भी शक्ति अर्जित नहीं कर सकूगा। अत आत्मा से परमात्मा बनने की धारणा ही वास्तविक धारणा है जो ससारी आत्माओ को समाधिस्थ होने की प्रेरणा देती है कि यह समाधि ईश्वरत्व की पूर्ण समाधि मे परिवर्तित हो सकती है और जो प्राप्ति हो सकती है, उसके लिए ही सम्पूर्ण पुरुषार्थ लगा देने की उमग सदा बनी रहती है। यही पुरुषार्थ को प्रबल बनाये रखने का प्रगतिशील पाथेय है।

प्रबल पुरुषार्थ की भावना हीं मुझे और सभी प्राणियो को परस्पर एक समझने तथा एकरूप बनने की निष्ठा जगाती है। यही एकात्मता शिक्षा देती है कि परम धर्म रूप अहिसा को अपने जीवन की समग्र वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे गहराई से रमा लो—इतनी गहराई से कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि स्थूल प्राणी ही उसकी अहिसा के रक्षा क्षेत्र मे न हो बल्कि पृथ्वी, पानी, पवन, अग्नि, वनस्पति आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव भी अहिसात्मक आचरण से सुरक्षित बन जाय। में इसीलिये सयम मे सुस्थिर होकर सफल साधु जीवन की आकाक्षा रखता हूँ कि जिस जीवन मे स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवो की हिसा न करने न करवाने और न करते हुए को अनुमोदन देने तथा सभी जीवों को अभयदान देने का महाव्रत लिया हुआ होता है। सभी छ काया के जीवो का सरक्षण ही 'एगे आया' का विराट् रूप है— उसकी दिव्य शोभा है।

यह विराट् रूप और दिव्य शोभा मेरे अन्तर्मन मे रम कर एक रूप हो जाय तभी मैं अपना समस्त जीवन लोक कल्याण में विसर्जित कर सकता हूँ।

यह विसर्जन ही अहिसा का सर्वोत्कृष्ट आचरण कहलायेगा। यह भी मैं मानता हूँ कि जो अहिसा का सर्वोत्कृष्ट आचरण बना लेता हे, वही सत्य का साक्षात्कार भी कर सकता है। में मानता हूँ कि आत्मविकास की इस महायात्रा मे यदि पूर्ण अहिसामय आचरण परिपुष्ट बन जाता है तो पूर्ण सत्य का प्रकाश भी उस जीवन मे खिल उठता है। सभी सिद्धान्तो को एक शब्द मे यदि गूँथना चाहे तो वह है अहिसा। अहिसा अपनी आत्मा के प्रति कि वह कही भी हिसक न हो और सरक्षक बनी रहे तथा अहिसा ससार की समस्त आत्माओ के प्रति जो अहिसा का रसास्वादन करके निर्भय बने और सत्य शोधक बने।

मैं देखता हूँ कि इसीलिए अहिसा सम्पूर्ण धार्मिकता की सिरमौर है—परम धर्म है। अहिसा का ही विधि रूप है दया, अनुकम्पा और करुणा। यही कारण है कि मेरे सुदेवो (वीतराग देवो) ने और सुगुरुओ (निर्ग्रंथ मुनि) ने दयामय धर्म को ही 'सुधर्म' कहा है। कौन प्रबुद्ध और सहृदय ऐसा व्यक्ति होगा, जो ऐसे सुदेव, सुगुरु और सुधर्म मे अपनी सम्पूर्ण आस्था को प्रतिष्ठित करना नही चाहेगा ? ये तीनो तत्त्व जहॉ आस्था के मूल बन जाते हैं, वहॉ 'एगे आया' की निष्ठा भी सुदृढ बन जाती हैं और व्यक्ति स्व–पर कल्याण को अपना चरम लक्ष्य मानकर तदनुकूल पुरुषार्थमय साधना मे सलग्न हो जाता है।

'एगे आया' की इस दिव्य शोभा को मैं मेरे भीतर अभिव्यक्त करने के लिए क्या पुरुषार्थ करू—यह प्रश्न मेरे हृदय मे उठता है। मेरी इस जिज्ञासा का समाधान आप्त वचनो मे मिल जाता है कि मैं कुछ ऐसी साधना करूँ कि वीतराग, अरिहत और तीर्थकर बन सकू। तीर्थकर वे जो लोक–कल्याण के सर्व प्राणीहितकारी कार्य करते हैं तथा सर्वात्माओ के उत्थानकारी उपदेश प्रदान करके चार तीर्थो की स्थापना करते हैं। आत्मा के तरण–स्थल को तीर्थ कहते हैं और तीर्थो की छाया मे प्रत्येक आत्मा को ऊर्ध्वगामिता प्राप्त होती है। ये तीर्थ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका—जो व्यक्तिपरक नहीं, गुणपरक तीर्थ होते हैं। अहिसा आदि की साधना मे जो अपने आपको सर्वात्मना समर्पित कर देती है। वही आत्मा साधना के उत्कर्ष के वल पर अनतज्ञानादि की अभिव्यक्ति पाती हुई भव्य आत्माओ के लिए तीर्थ रूप तारक वन जाती है। गुणमय चतुर्विध तीर्थो की स्थापना करने से ही ये महापुरुष तीर्थकर कहलाते हैं। तीर्थकर इसी कारण महानतम माने जाते हैं कि वे अरिहन्त (करमनाशक) वन कर वीतराग (राग द्वेष नाशक) तो होते ही

है किन्तु लोक कल्याण के शिखर पर विराजमान होकर तीर्थंकरत्व भी धारण करते हैं। वे सर्वहित मे समाहित हो जाते हैं। सर्वहित मे समाहित हो जाने वाले महापुरुष ही सर्वोच्च कहे जाते हैं।

तो मैं अपने अन्त करण मे आकाक्षा रखता हूँ कि मैं भी तीर्थंकर बनू और मेरी यह आकाक्षा पुरुषार्थमय उत्साह से परिपूरित है। आकाक्षा रखने से ही कोई भी आकाक्षा सफल नही हो जाती है अपितु उसके योग्य पुरुषार्थ करने की अपेक्षा रहती है। मैं आशावान हूँ कि मेरी आकाक्षा सफल हो सकती है ओर इसी कारण मैं परम पुरुषार्थी भी होना चाहता हूँ। मेरे सुदेवों ने मुझे भी सुदेव बन जाने का मार्ग दिखा रखा है और मैं उसी पर चल कर अपनी इस आकाक्षा को पूर्ण करना चाहता हूँ। मैं निम्नानुसार पुरुषार्थ कर सकू तो मैं भी तीर्थंकर बन सकता हूँ

(1) मैं उन अरिहन्त भगवान् के गुणो की नित स्तुति करू और उनकी विनय भक्ति करू, जिन्होने चार घनघाती कर्मो का नाश कर दिया और जो अनन्त ज्ञान–दर्शनादि से सम्पन्न बन इन्द्र आदि द्वारा वन्दनीय बन गये।

(2) मैं उन सिद्ध भगवान् का भी गुणग्राम करू ओर उनकी विनय भक्ति करू जो सकल कर्मो के नष्ट हो जाने से कृतकृत्य हो गये, परम सुख एव ज्ञान–दर्शन मे लीन बन गये तथा लोकाग्र स्थित सिद्ध शिला से ऊपर ज्योति रूप विराजमान हो गये।

(3) मैं विनय भक्ति पूर्वक प्रवचन का ज्ञान सीखूँ और उसकी आराधना करू तथा प्रवचन के ज्ञाता पुरुषो की विनय भक्ति करू, उनका गुणोत्कीर्तन करू तथा उनकी आशातना टालू। बारह अगो (आगमों) के ज्ञान को प्रवचन कहते हैं तथा उपचार से प्रवचन ज्ञान के धारक सघ को भी प्रवचन कहते हैं।

(4) मैं धर्मोपदेशक गुरु महाराज की बहुमान भक्ति करू, उनके गुण प्रकाश मे लाऊ एव आहार, वस्त्रादि द्वारा उनका सत्कार करू।

(5) मैं स्थविर महाराज के गुणो की स्तुति करू, उनकी वन्दनादि रूप से भक्ति करू तथा प्रासुक आहारादि द्वारा उनका सत्कार करू। जाति, श्रुत ओर दीक्षा पर्याय के भेद से स्थविर (1) वय स्थविर (आयुवृद्ध) (2) सूत्र स्थविर (ज्ञानवृद्ध) तथा (3) प्रव्रज्या स्थविर (दीक्षावृद्ध) रूप से तीन प्रकार के होते हैं।

(6) मैं बहुश्रुत मुनियो की वन्दना–नमस्कार रूप भक्ति करू, उनके गुणो की श्लाघा करू, आहारादि द्वारा उनका सत्कार करू तथा उनके अवर्णवाद या उनकी आशातना का परिहार करू। प्रभूत श्रुतज्ञानधारी मुनि को बहुश्रुत कहते हैं जो सूत्र–बहुश्रुत, अर्थ–बहुश्रुत या उभय बहुश्रुत होते हैं।

(7) मैं तपस्वी साधुओ की विनय भक्ति करू, उनके गुणो की सराहना करू, आहारादि द्वारा उनका सत्कार करू एव उनके अवर्णवाद व उनकी आशातना का परिहार करू। तपस्वी मुनिराज वे जो अनशन–ऊणोदरी आदि छ बाह्य तपो तथा प्रायश्चित–विनय आदि छ आभ्यन्तर तपो की कठोर आराधना करते हैं।

(8) मैं निरन्तर ज्ञान मे अपना उपयोग बनाये रखू।

(9) मैं निरतिचार (बिना अतिचार लगाये) शुद्ध सम्यक्त्व धारण करू।

(10) मैं ज्ञान आदि का यथायोग्य विनय करू।

(11) मैं भावपूर्वक शुद्ध आवश्यक प्रतिक्रमण आदि कर्त्तव्यो का पालन करू।

(12) मैं निरतिचार शील और व्रत अर्थात् मूल गुण एव उत्तर गुणो का पालन करू।

(13) मैं सदा सवेग भावना एव शुभ ध्यान का सेवन करता रहू।

(14) मैं यथाशक्ति बाह्य एव आभ्यतर तपो की आराधना करता रहू।

(15) मैं सुपात्र को साधुजनोचित प्रासुक अशन आदि का दान दू।

(16) मैं आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, सह–धार्मिक, कुल, गण, सघ की भक्तिभावपूर्वक वैयावृत्त्य करू जो इस प्रकार हो सकती है कि मैं आहार लाकर दू, पानी लाकर दू, आसन लाकर दू, उपकरण की प्रतिलेखना करू, पैर पूजू, वस्त्र दू, औषधि दू, मार्ग में सहायता दू, दुष्ट, चोर आदि से रक्षा करू, उपाश्रय मे प्रवेश करते हुए ग्लान या वृद्ध साधु की लकडी लू, तथा उनके उच्चार, प्रश्रवण एव श्लेष्म के लिये पात्र दू।

(17) मैं गुरु आदि का कार्य–सम्पादन करू तथा उनके मन को प्रसन्न रखू।

(18) मैं नवीन ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करता रहू।

(19) मैं श्रुत की भक्ति और बहुमान करू।

(20) मैं देशना द्वारा प्रवचन की प्रभावना करू।

ये बीस बोल (बातें) हें जिनकी में जितनी गहराई से साधना कर सकू, करू तो मैं आशा रख सकता हूँ कि इस साधना के फलस्वरूप मैं भी कभी तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकूगा। यह तीर्थंकर पद 'एगे आया' की दिव्य शोभा का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। मेरा लक्ष्य तो सर्वकर्म मुक्त सिद्धावस्था पाना है।

चौथा सूत्र और मेरा संकल्प

में सुज्ञ हूँ इसलिए अपने और सबके कल्याण का सुमार्ग जानता हूँ और मैं सवेदनशील हूँ अत दयामय हूँ–किसी के दु ख को देख नहीं सकता तो भला अपनी ही आत्मा के दु खो को क्या मैं देख सकूगा ? और जब में उन्हे देखूगा तो मुझे लगेगा कि मेरे अपने मानस वचन और कर्म की तुच्छता से बढकर मेरे लिये और क्या दु ख हो सकता है ? मेरी सुज्ञता और मेरी सवेदनशीलता मुझे अनुप्राणित करती है कि में अपनी जडग्रस्तता के स्वरूप और उसके कारणो की खोज करू। यह खोज मुझे बताती है कि यह सारी जडग्रस्तता मुझे अष्ट कर्मो से बाधती है तो फिर ये बधे हुए अष्ट कर्म मेरे भीतर अज्ञान एव अविवेक की मोजूदगी से मेरी जडग्रस्तता को बढाते ही रहते हें तथा मेरी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो को अधिकाधिक तुच्छ व हीन बनाते रहते हैं।

यह तुच्छता ओर हीनमन्यता ही मेरी सबसे बडी आन्तरिक दुर्बलता बन जाती है जिसकी वजह से मेरी दृष्टि विकृत बनकर अपनी आत्मा के मूल स्वरूप को ही नहीं देख पाती हे, मेरा ज्ञान मेरे दमित पुरुषार्थ को जगा नहीं पाता है एव मेरा उपयोग अपने ही विकारग्रस्त स्वरूप की गहरी परतो को भेद नही पाता है। इसलिये मैं सकल्प लेता हूँ कि मैं मेरे मानस, मेरी वाणी तथा मेरे कर्म की तुच्छता को मूल से मिटा देने का कठिन पुरुषार्थ करूगा और यह पुरुषार्थ होगा शुभ कर्मो के बध से लेकर सम्पूर्ण कर्म क्षय तक का और मेरे इस पुरुषार्थ का अवलम्बन होगा वह दयामय सुधर्म जो अन्त करण को करुणा से आप्लावित करता हुआ समस्त विश्व को दयामय बना देने की क्षमता रखता है।

सुमर्यादित रहकर में सकल्प लेता हूँ कि मैं ऐसे दयामय धर्म की आराधना करूगा। लोक कल्याण से अपनी महानता का निर्माण करूगा तथा 'एगे आया' की दिव्य शोभा को साकार रूप दूगा।

अध्याय छः

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 5

मे समदर्शी हूँ, ज्योतिर्मय हूँ।

मुझे सोचना है कि मेरा मन कहॉ-कहॉ घूमता हे,

वचन कैसा-कैसा निकलता है ओर

काया किधर-किधर वहकती है ?

अन्तर्ज्योति के जागरण से मुझे प्रतीति होगी कि अधकार की परतो मे पडा हुआ मेरा मन भौतिक सुख-सुविधाओ की ही प्राप्ति हेतु विषय-कषायो मे उलझकर कितना मानवताहीन, वचन कितना असत्य-अप्रिय तथा कर्म कितना विद्रूप-अधर्ममय हो गया हे ? मै दृढ सकल्प के साथ मन, वचन एव काया के योगो को सम्पूर्ण शुभता की ओर मोड दूगा तथा भावनाओ के धरातल पर समदर्शी वनने का प्रयास करूगा।
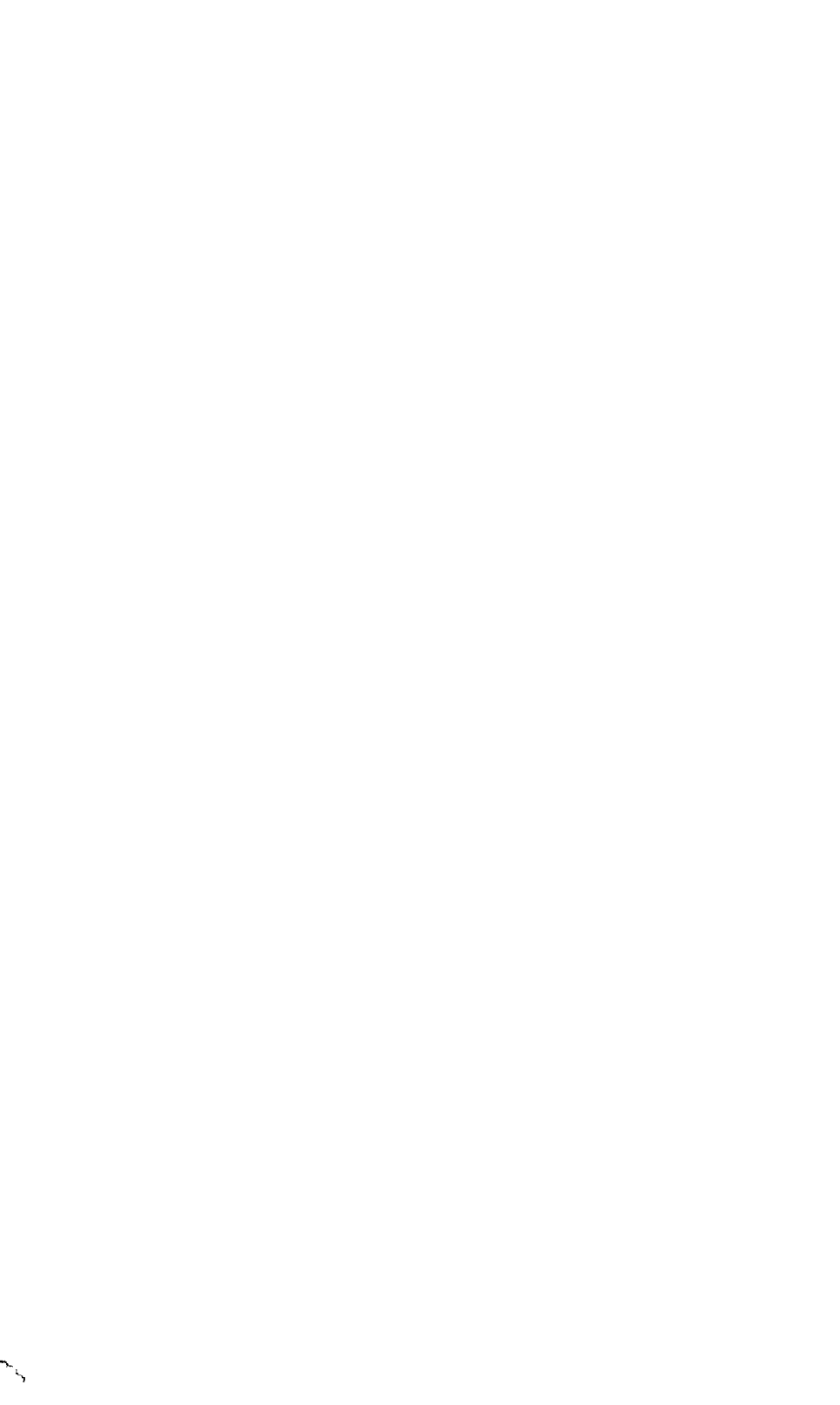
पांचवां सूत्र

में समदर्शी हूँ क्योकि समदर्शिता मेरी आत्मा का मूल गुण है। मेरी यह समदर्शिता मेरे समभाव से उपजती है और समतामय बन कर पूर्णता प्राप्त करती है। मैं जब समग्र विश्व को समभाव से देखता हूँ, तब मेरी समदृष्टि होती है। समभाव और समदृष्टि एकमेक होकर जब मेरे प्रत्येक कर्म मे समाविष्ट हो जाते हें तब मेरा समूचा जीवन समता से ओतप्रोत बन जाता है। तब मैं न किसी को ऊँचा देखता हूँ, न किसी को नीचा। मैं न किसी का प्रिय करता हूँ, न किसी का अप्रिय। मैं तब अपने पराये के भेद से परे हो जाता हूँ। मेरी समदर्शिता मुझे निरपेक्ष आत्म–दृष्टा बना देती है।

मैं समदर्शी हूँ क्योकि मैं सुज्ञ हुआ ओर सवेदनशील बना। मैं सबको अपना मानने लगा और मेंने अपना अपनत्व सबमे घोल दिया। सब मेरे और मैं सबका हो गया। स्व तथा पर के प्रति मेरी अभिन्न दृष्टि बन गई। में समदर्शी हो गया एव स्वरूप को जान गया तथा उस पर श्रद्धावत बन गया।

मैं समदर्शी हूँ इसलिए सबको–समस्त जीवो को समान भाव से देखता हूँ। सबको देखता हूँ तो अपने को भी देखता हूँ अपनी आत्मा को भी देखता हूँ। अपनी ही आत्मा के मूल गुणो को भी देखता हूँ तो उसके विकारो को भी देखता हूँ। जब मैं अपनी ही आत्मा के मूल गुणो को देखता हूँ और अपनी समदर्शिता का रसास्वदन करता हूँ, तब अनुभूति लेता हूँ कि मेरे अन्त करण मे अमृत ही अमृत भरा हुआ है–ऐसा अमृत जो मुझे ही अमर नही बना देगा अपितु जहॉ–जहॉ वह झरेगा, वहॉ–वहॉ अमरता की अमर बेल को सींचता चलेगा। अमृत झरता है तो अमिट शान्ति का झरना वह निकलता है और उस झरने के शीतल जल का जो भी स्पर्श पा जाता हे, वह कृतकृत्य हो जाता है।

एक समदर्शी महात्मा थे। वे पाद विहार से एक नगर म पहुँचे। वहॉ उन्होने देखा कि एक खुली जगह में कई पुरुप, कई स्त्रिया और कई बालक आश्रयहीन होकर भयकर शीत से ठिठुरते हुए बैठे थे। उनका ह्रदय अनुकम्पा

से भर उठा। वे उनके पास तक चले गये ओर बोले—क्या आप लोग निराश्रित हैं ? हॉ महाराज, इसलिये ही तो यहॉ हें—उन्होने उत्तर दिया। महात्मा को क्या सूझा सो उन्होने कह दिया—आओ, सभी मेरे साथ चलो। वे आगे हो गये और पीछे भीड। चलते हुए वे सीधे राजमहल में पहुॅच गये। महात्मा आये हें—यह देखकर राजा ने उनका स्वागत किया किन्तु पीछे आम आदमियो की भीड को देखकर झुझला उठा। वह धैर्य न रख सका ओर बोल पडा— आप पधारे सो श्रेष्ठ, किन्तु इन नीच लोगो को अपने साथ यहॉ कहॉ ले आये हैं ? यह मेरा राजमहल है, यहॉ मेरी महारानियॉ रहती हें, मेरे राजकुमार ओर मेरी राजकुमारिया रहती हैं। इन्हे मेरे यहॉ राजमहल के भीतर तक लाकर आपने शोभनीय कार्य नही किया है। महात्मा शान्त भाव से बोले—तुम्हारा विचार समीचीन नही है कि यहॉ सब कुछ तुम्हारा ही है। तुम भी यहॉ रह रहे हो, ये लोग भी रह लेगे। यहॉ बहुत स्थान है—निराश्रित देखकर ही मैं इन्हे यहॉ ले आया हूॅ। राजा की भौंहे तन गई, चेहरा लाल होने लगा और उसके विद्रूप से वचन निकले—महात्मन्, शायद आपने अपना विवेक खो दिया है, तभी तो ऐसी अनर्गल बात कह रहे हें।

महात्मा का शान्त भाव और गहरा हो गया। वे स्नेह से भी भर उठे, कहने लगे—राजन्, ये लोग भी दु खी थे ओर तुम भी दु खी हो। मुझसे किसी का दु ख नहीं देखा जाता—इसीलिए कह रहा हूॅ और तुम इसे अनर्गल बताते हो। राजा कुपित हो उठा—मेरे इस वैभव को देखकर भी आप कहने की हिम्मत कर रहे हैं कि मैं दु खी हूॅ। हॉ राजा, क्या वैभव है तुम्हारा ? धर्मशाला मे ही तो रह रहे हो न ? महात्मा की यह बात सुनकर तो राजा आपे से बाहर हो गया— आप हद से बाहर जा रहे हैं जो मेरे राजमहल को धर्मशाला बता रहे हें।

महात्मा तो समदर्शी थे, राजा को भी यथार्थ रूप मे सुखी बनाना चाहते थे उसको उसकी ममत्त्व—मूर्छा से दूर हटाकर। बोले—अच्छा, राजन् तुम यहॉ कितने वर्षो से रह रहे हो ? राजा बोला—जन्म हुआ तब से। महात्मा ने पूछा—तुम कितने वर्ष के हो ? राजा ने कहा—पेंतीस वर्ष का। महात्मा पूछते गये—तुम्हारे पिता कब स्वर्ग सिधारे ? दस वर्ष पहले। तुम्हारे दादा कब स्वर्ग सिधारे ? साठ वर्ष पूर्व। तुम्हारे जन्म से पहले यहॉ कौन रहता था ? मेरे पिता रहते थे। उनके पहले कोन रहता था ? मेरे दादा रहते थे। तुम्हारे स्वर्ग सिधार जाने के बाद यहॉ कौन रहेगा ? मेरा राजकुमार रहेगा। तब महात्मा ने बात के मर्म को पकडा व कहा—तब तुम कैसे कहते हो कि यह

राजमहल तुम्हारा है ? तुम्हारे पिता, पिता के पिता, पिता के पिता और कई लोग रहते आये हैं और यहाँ तुम्हारे राजकुमार, के राजकुमार, राजकुमार के राजकुमार ओर कई लोग रहते रहेगे—फिर यह राजमहल ही कहाँ रहा ? धर्मशाला नही हो गया क्या ? धर्मशाला मे क्या होता है—एक आता है ओर एक जाता है। आने जाने के क्रम से ही धर्मशाला बनती हे और धर्मशाला किसी की अपनी नही होती—फिर यह राजमहल तुम्हारा ही केसे हें ? ये लोग भी यहाँ क्यो नहीं रह सकते हैं ? जैसे इस धर्मशाला मे तुम अपने परिवार सहित रहते हो, वेसे ये लोग भी रह लेगे।

राजा सुनता रहा, सुनता रहा। उसे कुछ उत्तर देते नही बना। महात्मा की समदर्शिता उसकी दृष्टि मे उतरने लगी। उसके भीतर के कपाट खुल गये। वह भाव विह्वल होकर महात्मा के चरणो पर लोट गया, झरते आसुओ से बोला—महात्मन्, आपने मेरी बद आखे खोल दी है। मैं अधा था और यह सब कुछ जो मेरा नही है, मेरा मानकर मूर्छाग्रस्त हो रहा था। अब मुझमे ओर इन लोगो मे भेद नहीं है। इन्हे यहीं रहने की आज्ञा दे दीजिये महात्मन्, ओर आप भी यही विराजिये ताकि मेरी आखे फिर से बन्द न हो। मैं समदर्शिता की प्रकाश किरण देख चुका हूँ।

मैं समदर्शी हूँ महात्मा के समान कि मुझे राजा और रक एक समान दिखाई देते हैं। मैं समदर्शी बनता हूँ राजा के समान कि समदर्शिता का अमृत अहर्निश पीता रहूँ। मैं मिट्टी को सोना समझू और सोने को मिट्टी के समान मानू। ममत्त्व से ऊपर उठ कर मैं प्रत्येक आत्मा मे अपनी ही आत्मा के दर्शन करू।

मैं समदर्शी हूँ, तभी तो मैं ज्योतिर्मय हूँ। मेरी समता मुझे भीतर बाहर से एक अनूठे आलोक से आलोकित कर देती है। में ज्योतिर्मय हो जाता हूँ या यो कहूँ कि मेरे लिये समग्र विश्व ही ज्योतिर्मय हो जाता है। मुझे कहीं भी अधकार दिखाई नही देता—न भीतर, न बाहर। प्रकाश ही प्रकाश फैला है अन्तरगता मे ओर बहिरगता मे। यह प्रकाश ही मेरा पथ है ओर पाथेय भी। यह प्रकाश मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं, मे ही हूँ। मे ही ज्योतिर्मय हूँ क्योकि सम्पूर्ण रूप से ज्योति मे विगलित होकर एक दिन मात्र ज्योतिर्मय हो जाने वाला हूँ।

मे ज्योतिर्मय हूँ—मुझे अपने भीतर जगमगाती हुई ज्योति को प्रकटित करनी ही है और इसलिए समदर्शी भी होना ही है। और समदर्शी होना है तो समभावी बनना है तथा समभावी बनना है तो अपने मन, वचन व शरीर को

विषय-कषायो के अशुभ योग व्यापार से बाहर निकालना ही होगा तथा अपने मन, वचन एव कर्म को समता से आप्लावित बना कर एक रूप करना ही होगा।

भौतिक सुखो की कामनाएँ

राजा की तरह मानव को भी महात्मा का ससर्ग-बोध मिलेगा जब मिलेगा। लेकिन अभी तो वह स्वय राजा बना हुआ है और वह सोचता है यह कि भवन मेरा अपना है, कौन इसमे प्रवेश करने का साहस कर सकता है ? मैं उसे सबक सिखा दूगा। इसकी सम्पत्ति मेरी अपनी है- मैंने अर्जित की हे-कोई इसे छू कर देखे। यह परिवार, यह पत्नी, ये पुत्र पुत्री मेरे अपने हैं-इनके सुख मे ही तो मेरा सुख रहा हुआ है। और मेरा यह सुभग शरीर-इसे में किसी भी तरह कष्टित नहीं करना चाहता। इसी विचार धारा मे वह आगे विचार करता है कि वह सब मेरे अपनो के लिए सुख-सामग्री चाहिये-सुविधा चाहिये। सामान्य सुविधा नही, भव्य सुविधा, ससार मे उपलब्ध अधिक से अधिक ऊँची सुविधा। इन सुविधाओ के बारे मे भी, प्राप्त मेरे लिये नगण्य हो जाती है और प्राप्य का क्षेत्र अति विस्तृत बन जाता है क्योकि मेरी कामनाएँ अपार है। जो चारो ओर दिखाई देता हे, मेरा मन करता है कि यह भी हो, वह भी हो और जो कल्पना लोक मे ही घूमती हैं, वे सुविधाएँ भी मुझे मिले। बाह्य ससार मे जितना भौतिक सुख और वैभव है, वह सब मुझे प्राप्त हो जाय। मेरी इच्छाओ का, मेरी कामनाओ का अन्तिम छोर मुझे कही भी दिखाई नही देता।

वह सोचता है कि मुझे धन चाहिये-अपार धन चाहिये। मुझे सत्ता चाहिये-अखडित सत्ता चाहिये। लोग मुझे उच्च माने, मेरे वर्चस्व को अपने सिर-माथे स्वीकारे और दिक्-दिगन्त मे मेरी यश कीर्ति की पताका फहरावे। उसे इस ससार के भौतिक सुख कितने चाहिये-इसका उसको खुद को अनुमान नही। जो प्राप्त होता जाता है, उसे भूलता रहता है। और प्राप्य के लिये भाग दौड करता है। इस भाग दौड का कहीं अन्त नही है। लाभ बढता है लोभ बढता है और ये लोभ-लाभ बढकर मुझे ममत्त्व की मूर्छा मे सुलाते रहते हैं। मैं सज्ञाहीन सा बनकर समझ भी नहीं पाता हूँ कि मेरा मन कहॉ-कहॉ घूमता है, वचन कैसा-कैसा निकलता है और काया किधर-किधर बहकती है ?

इतना ही नही, भौतिक सुखो की ये कामनाएँ मन मे रात दिन चिन्ता रूपी ज्वालाएँ जलाये रखती हैं। कहॉ से कितना अधिक प्राप्त कर सकूँ-यही

धुन सवार रहती है। भोतिक सुखो के सदर्भ में मुझे इस ससार मे दो प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। एक तो वह वर्ग है कुछ लोगो का, जिनक पास अतुल वैभव, अबाध सत्ता ओर विपुल भोग–सामग्री विद्यमान हे, फिर भी उन लोगो की तृष्णा थमी नही हे। वे अपनी सत्ता ओर सम्पत्ति की शक्तियो के जोर से अधिक से अधिक अर्जित करते चले जाना चाहते हें इस हकीकत का विना खयाल किये कि उनकी वह सक्रिय तृष्णा कितने लोगो के जीवन को भारी आघात पहुँचा रही है। कुछ लोगो का यह वर्ग भौतिकता मे मदमस्त बना हुआ हे। कई लोगो का दूसरा ऐसा वर्ग हे जो आर्थिक रूप से अति अभावग्रस्त है–जीवन निर्वाह की मूल आवश्यकताएँ तक इन लोगो को प्राप्त नही है। एक तो वे अपने ही अभाव से दु खी हैं तो दूसरे, सम्पन्न वर्ग के विलासी जीवन को देखते हुए सामाजिक विषमता से भी दु खी हैं। यह अभावग्रस्त वर्ग अपनी अनुभव कटुता एव विचार विश्रखलता मे कई बार अपना सन्तुलन खो बैठता है क्योकि इन लोगो की भोतिक कामनाएँ भी उद्दाम हो जाती है। अपवाद दोनो वर्गो मे मिलेगे, किन्तु अधिकाशत दोनो ही वर्गो मे अनेतिकता फेलती हुई दिखाई देगी। एक प्रकार से वर्तमान की आर्थिक विषमता भी मौतिक सुखो के लिये अमावग्रस्त या सम्पन्न, दोनो वर्गो की कामनाओ को भयकर रूप से भडकाती हे। यदि समाज मे फैली आर्थिक विषमता मिटे और समानता का वातावरण बने तो नेतिकता एव धार्मिकता की कई समस्याएँ भी सुन्दर समाधान पा सकती हैं।

परिग्रह की परिभाषा करते हुए मैंने अनुभव किया था कि एक व्यक्ति विना परिग्रह रखे हुए भी परिग्रही या परिग्रहवादी हो सकता है तथा दूसरा व्यक्ति चक्रवर्ती सम्राट् जितना परिग्रह रखकर भी अनासक्तता के कारण अपरिग्रही या अपरिग्रहवादी जैसा हो सकता है। परिग्रह का भाव रूप अर्थ–विशेष महत्त्वपूर्ण होता है जो ममत्त्व के रूप मे माना गया है। ममत्त्व का सम्बन्ध धन रूप परिग्रह से भी अधिक भावना के साथ होता है। परिग्रह नहीं है, अभावग्रस्त स्थिति हे फिर भी अगर हाय–हाय लगी हुई है तो ममत्त्व की मार से परम दु खी रहेगा। किन्तु आज दुरावस्था ऐसी है कि सम्पन्नो म से भी अधिकाश तथा अभावग्रस्तो मे से भी अधिकाश लोग ममत्त्व की मार से दु खी बन कर येन केन प्रकारेण परिग्रह, अर्थ के उपार्जन की अधी दौड मे बेमान भागे जा रहे हैं। वे यह भी नही सोच पाते कि जो अगणित कामनाएँ उन्होंने पाल रखी हैं या वे पालते हुए चले जा रहे हे, क्या वे पूरी होने लायक भी हैं अथवा क्या उनका सारा श्रम उनकी पूर्ति कर लने मे समर्थ है ? शान्त

चित्त से वे इतना भी सोच ले तब भी कामनाओ के बोझ और तनाव को वे घटा सकते हैं। इतने–से चिन्तन के बाद तो वे अहिंसामय आचरण के लिये भी जागरूकता ग्रहण कर सकते हें कि वे अपने उपार्जन का अधिक सचय न होने दे बल्कि अधिक का सविभाग करते रहे।

किन्तु में देखता हूँ कि भोतिक सुखो की कामनाओ के पीछे अधिकाश व्यक्ति सत्ता और सम्पत्ति के उपार्जन मे बुद्धि और विवेक को तिलाजलि देकर मानो पागलो जैसी क्रियाएँ कर रहे हैं। अर्थ उनके माथे चढ गया हे और वे भूत से अभिभूत बने जैसे भाग रहे हैं।

विषयान्ध इन्द्रियो का जाल

में सोचता हूँ कि मानव की अर्थोपार्जन की ऐसी अधी दौड आखिर क्यों चल रही है ? क्या होगा अधिक से अधिक अर्थ उपार्जित और सचित कर लेने के बाद ? अर्थ के मामले को लेकर समझदार मनुष्य भी अपना सन्तुलन क्यों खो देता है ?

मैं विचार करता हूँ कि अर्थोपार्जन की अँधता का प्रधान कारण है इन्द्रिय सुख। निर्वाह की मूल आवश्यकताओ की पूर्ति तक के अर्थोपार्जन को तो छोड दे और उससे नीचे के वर्ग की दुर्दशा को भी एक बार अलग कर दे, किन्तु उन लोगों के लिये सोचे जो निर्वाह की आवश्यकताओं से अधिक और बहुत अधिक अर्जन करते हैं। क्या उद्देश्य होता है उनके अधिक से अधिक अर्थोपार्जन का ? यही कि अपनी पाचो इन्द्रियो के विभिन्न विषयों को अधिक से अधिक विलास सामग्री के साथ भोगे। यह विषयान्ध इन्द्रियो का ही जाल होता है कि मनुष्य परिग्रही और परिग्रहवादी बनता है तथा ममत्त्व के जटिल बन्धनो से स्वय ही बध जाता है।

ये इन्द्रिया कैसी और कितनी होती हैं तथा ये अपने किन–किन विषयो रमणस्थलों में भ्रमण करती हैं–इसकी जानकारी मानव को होनी चाहिये, तभी इनके स्वरूप को समझ कर इन्हे उन स्थलो से हटा सके जहा इन्हे रमण नहीं करना चाहिये तथा उन स्थलो पर नियोजित किया जाय जहाँ इन्हे रमण करना चाहिये।

ये इन्द्रियाँ शरीर की अगभूत होती है, जिसमे आत्मा निवास करती हे। चूकि आत्मा सर्व वस्तुओ का ज्ञान करने वाली तथा भोग करने रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न क्षमता वाली होने से इन्द्र कहलाती है, इसके इन अगो को इन्द्रिय कहते हैं। ये इन्द्रियाँ आत्मा द्वारा इष्ट, रचित, सेवित और प्रदत्त होती हैं। अत

इन्द्रियॉ शरीर के उन साधनो को कहेगे जो सर्दी, गर्मी, काला, नीला, गरम, ठडा आदि विषयो का ज्ञान करती है, तथा जो अगोपाग व निर्माण नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं।

ये इन्द्रियॉ पाच प्रकार की होती हैं।

(1) श्रोत्रेन्द्रिय—जिसके द्वारा जीव, अजीव तथा मिश्र शब्द का ज्ञान होता है।

(2) चक्षुरिन्द्रिय—जिसके द्वारा पाच प्रकार के वर्णो का ज्ञान किया जाता हे।

(3) घ्राणेन्द्रिय—जिसके द्वारा आत्मा सुगध और दुर्गंध को जानती हैं।

(4) रसनेन्द्रिय—जिसके द्वारा पाच प्रकार के रसो का ज्ञान किया जाता है।

(5) स्पर्शेन्द्रिय—जिसके द्वारा आठ प्रकार के स्पर्शो का ज्ञान होता है।

इन पाच प्रकार की इन्द्रियो की विशेष प्रकार की बनावट को सस्थान कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—बाह्य ओर आभ्यतर। इन्द्रियो का बाह्य सस्थान भिन्न—भिन्न जीवो के भिन्न—भिन्न प्रकार का होता है—सभी के इन्द्रियो का बाहरी आकार एक—सा नहीं होता हैं किन्तु इन्द्रियो का आभ्यन्तर सस्थान सभी जीवों का एक—सा होता है। इसलिये इन्द्रियो के आभ्यतर सस्थान का रूप इस प्रकार होता है—(1) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का सस्थान कदम्ब के फूल जैसा होता हे। (2) चक्षुरिन्द्रिय (आखें) का सस्थान मसूर के दाल जैसा। (3) घ्राणेन्द्रिय (नाक) का आकार अति मुक्त पुष्प की चन्द्रिका जेसा। (4) रसनेन्द्रिय (जीभ) का सस्थान खुरपे जैसा तथा (5) स्पर्शेन्द्रिय (शरीर) का आकार अनेक प्रकार का होता है।

अनभिज्ञ मनुष्य ही काम—परायण होते हैं, क्योकि काम जीवन की समस्त शक्तियो का विनाशक होता है। इन्द्रिय—जन्य उपभोग की कामना करना सत्व रूप काम है तो शब्द, रूप, गध, रस व स्पर्श का भोग करना द्रव्य काम कहलाता है। काम मूलत दो प्रकार का कहा गया हे—(अ) असम्प्राप्त अर्थात् वैचारिक, जो दस प्रकार से उत्पन्न होता है—(आ) सम्प्राप्त अर्थात् मैथुनिक जो चौदह प्रकार से भोगा जाता है—

इसी प्रकार काम वेग दस प्रकार के परिणामो मे प्रकट होता है—(1) चिन्ता भोग सम्बन्धी सोच विचार मे पडे रहना (2) दर्शनेच्छा—स्त्री मुख को देखते रहने की कामना करना (3) दीर्घ निश्वास—भोग पूर्ति न होने पर अथवा

भोग चिन्ता मे निराशापूर्ण श्वास लेना (4) ज्वर—काम ताप से पीडित हो जाना (5) दाह—काम ताप से बुरी तरह जलना। (6) भोजन अरुचि—शारीरिक पीडा से भोजन मे अरुचि पैदा हो जाना (7) महामूर्छा—अचेतनावस्था के दौरे पडना या अचेतनावस्था बनी रहना (8) उन्मत्तता—पागलपन के दौरे उठना। (9) प्राणो मे सन्देह बार—बार मरणवत् स्थिति का बन जाना तथा (10) मरण—दयनीय दिशा मे मृत्यु हो जाना।

एक कामी पुरुष का इस रूप मे आरम और अन्त होता है। आरम उसे भोगने मे बडा मधुर महसूस होता है किन्तु ऐसा कटुक अन्त सहते हुए भी उससे सहा नही जाता है। अत्यन्त मूर्छा भावो में उसका मरण परम दु खदायी हो जाता है। यह समझने की आवश्यकता है कि ऐसे घोर दु:ख देने वाले भीषण परिणाम युक्त इन पाचो इन्द्रियो के विषय और विकार क्या और किस रूप के होते हैं जो मनुष्य को लुभाकर उसका दु खद अन्त कर देते हैं।

पाच इन्द्रियो का विषय परिमाण भी इस प्रकार बताया गया है—(1) श्रोत्रेन्द्रिय जघन्य अगुल के असख्यातवे भाग से उत्कृष्ट बारह योजन से आये हुए शब्दान्तर और वायु आदि से अप्रतिहत शक्ति वाले शब्द पुद्गलो को विषम करती है। यह इन्द्रिय कान मे प्रविष्ठ शब्दो को स्पर्श करती हुई ही जानती है। (2) चक्षुरिन्द्रिय जघन्य अगुल के असख्यातवे भाग उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ दूरी पर रहे हुए अव्यवहित रूप को देखती है। यह अप्राप्यकारी है। इसलिये रूप का अस्पर्श करके उसका ज्ञान करती है। (3—5) घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय—ये तीनो इन्द्रियाँ जघन्य अगुल के असख्यातवे भाग उत्कृष्ट नव योजन से प्राप्त अव्यवहित विषयो को स्पर्श करती हुई जानती हैं। इन्द्रियो का यह जो विषम परिमाण है उसे आत्मागुल से जानना चाहिये।

इन पाचो इन्द्रियो के काम—गुण होते हैं क्रमश शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श। ये पाचो काम अर्थात् अभिलाषा उत्पन्न करने वाले गुण होते हैं। इन पाचों विषयो को प्रमाद जनित माना गया है। शब्द, रूप आदि पाचों विषयो मे आसक्त प्राणी विषाद आदि को प्राप्त होते हैं अत इन्हें विषय का नाम दिया गया है। शब्द, रूप आदि विषय भोग के समय मधुर होने से तथा परिणाम मे अति कटुक होने से विष से उपमित किये जाने के कारण भी विषय कहलाते हैं। इस विषय प्रमाद से व्याकुल चित्त वाला जीव हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है, इसलिये इन इन्द्रियो के माध्यम से अकृत्य का सेवन करता हुआ वह चिर काल तक ससार के दु खो मे परिभ्रमण करता रहता

है। पाचो प्रकार के विषयो मे आसक्त प्राणियो मे क्रमश हिरण, पतगा, भवरा, मछली तथा हाथी के दृष्टान्त दिये जाते हैं, जो अपने इन्द्रिय–विषयो मे इतनी गहराई से डूब जाते हैं कि उन्हे अपने प्राणान्त तक का भान नही होता। उसी प्रकार पाचो इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त जीव भी विषय का उपभोग करते हुए कभी तृप्ति का अनुभव नहीं करता है। विषय भोग मे प्रवृत्त रहने से विषयेच्छा शान्त न होकर उसी प्रकार बढती जाती है जिस प्रकार अग्नि मे घी डालने से उसकी ज्वालाए बढती जाती हैं। विषय भोग मे अति आसक्ति वाले जीव के दु ख तो इसी जीवन मे देखने को मिल जाते हैं ओर वैसा जीव परलोक मे भी नरक एव तिर्यंच योनियो के महादु ख भोगता है। इसलिये विषय भोगो से निवृत्ति लेने तथा विषयान्ध इन्द्रियो के मोह जाल को तोड देने को ही कल्याणकारी कहा गया है।

पाचो इन्द्रियो के तेईस विषय तथा दो सौ चालीस विकार माने गये हैं– (अ) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय–(1) जीव शब्द, (2) अजीव शब्द तथा (3) मिश्र शब्द। विकार–कुल बारह–तीनो प्रकार के शब्दो की शुभता और अशुभता से छ तथा छ पर राग और छ पर द्वेष होने से बारह। (ब) चक्षुरिन्द्रिय के विषय (1) काला (2) नीला (3) पीला (4) लाल और (5) सफेद। विकार कुल साठ–पाचो विषयो के सचित्त, अचित्त तथा मिश्र के भेद से पन्द्रह और पन्द्रह अपनी शुभता व अशुभता से तीस तथा राग और द्वेष से साठ। (स) घ्राणेन्द्रिय के विषय–(1) सुगध एव (2) दुर्गंध। विकार बारह–दोनो के सचित्त, अचित्त एव मिश्र के भेद से छ तथा इन पर राग और द्वेष से बारह। (द) रसनेन्द्रिय के विषय–(1) तीखा (2) कडुआ (3) कषैला (4) खट्टा और (5) मीठा। विकार साठ–पाचों विषयो के सचित्त, अचित्त व मिश्र रूप से पन्द्रह तथा पन्द्रह अपनी शुभता और अशुभता से तीस तथा तीस पर राग और द्वेष से साठ हुए। (य) स्पर्शेन्द्रिय के विषय– (1) कर्कश (2) मृदु (3) लघु (4) गुरु (5) स्निग्ध (6) रूक्ष (7) शीत और (8) ऊष्ण। विकार छियान्वे–आठ विषयो के सचित्त, अचित्त ओर मिश्र रूप से चौबीस तथा चौबीस अपनी शुभता और अशुभता से अडतालीस तथा राग और द्वेष से छियान्वे। इस प्रकार सब मिलकर 240 विकार हुए।

मैं उपरोक्त विश्लेषण की कुछ गहराई मे उतरना चाहता हू। पाचो इन्द्रियों के जो अपने अपने विषय हैं, उन्हे ग्रहण करना उनका स्वभाव है और इसे सामान्य स्थिति ही मानेगे। जैसे कि आख का विषय है रगो को देखना। जो रग उनके सामने आवेगे, वे उनके दृष्टि पथ से गुजरेंगे। जहा तक समक्ष

आये हुए दृश्य पटलो का आखो के दृष्टि पथ से सामान्य रीति से गुजरने का सवाल है, वहा तक कोई बुराई की बात नहीं हे। बुराई वहा स पैदा होती है जहा से आसक्ति शुरू होती है। कल्पना करे कि आखा के सामन कोई सुन्दर रूप आया, उसे एक तो आखो ने स्वभावगत सामान्य रीति से देख लिया और वे अप्रभावित–सी रही और दूसरे, आखो ने उस सुन्दर रूप को देखा, देखते रहने की कामना जागी और देखकर व्यामोह–सा होने लगा–आकर्षण पैदा हो गया तो समझे कि वह उन आखो का आसक्ति भाव हे। यह आसक्ति मन्द होगी तो आखे उसे देखती हुई कुछ तृप्ति या कुछ अतृप्ति लेकर आगे बढ जायेगी। यदि वह उग्र होगी तो वह वचन मे उतर सकती है या काया के हाव–भाव मे भी उतर सकती है। वैसी आसक्ति कोमल व्यवहार से अपनी कामना पूर्ति कर सकती है अथवा क्रूर व जघन्य रूप भी धारण कर सकती है। इस आसक्ति के उग्र रूप कई प्रकार के हो सकते हें।

तो मैं मानता हू कि इन्द्रियो के विषय इतने मुख्य नहीं, जितने उनमें आसक्ति के भाव मुख्य होते हैं। और यह आसक्ति मन का विषय बन जाती है। मन को जब बल मिलता है तो ये इन्द्रियॉ अपने–अपने विषयो का सेवन करने मे अधी और बावली हो जाती है। यह अधापन और बावलापन अध पतन की कितनी नीची हद तक पहुच सकता है–इसके दृश्य ससार मे चारो ओर नजर मे आते रहते हैं। इन्द्रियो का यह अधापन और बावलापन दो तरीको से फूटता हैं। एक तो आखो के सामने सुन्दर रूप आता है तब फूटता है और दूसरा जब आखो के सामने इतना असुन्दर रूप आ जाय कि बरबस घृणा व ग्लानि जाग उठे, तब भी फूटता है। किन्तु इन दोनो तरीकों के फूटने में विपरीत अन्तर होता है। एक अधापन और बावलापन तो फूटता है राग भाव से तथा दूसरा फूटता है द्वेष भाव से। मनोज्ञ याने मन को भावे ऐसे रूप पर राग जागता है ओर वह रूप मन को लुभाता है तो अमनोज्ञ याने मन को नहीं भावे ऐसे रूप पर द्वेष भाव से घृणा और ग्लानि जागती है। यद्यपि प्रवृत्तियॉ विपरीत दिशाओ मे होती है किन्तु राग और द्वेष दोनो प्रकार की मन स्थितियो मे मन, वचन, काया की अशुभ हलचल होती है। यह अशुभता ही ऊपर विकारो के रूप मे वर्णित की गई है।

विषय भोगों का यह अनुभव बाह्य रूप से इन्द्रियॉ करती हें और उनके माध्यम से मन और आत्मा। भोग भोगने की क्रियाओ का वैचारिक प्रभाव मन और आत्मा पर पडता है तथा भोग–जन्य सुख अथवा दु ख का अनुभव भी वे ही लेते हैं। जैसे कि किसी का एक बैल किसी दूसरे के खेत मे घुस गया

और वह फसल चरने व उजाडने लगा, इतने मे खेत का मालिक आ गया। इस नाजायज चराई के नतीजे मे बैल भी डडे खा सकता है लेकिन हर्जाने का वजन तो मालिक को ही भुगतना पडेगा। अगर किसी का बैल इस तरह उजाड करने की कई हरकते करता रहे तो क्या उसका मालिक चेत नहीं जायगा ? जरूर चेतेगा और बैल के नाथ डालकर उसे अपने नियत्रण मे रखेगा। किन्तु इन्द्रियो का मालिक मन और जीव ऐसी जिम्मेदारी को जल्दी नही पकडते हैं। इन्द्रिया अपने विषयों में आसक्त बनकर विकारपूर्वक भटकने लगती हैं और सद्गुणो की फसल को उजाडने लगती हैं, फिर भी मन जल्दी चेतता नही—जीव जल्दी जागता नहीं, बल्कि अधिक बार ऐसा होता है कि मन और आत्मा भी इन्द्रियो के साथ हो जाते हैं एव उन्ही के नियत्रण मे उजाड व बिगाड करने लग जाते हैं। बैलो को काबू मे करने की बजाय अगर मालिक ही बैलो के पीछे-पीछे चलने लगे और उनके करने के मुताबिक खुद भी करता जाय तो उस मालिक की दुर्दशा को कौन मिटा सकता है ?

मैं गभीरतापूर्वक इस परिप्रेक्ष्य मे अपनी इन्द्रियो, अपने ही मन और अपनी ही आत्मा पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालना चाहता हू। पहली बात तो यह कि मेरा मन और मेरी आत्मा का नियत्रण कौशल पूर्णतया दक्ष होना चाहिये जिसके कारण इन्द्रियॉ उस डोर से बधी रहे नाथ लगे बैल की तरह। ऐसा तभी हो सकता है जब आत्मा का ज्ञान और विवेक पूर्ण रूप से जागृत हो। दूसरी बात यह हो सकती है कि आत्मा और मन का इन्द्रियो पर नियत्रण अति कुशल न हो किन्तु एक बार उनके भटक जाने पर उन्हें यथाशक्य शीघ्रता से पुन वहा से लाकर आत्मस्थ बना सके। तीसरी बात आत्मा और मन की सुप्तावस्था की होती हे कि वे इन्द्रियो के विकारो को रोक पाने मे अक्षम बने रहते हैं, यहा तक तो फिर भी ठीक है कि सोये हुओं को जगा दिया जाये तो फिर विकृति रुक जायेगी। किन्तु जहॉ पर आत्मा और मन भी इन्द्रियो के भटकाव मे भटक जाये और परम आसक्ति भाव से मूर्छित बन जाय, तब वह दुरावस्था चिन्तनीय बन जाती है।

आत्मा की ऐसी विदशा पर ही मैं समझता हू कि वीतराग देवो ने चेतावनियॉ दी हैं कि इच्छा और भोग रूप कामनाओ का नाश करना अति कठिन हे। काम भोगो की इच्छा रखने वाली आत्मा उनके प्राप्त न होने पर या उनका वियोग होने पर शोक करती है, खिन्न होती है, मर्यादा भग करती हे, पीडित होती है तथा परिताप करती है। काम भोग शल्य रूप है, विष रूप हैं और विषधर सर्प के समान है। काम भोगो का सेवन तो दूर रहा, मात्र

उनकी अभिलाषा करने से ही आत्मा दुर्गति मे जाती है। काम भोगों में आसक्ति रखने वाले प्राणी कर्मो का सचय करते हैं तथा अमित कर्मो से बध कर ससार मे परिभ्रमण करते हैं। विष के समान इन भोगो को खूब भोग लेने पर भी अन्त मे कटुक, अनिष्ट तथा दु खदायी परिणाम भोगने पडते हैं। विषयाभिलाषी आत्मा विषय सुखो के प्राप्त न होने से न उनके समीप होता है और न विषयाभिलाषा का त्याग करने के कारण वह उनसे दूर ही होता है। शब्द, रूप, गधादि भोग भोगने पर आत्मा कर्म मल से लिप्त होती है किन्तु अभोगी आत्मा लिप्त नहीं होती है। भोगी अथवा भोग की लालसा वाला ससार के दु खो मे डूबा रहता है परन्तु अभोगी ससार बधन से मुक्त हो जाता है। जैसे कालकूट विष स्वय पीने वाले को, उल्टा पकडा हुआ शस्त्र शस्त्रधारी को और मन्त्रादि से वश नही किया हुआ बेताल तात्रिक को मार डालता है, उसी प्रकार शब्द आदि विषय वाला साधु धर्म भी वेशधारी द्रव्य साधु को दुर्गति मे ले जाता है। जैसे तृण काष्ठो से अग्नि तृप्त नही होती, हजारों नदियो के मिल जाने पर भी लवण समुद्र सन्तुष्ट नहीं बनता, उसी प्रकार काम भोगो से भी इस जीव को कभी तृप्ति नही हो सकती है। जो आत्मा मनोज्ञ एव अमनोज्ञ शब्द, रूप, गध, रस एव स्पर्श मे राग एव द्वेष नही करती हे, वही आत्मा ज्ञान, वेद, आचार, आगम, धर्म और ब्रह्म को जानने वाली होती है।

कषाय विकारों की मलिनता

इन्द्रियॉ जो विषय भोग मे रत बनती हैं, अपने पीछे विकृत भावनओं का धुआ छोडती जाती है, वहीं कषाय है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव को कषाय मलिन बनाती है। कष अर्थात् जन्म मरण रूप ससार की प्राप्ति जिन विकारपूर्ण वृत्तियो के कारण हो, वे कषाय वृत्तियॉ कहलाती हैं। ये वृत्तियॉ कषाय मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं। यह कषाय सम्यक्त्व, श्रावकत्व, साधुत्त्व तथा यथाख्यात चारित्र को नष्ट करने वाली होती है।

यह मेरा अनुभव है कि जब इन्द्रियॉ काम भोगो की प्राप्ति की तरफ उन्मुख बनती हैं तो वे उसकी विकृत छाप विचारो पर अवश्य छोडती हैं और जब वे काम भोगो मे प्रवृत्त होती हैं व लिप्त बनती है तो उस रूप मे विकार विचारो को–वृत्तियो को ढालते हैं। यदि किसी के पास काम भोग सामग्री प्रचुरता से उपलब्ध है तो उसके मन–मानस पर अहकार छा जायगा। यदि उसकी उस उपलब्ध सामग्री को कोई छीनना चाहेगा तो वह क्रोध से भर उठेगा। उपलब्ध सामग्री को सचित करते रहने की वृत्ति उसे लालची बनायेगी तो वह अपने लालच की कपटपूर्ण उपायो से पूर्ति करेगा। आशय

यह है कि काम भोगो की लिप्तता के साथ कषायों की ज्वालाए धधकती हैं जो आत्मा के चारित्र गुण को भस्म करती रहती हैं।

मूल रूप से इस कषाय के चार प्रकार कहे गये हैं जो प्रत्येक प्रकार की कषाय के साथ सम्बन्धित होते हैं—(1) अनन्तानुबधी—जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व तक की घात कर देता है तथा जीवन पर्यन्त बना रहता है। इस कषाय से जीव नरक गति के योग्य कर्मो का बध करता है। (2) अप्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से देश विरति रूप अल्प त्यागप्रत्याख्यान भी नही होता है। इस कषाय से श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती। यह कषाय एक वर्ष तक बनी रह सकती है और इससे तिर्यच गति के योग्य कर्मो का बध होता है। (3) प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से सर्व विरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधु धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। यह कषाय चार मास तक बनी रह सकती है और इसके उदय से मनुष्य गति के योग्य कर्मो का बध होता है। (4) सज्वलन—जो कषाय परिषह या उपसर्ग के आ जाने पर मुनियो तक को भी थोडा—सा जलाती है। यह हल्की सी कषाय सबसे ऊचे यथाख्यात चारित्र मे बाधा पहुचाती है। यह कषाय एक पक्ष तक बनी रह सकती है तथा इससे देवगति के योग्य कर्मो का बध होता है। उपर्युक्त कषायो की स्थिति तथा गति का जो उल्लेख किया गया है, वह बाहुल्यता की अपेक्षा से है क्योकि इसके अपवाद रूप उदाहरण भी पाये जाते हैं।

प्रज्वलनशील क्रोध

कषाय के चार भेद किये गये हैं—(1) क्रोध—कृत्य–अकृत्य के विवेक को हटाने वाले प्रज्वलन स्वरूप आत्म परिणाम को क्रोध कहते हैं। क्रोधवश जीव किसी की भी बात को सहन नहीं करता है और बिना विचारे अपने व पराये अनिष्ट के लिये हृदय के भीतर और बाहर जलता रहता है। क्रोधी समभाव को भूल जाता है और आक्रोश मे भर कर दूसरो पर रोष करता है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से आत्मगुणो का क्षय, विवेक शून्यता तथा सूक्ष्मनाडी तन्त्र का नाश होता है। क्रोध से मानसिक, वैचारिक, वैयक्तिक, शारीरिक, नैतिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि कई प्रकार की असहिष्णुताए जन्म ले लेती हैं। यह क्रोधाग्नि पहले स्वय को जलाती है और फिर दूसरे को जलाती हुई स्व—पर दाहक बनती है।

क्रोध इन कारणो से उत्पन्न हो सकता है—(1) दुर्वचन से (2) स्वार्थ या कामपूर्ति मे बाधा पडने से (3) अनुचित प्रतीत होने वाले व्यवहार से (4) भ्रम से या (5) विचार अथवा रुचि भेद से। क्रोध से उत्पन्न दोष इस रूप में हो सकते हैं—(1) दुस्साहसी बनना (2) चुगली करना (3) वैर बाधना (4) जलन रखना (5) दोष देखना, ढूढना और आरोपण करना (6) दुष्ट ध्यान मे रत रहना (7) कठोर वचन उच्चरित करना तथा (8) क्रूर व्यवहार करना।

क्रोध के चार प्रकार बताये गये हैं—(1) आमोग निवर्तित—पुष्ट कारण होने पर यह सोचकर कि ऐसा किये बिना सामने वाले को शिक्षा नहीं मिलेगी— जो क्रोध किया जाता है वह उस का आमोग निवर्तित प्रकार है। यह क्रोध क्रोध के विपाक को जानते हुए किया जाता है। (2) अनामोग निवर्तित— जब कोई यो ही गुण दोष का विचार किये बिना परवश होकर क्रोध कर बैठता है अथवा क्रोध के विपाक को न जानते हुए क्रोध करता है तो उसका वह क्रोध अनामोग निवर्तित होता है। (3) उपशान्त—जो क्रोध सत्ता (अस्तित्व) मे तो हो लेकिन उदयावस्था मे न हो, उसे उपशान्त क्रोध कहते हैं। (4) अनुपशान्त—जो क्रोध उदयावस्था में आ जाय, वह अनुपशान्त क्रोध कहलाता है।

क्रोध की उत्पत्ति के भी चार प्रकार कहे गये हैं—(1) आत्म प्रतिष्ठित जो अपने आप मे ही क्रोध करता रहे। अपने पर ही क्रोध आवे और अपने को ही भीतर जलाता रहे। (2) पर प्रतिष्ठित—जो क्रोध दूसरे के कारण आवे और दूसरे पर बरसे। (3) उमय प्रतिष्ठित—जिस क्रोध का कारण और ठहराव अपने और दूसरे दोनो के निमित्त से हो। (4) अप्रतिष्ठित—जो क्रोध बिना किसी निमित्त के ही भडक उठे।

कषाय के मूल प्रकारो के समान क्रोध के भी चार प्रकार इस रूप में बताये गये हैं (1) अनन्तानुबधी क्रोध—पर्वत के फट जाने पर जो दरार पड जाती है। जैसे उस दरार का मिलना कठिन होता है, वैसे ही इस प्रकार का क्रोध किसी भी उपाय से शान्त नहीं होता है। (2) अप्रत्याख्यानवरण क्रोध—सूखे तालाब आदि मे मिट्टी के फट जाने पर दरारे पड जाती हैं किन्तु जब वर्षा होती है, तब वह फिर से मिल जाती है। वैसे ही इस प्रकार का क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है। (3) प्रत्याख्यानावरण क्रोध—बालू मे लकीर खींचने पर कुछ समय मे हवा से वह लकीर वापस मर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहलाता है। (4) सज्वलन क्रोध—पानी में खींची हुई लकीर जैसे खिचने के साथ ही मिट

जाती है, वैस ही किसी कारण से उदय मे आया हुआ इस प्रकार का क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

मूलत क्रोध आत्मा के शुभ परिणामो का नाश करता है। वह सर्वप्रथम अपने स्वामी को जलाता है और बाद मे दूसरो को। क्रोध से विवेक दूर भागता है और उसका विपरीत रूप अविवेक आकर जीव को अकार्य मे प्रवृत्त करता है। क्रोध सदाचार को भी दूर करता है और मनुष्य को दुराचार में प्रवृत्ति करने को प्रेरित करता है। क्रोध वह अग्नि हे जो चिर काल तक आराधित यम, नियम, तप आदि को पल भर मे भस्म कर देती है। दोनो लोक बिगाडने वाला पापमय और स्व–पर का उपकार करने वाला यह क्रोध वास्तव मे प्राणियो का महान् शत्रु है।

प्रमुख रूप से क्रोध को शान्त करने का एक ही उपाय है और वह है क्षमा। क्षमाभाव के आविर्भाव से शान्ति प्राप्त होती है और शान्त रह कर ही क्रोध पर विजय पाई जा सकती है। क्रोध को तात्कालिक रूप से शान्त करने के लिए इन उपायो का उपयोग किया जा सकता है (1) क्रोध आते ही एकान्त मे चला जावे (2) मौन होकर ध्यान करले (3) क्रोध न करने की अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करे तथा प्रायश्चित रूप दड का सकल्प ले (4) मन व विचार की दिशा बदल कर किसी अन्य कार्य मे प्रवृत्त हो जावे अथवा (5) श्वास–निरोध द्वारा यौगिक क्रिया करे।

विनम्रता विनाशक मान

(2) मान—जाति आदि गुणो मे अहकार बुद्धि रूप आत्मा के परिणाम को मान कहते हैं। मानवश छोटे बडे के प्रति उचित नम्र भाव नहीं रहता है। मानी व्यक्ति अपने को बडा समझने लग जाता है और दूसरो को तुच्छ समझता हुआ उनकी अवहेलना करता है। गर्ववश वह दूसरों के गुणो को भी सहन नहीं कर सकता है।

जैसे क्रोध के वश मे हो जाने वाला मनुष्य सुख प्राप्त नही कर सकता है, वैसे ही मान के वश मे हुआ मनुष्य भी शोक–परायण होता है अर्थात् हर समय चिन्तातुर रहता है। मान या मद आठ प्रकार का कहा गया हे (1) जाति मद (2) कुल मद (3) बल मद (4) रूप मद (5) तप मद (6) विद्या मद (7) लाभ मद और (8) ऐश्वर्य मद। इनमे से किसी भी प्रकार का मद या मान करना नीच गौत्र कर्म के बध का कारण होता है। मान विवेक को नष्ट करता है तथा आत्मा को शील–सदाचार से पतित बना देता है। वह विनय का भी नाश करता है तो विनय के साथ ज्ञान का भी। एक मानी अपने को मान के

माध्यम से ऊँचा बनाना चाहता हे लेकिन वह इस तथ्य को नहीं समझ पाता है कि उस से उसके सब कार्य नीच होते हैं।

एक अभिमानी व्यक्ति (1) प्रदर्शन का आग्रही (2) अपमान का प्रतिशोधी (3) अह का पुजारी (4) स्वय का प्रशसक (5) नाममोही (6) दूसरो को नीचा दिखाने की भावना वाला (7) अपनी आन्तरिक शक्तियो को नहीं पहिचानने वाला तथा (8) दूसरो से कुछ भी शिक्षा नही लेने वाला बन जाता हे। इस वजह से वह इस प्रकार से हानि उठाता है (1) उसके सद्‌गुणा का ह्रास होता है (2) उसकी उन्नति मे अवरोध पैदा होते रहते हैं (3) उसकी वृत्तियॉ पापो के मूल तक पहुच जाती हैं (4) उसके आत्म–विकास मे बाधाऍ डाली जाती हैं (5) उसको समाज मे सहयोग नहीं मिलता है (6) उसका मानी स्वभाव कई प्रकार की आसुरी वृत्तियो का जन्मदाता बन जाता है (7) उसकी ज्ञान प्राप्ति मे व्यवधान आते रहते हैं तथा (8) उसके विनय गुण का नाश होता रहता है।

मान कषाय के भी चार प्रकार इस रूप मे कहे गये हें (1) अनन्ता-नुबधी मान–जैसे पत्थर का खभा अनेक उपाय करने पर भी नही नमता, वैसे ही जो मान किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सके। (2) अप्रत्याख्यानावरण मान– जिस प्रकार हड्डी अनेक उपायों से नमती है, उसी प्रकार जो मान अनेक उपायो तथा अति परिश्रम से दूर किया जा सके। (3) प्रत्याख्यानावरण मान–जैसे काष्ठ (लकडी) तेल वगैरा की मालिश आदि से नम जाता हे, वेसे जो मान थोडे से उपायो से नमाया जा सके तथा (4) सज्वलन मान–जैसे बेत बिना मेहनत के सहज ही मे नम जाती है वैसे जो मान सहज ही छूट जाता है।

जैसे क्रोध के चार प्रकार होते हें, वैसे ही मान के भी चार प्रकार (1) आभोग निवर्तित (2) अनाभोग निवर्तित (3) उपशान्त तथा (4) अनुपशान्त होते हैं। मान के समानार्थक बारह नाम बताये गये हैं (1) मान–कषाय (2) मद–हर्ष करना (3) दर्प–घमड मे चूर होना (4) स्तभ –खभे की तरह कठोर बने रहना (5) गर्व–अहकार करना (6) अत्युत्क्रोश–अपने को दूसरो से उत्कृष्ट बताना (7) परपरिवाद–दूसरों की निन्दा करना। (8) उत्कर्ष–अभिमान पूर्वक अपनी समृद्धि प्रकट करना और दूसरे की क्रिया से अपनी क्रिया को उत्कृष्ट बताना (9) अपकर्ष–अपने से दूसरों को तुच्छ बताना (10) उन्नत–विनय को छोड देना (11) उन्नाम–वन्दनीय को भी वन्दन नहीं करना। (12) दुर्नाम–बुरी तरह से वन्दन करना।

मायाविनी माया

(3) माया—मन, वचन एव काया की कुटिलता द्वारा परवचना करना याने दूसरो के साथ कपटाई, ठगाई या दगा—धोखा करना। ऐसा आत्मा का परिणाम- विशेष माया कहलाती है। माया अज्ञान और अविद्या की जननी तथा अकीर्ति का कारण होती है। यदि माया के साथ तप, सयम आदि के अनुष्ठानो का सेवन किया जाता है तो वह भी नकली सिक्के की तरह असार होता है। वह स्वप्न तथा इन्द्रजाल की माया के समान निष्फल भी होता है। माया ऐसा शल्य है जो आत्मा को व्रतधारी नही बनने देता है क्योकि व्रती का नि शल्य होना अनिवार्य है। माया इस लोक मे तो अपयश देती ही है, परन्तु परलोक मे भी दुर्गति देती है। यदि माया कषाय को नष्ट करती है तो वह ऋजुता और सरलता के भाव अपनाने से ही नष्ट हो सकती है।

मायावी याने कपटी पुरुष सदा ही दूसरो का दास होता है क्योकि दगाबाज सबके सामने दुगुना नमता है। माया सबसे बडा भय भी होती है जो गोपनीयता मे पैदा होती है, लोभ मे पनपती है, मान मे अपना उठाव दिखाती हे और क्रोध मे बाहर प्रकट होती है। इसके विभिन्न रूप इस प्रकार गिनाये गये हैं—(1) कपट (2) मायाचार (3) प्रतारणा व वचना (4) दभ और आडम्बर (5) कुटिलता ओर जटिलता (6) दुराव तथा छिपाव आदि। इसी प्रकार माया के विविध रूपो को प्रकट करने वाले इसके समानार्थक चौदह नाम अन्यथा भी गिनाये गये हैं (1) उपधि—किसी को ठगने के लिए प्रवृत्ति करना (2) निवृत्ति—किसी का आदर सत्कार करके फिर उसके साथ माया करना या एक मायाचार छिपाने के लिए दूसरा मायाचार करना (3) वलय—किसी को अपने माया जाल मे फसाने के लिए मीठे—मीठे वचन बोलना (4) गहन—दूसरो को ठगने के लिये अव्यक्त शब्दो का उच्चारण करना या ऐसे गूढ तात्पर्य वाले शब्दो का प्रयोग करना व जाल रचना जो दूसरे की समझ मे ही नहीं आवे (5) णूम—मायापूर्वक नीचता का आश्रय लेना (6) कल्क—हिसाकारी उपायो से दूसरो को ठगना (7) कुरूप—निन्दित रीति से मोह पैदा करके ठगने की प्रवृत्ति करना (8) जिह्मता—कुटिलतापूर्वक ठगने की प्रवृत्ति करना (9) किल्विष—किल्विषी सरीखी प्रवृत्ति करना (10) आदरणा—(आचरणा) मायाचार से किसी का आदर करना तथा ठगाई के लिए अनेक प्रकार की क्रियाएँ करना (11) गूहनता—अपने स्वरूप को छिपाना (12) वचनता—दूसरो को ठगना (13) प्रतिकुचनता—सरल भाव से कहे हुए वचन का खडन करना अथवा उल्टा अर्थ लगाना (14) सातियोग—उत्तम पदार्थ के साथ तुच्छ

पदार्थों की मिलावट करना। इस प्रकार मायावी पुरुष लोगो को रिझाने के लिए कपट करने वाला, महापुरुषो के प्रति स्वभाव से ही कठोरता का व्यवहार करने वाला, बात–बात मे नाराज और खुश होने वाला गृहस्थो की चापलूसी करने वाला, अपनी शक्ति का गोपन करने वाला तथा दूसरो के विद्यमान गुणों को भी ढाकने वाला होता है। वह चोर की तरह सदा सभी कार्यो मे शकाशील बना रहता है तथा कपटाचारी होता है। मूल कषाय की दृष्टि से माया के भी चार भेद कहे गये हैं—(1) अनन्तानुबधी माया— जेसे बास की कठिन जड का टेढापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया किसी भी प्रकार दूर न हो तथा सरलता रूप मे परिणत नहीं हो सके। (2) अप्रत्याख्यानावरण माया—जैसे मेढे का टेढा सीग अनेक उपाय करने पर बडी कठिनाई से सीधा होता है, उसी प्रकार जो माया अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके। (3) प्रत्याख्यानावरण माया—जेसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढी लकीर सूख जाने पर हवा आदि से मिट जाती है, उसी प्रकार जो माया सरलतापूर्वक दूर हो सके। (4) सज्वलन माया—छीले हुए बास के छिलके का टेढापन बिना प्रयत्न के सहज ही मे मिट जाता है, वैसे ही जो माया बिना परिश्रम के शीघ्र ही अपने आप दूर हो जाय।

क्रोध ओर मान की तरह ही माया के भी चार प्रकार (1) आभोग निवर्तित (2) अनाभोग निवर्तित (3) उपशान्त और (4) अनुपशान्त कहे गये हें।

जीर्ण न होने वाला लोभ

(4) लोभ—द्रव्य आदि विषयक इच्छा, मूर्छा, ममत्त्व—भाव, तृष्णा एव असन्तोष रूप आत्मा के परिणाम विशेष को लोभ कहते हें। लोभ कषाय सभी तरह के पापो का आश्रय होती हे। लोभ के पोषण के लिए लोभी माया का सहारा लेता है। सभी जीवों मे जीने की इच्छा प्रबल होती है और सभी मृत्यु से डरते हैं, लेकिन लोभ इसके विपरीत ऐसे कार्यो मे प्रवृत्ति कराता है जिनमे सदा मृत्यु का खतरा बना रहता है। यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति मे मर जाता है तो लोभ वृत्ति के परिणाम स्वरूप उसे दुर्गति में भीषण दु ख भोगने पडते हैं। ऐसी अवस्था मे उसका यहॉ का सारा शुभ परिश्रम व्यर्थ हो जाता हे। यदि लोभ से लाभ भी हो गया तो उसके भागी अन्य ही होते हैं। लोभी इतना नीच भी बन जाता है कि उसे स्वामी, गुरु, भाई, वृद्ध, स्त्री, बालक, क्षीण, दुर्बल, अनाथ आदि तक की हत्या करने मे भी हिचकिचाहट नही होती है। यो कह सकते हैं कि नरक गति के कारणरूप जितने दोष बताये गये हें, वे सभी दोष लोभ से प्रकट होते हैं। लोभ को दूर करना है तो उसका एक ही सबल उपाय

है और वह है सन्तोष। इच्छाओ का सयमन करके ही लोभ का परिहार किया जा सकता है।

लोभी मनुष्य सदा ही अर्थपरायण होता है। वह तीन मनोवृत्तियो के चक्र मे ही चक्कर काटता रहता है–(1) धन–लाभ की धुन (2) सग्रह और सचय की रट, तथा (3) स्वार्थ परायणता। हकीकत मे धन लोभी के अधिकार मे नहीं होता, बल्कि वह खुद ही धन के अधिकार मे हो जाता है। वह अपने धन के पागलपन के सामने न सम्बन्धी या मित्र के हित को देखता है और न अपने स्वय के स्वास्थ्य के प्रति ही ध्यान देता है। लोभ से लाभ और लाभ से लोभ के ध्यान मे वह सब कुछ भुला देता है। वह हमेशा रोद्र ध्यान मे पडा रहता है और सबसे बैर बढाता रहता है। परस्पर अविश्वास उसका पहला दुर्गुण बन जाता है और अनन्त इच्छाओ के भ्रम जाल मे वह अपने जीवन को जीर्ण बना लेता है किन्तु उसका लोभ जीर्ण नहीं बनता।

लोभ के विभिन्न रूप उसके समानार्थक चौदह नामो से प्रकट होते हैं–(1) लोभ–सचित्त अथवा अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा रखना। (2) इच्छा–किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा करना (3) मूर्च्छा–प्राप्त की हुई वस्तुओ की रक्षा करने की निरन्तर इच्छा बनाये रखना (4) काक्षा–अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना (5) गृद्धि–प्राप्त वस्तुओ पर आसक्ति भाव बनाना (6) तृष्णा–प्राप्त अर्थ आदि का व्यय न हो ऐसे सोच मे पडे रहना (7) भिध्याविषय भोगो का ध्यान रखना (8) अभिध्याचित्त की चचलता बनाना (9) कामाशा–इष्ट शब्द रूप आदि की प्राप्ति की कामना करना (10) भोगाशा–इष्ट गध, रस आदि की प्राप्ति की कामना करना (11) जीविताशा–जीते रहने की कामना करना (12) मरणाशा–विपत्ति के समय मरने की कामना करना (13) नन्दी– वाछित अर्थ की प्राप्ति पर आनन्द मनाना तथा (14) राग–विद्यमान सम्पत्ति पर प्रगाढ राग भाव रखना।

क्रोध, मान एव माया के समान लोभ के भी मूल कषाय रूप से चार भेद हैं– (1) अनन्तानुबधी लोभ–जैसे किरमची रग किसी भी उपाय से नहीं छूटता, उसी प्रकार जो लोभ किसी भी उपाय से दूर न हो। (2) अप्रत्याख्यानावरण लोभ–जेसे बैलगाडी के पहिये का कीटा (खजन) परिश्रम करने पर अति कष्ट पूर्वक छूटता है, उसी प्रकार जो लोभ अति परिश्रम से कष्टपूर्वक दूर किया जा सके। (3) प्रत्याख्यानावरण लोभ–जैसे दीपक का काजल साधारण परिश्रम से छूट जाता है वैसे ही जो लोभ कुछ परिश्रम से दूर हो। (4) सज्वलन लोभ–जैसे हल्दी का रग सहज ही छूट जाता है वैसे

ही जो लोभ आसानी से स्वय दूर हो जाय। लोभ भी चार प्रकार का अन्य कषायो की तरह ही होता है—(1) आभोग निवर्तित (2) अनाभोग निवर्तित (3) उपशान्त तथा (4) अनुपशान्त।

कषाय से मुक्त होना ही मुक्ति

कषायो की मलिनता का विश्लेषण जान कर मुझे आप्त वचन का स्मरण हो आता है कि एक दृष्टि से मुक्ति वास्तव में कषायो से मुक्त हो जाने मे ही है। क्रोध आदि कषाय सासारिकता की जडों को सींचते हैं और ससार के रगो को गाढा बनाते हैं। अपने चारो ओर तथा कई बार स्वय को देखने पर मेरे यह तथ्य अनुभव मे आते हैं कि कषायो के सेवन से परलोक की दुर्गति को एक तरफ रख दें तब भी इस जीवन मे ही इसके जो दुखपूर्ण परिणाम सामने आते हैं, वे सामान्य विवेक की रोशनी मे भी चोंकाने वाले होते हैं। क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान से विनयभाव की समाप्ति होती है, माया से मित्रता का नाश होता है और लोभ से प्रीति, विनय तथा मित्रता तीनो नष्ट हो जाते हैं।

चारो प्रकार की कषाय को जीतने के भी चार उपाय बताये गये हैं —

(1) मैं क्रोध को शान्ति और क्षमा द्वारा निष्फल करके दबा दू ओर क्षमावृत्ति को अभिवृद्ध बनाते हुए क्रोध को क्षय कर दू—ऐसा मेरा पुरुषार्थ जागना चाहिये। कारण, मैं जानता हू कि क्रोध की अधिकता से नरक गति मे जाना पडता है। इसलिये मैं चौरासी लाख योनियो के सभी जीवो से क्षमा मागता रहू, किसी भी जीव के साथ वैर—भाव नहीं रखू तथा सभी प्राणियो के साथ अपने मैत्री भाव का विस्तार कर लू। आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, सहधार्मिक, कुल और गण के प्रति भी मैं क्रोध आदि कषाय पूर्वक जो व्यवहार करू, उसके लिये भी मन, वचन और काया से क्षमा चाहू। मैं नतमस्तक होकर हाथ जोडकर पूज्य श्रमण समुदाय से अपने सभी अपराधो के लिये विनयपूर्वक क्षमा मागू। धर्म मे स्थिर बुद्धि होकर मैं सद्भाव पूर्वक सभी जीवो से अपने क्रोध—कषाय पूर्ण व्यवहार के लिये क्षमा चाहू तथा सद्भाव—पूर्वक सभी जीवो के अपराधो को भी क्षमा कर दू। क्षमा के साथ ही मेरे हृदय मे अपूर्व शान्ति का सचार होगा, जिसके कारण उग्र से उग्र हेतु पेदा हो जाने पर भी क्रोध का मेरे ऊपर उग्र प्रभाव नहीं होगा।

(2) मैं मान पर मृदुता एव कोमल व विनम्र वृत्ति द्वारा विजय प्राप्त करू। ज्यो ही मान भाव मेरे मन मानस पर आक्रमण करे, मैं अधिक से

अधिक मृदुता एव विनम्रता ग्रहण कर लू। मैं विनय को धर्म रूप वृक्ष का मूल मानू जिसका सर्वोत्तम रस मोक्ष रूप मे मिलता है। में विनय–साधना से ही पूर्णत प्रशस्त श्रुत ज्ञान का लाभ ले सकता हू। मैं जानता हू कि विनीत पुरुष ही सयमवन्त होता हे ओर जो विनयरहित है, उसको धर्म और तप कहा से हो सकते हैं ? मैं गुरु की आज्ञा पालू, उनके समीप रहकर सेवा करू तथा उनके इगितो व आकारो को भलीभाति समझू तभी मैं विनीत शिष्य कहला सकता हू। मैं जानता हू कि गुरु का वचन नही सुनने वाला, कठोर वचन बोलने वाला और दु शील का आचरण करने वाला शिष्य गुरु को भी क्रोधी बना देता है। इसके विपरीत गुरु की चित्त वृत्ति का अनुसरण करने वाला और अविलम्ब गति से गुरु का कार्य करने वाला विनीत शिष्य तेज स्वभाव वाले गुरु को भी प्रसन्न करके कोमल बना देता है।

मैं आप्त वचनो को स्मरण करके प्रतिपल विनय भाव से ओतप्रोत रहना चाहता हू ताकि किसी भी रूप मे मान का आविर्भाव न हो सके। क्योकि अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है तथा विनीत को सम्पति प्राप्त होती है—जो ये दो बाते जान लेता है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है। बुद्धिमान पुरुष अहकार के दुष्प्रभाव को तथा विनय के महात्म्य को समझकर विनम्र बनता है। लोक मे उसकी कीर्ति होती है और वह सदनुष्ठानो का आधार रूप होता है जैसे कि पृथ्वी प्राणियो के लिये आधार रूप होती है। मान का परिहार करके तथा विनय को धारण करके ही मैं तिर्यच गति को टाल सकता हू। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, काम विनय और लोकोपचार विनय के रूप मे में अपने सम्पूर्ण आचरण को विनय–भाव से आलोकित बनालू।

(3) मैं ऋजुता और सरलता की भावनाओ से माया रूप कषाय का मर्दन करू, जिस से कुटिलता मेरे भीतर प्रवेश तक न पा सके। मैं यह समझ कर अपने मायाचार की आलोचना करू कि 'मायावी पुरुष इस ससार मे सर्वत्र निन्दित और अपमानित होता है।' मायावी का परलोक भी गर्हित होता है—देव बने तो तुच्छ जाति का और मनुष्य बने तो वह नीच कुल मे जन्म लेता है। मैं जानता हू कि मायावी यदि अपनी आलोचना नहीं करता तो वह विराधक बन जाता है। इस कारण आराधक बने रहने के लिये मुझे बार–बार अपनी मायापूर्ण वृत्तियो व प्रवृत्तियो की आलोचना करते रहना चाहिये।

(4) मैं लोभ को जीतने के लिये सन्तोषभाव को शस्त्र के रूप मे काम मे लू ताकि लोभ क्षत विक्षत होकर मेरे आत्म–परिणामो मे से चला जावे। जब

आवे सन्तोष धन तो फिर सब धन मेरे लिये धूलि समान हो जायेगे। सन्तोष धारण कर लेने पर लोभ मन्द होगा तो मेरी तृष्णा भी जीर्ण बनेगी तथा समुच्चय मे परिग्रह के प्रति ही मेरा मूर्छा भाव घट जायगा। मैं सन्तोष से शान्ति प्राप्त करूगा। शान्ति के साथ समस्त जीवो के प्रति मेरी प्रीति और धर्मानुरागिता रहेगा तथा सबकी मित्रता एव लोकप्रियता मुझे मिलेगी। इतना होने पर भी मेरी विनम्रता नित प्रति बढती रहेगी। यह सब सन्तोष का ही सुफल होगा।

मे मान गया हू कि क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष ये—चारों ही धर्म के द्वार हें। सहज सरलता, सहज विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता ये चार प्रकार के व्यवहार मानवीय कर्म हैं। इन के सुप्रभाव से मनुष्य पुन मानव जीवन प्राप्त करता है। मैं यह भी मान गया हू कि क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चारो कषाय पाप की वृद्धि करने वाली हैं, अत आत्मा का हित चाहने वाला साधक इन दोषो का परित्याग कर दे। धर्म का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है। जो मनुष्य क्रोधी अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी ओर धूर्त हे, वह ससार के प्रवाह मे वैसे ही बहता रहता है जेसे जल के प्रवाह में काष्ठ।

मैं इस वीतराग वचन को अपने ह्रदय मे धारण करके कि क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय अग्नि के समान समझूगा व इस अग्नि को बुझाने के लिये प्रतिपल सतर्क रहूगा तथा दानशील, सदाचार ओर तप रूपी शीतल जल की इन कषायों पर निरन्तर वर्षा करता रहूगा। यही मुक्ति का मार्ग होगा।

बंध और मोक्ष का कारण मन

में कल्पना करू कि एक रथ दोड रहा है जिसमे पाच घोडे जुते हुए हैं। सारथी उस रथ को चला रहा हे और रथ में बैठा हुआ है उसका स्वामी। अब में दो प्रकार के दृश्यों की कल्पना करता हू। पहला तो यह कि रथ का स्वामी सावधान और सजग है—उसकी दृष्टि एकटक सारथी की ओर लगी हुई हे कि वह रथ को कहाँ और किस तरह ले जा रहा है ? क्या सारथी भी जगा हुआ ओर सतर्क हे या नहीं, जो कि पाचो घोडो को सन्तुलन से चला रहा हे। वह पांचो घोडो की चाल की एकरूपता का भी ध्यान रखता है ताकि कुछ भी इधर उधर होने पर सारथी को चेता सके। सारथी भी अपने स्वामी की सजगता को देखकर चोकन्ना रहता है और पाचो घोडो की रास को बराबर सम्हाल कर रखता है। घोडे भी समझदार होते हें—अपने सारथी के

प्रत्येक सकेत का पूरा खयाल रखते हैं। ऐसी स्थिति मे रथ किस तरह चलेगा ? वह समतल भूमि या मार्ग पर ही चलेगा—एक—सा चलेगा जिससे भीतर बेठे हुओ को तनिक भी धक्का नही लगे। वह रथ तीव्र गति से भी चलेगा ताकि गतव्य स्थान पर जल्दी से जल्दी पहुच जाय। कभी ऐसा भी हो सकता है कि आराम से बेठे हुए रथ के स्वामी को एकाध नींद का झोंका लग जाय, तब भी सारथी एक हाक लगाकर घोडो को भी जरा तेज चला दे और उस हाक से अपने स्वामी को भी जगादे। रथ की गति तब निर्बाध रहती है क्योकि रथ का स्वामी, सारथी और घोडे सभी अपनी सावधानी बनाये रखते हैं।

दूसरा दृश्य यह हो सकता है कि रथ तो चल रहा है लेकिन वह किधर जा रहा है, केसी चाल से चल रहा हे और रथ के सामने क्या—क्या खतरे हैं—इन सबसे रथ का स्वामी बेभान हो—मजे से नीद मे खर्राटे भर रहा हो। जब स्वामी बेभान हो तो सारथी अपने मन की करने से कब चूकता है ? वह घोडो की रास को उधर ही घुमाता और उनको उधर ही चलाता रहेगा जिस ओर उसकी इच्छा हो अथवा यह भी हो सकता है कि स्वामी को सोया देखकर सारथी भी सो जाय। फिर क्या है ? घोडे ही जो ठहरे – उछल कूद मचाते हुए अपनी चाल से चलने लग जाय—रास्ते का ध्यान ही छोड दे। जिधर हरी हरी घास देखी उधर मुह मोड दिया। किसी और तरफ ललचाये कि उधर चल दिये। वे न तो गतव्य का ध्यान रखेगे और न मार्ग या दिशा का। वे उल्टी दिशा मे भी मुड जाय तो उनको रोकेगा ही कौन ? वे घोडे मस्त होकर रथ को बीहड मे भटका सकते हैं। तो गढ्ढो मे पटक कर उसको क्षत—विक्षत कर सकते हैं। रथ के नष्ट होने की दशा मे भी स्वामी नहीं जागे—वह बडी दयनीय दशा हो जाती है। अत तक भी स्वामी चेत जाय तब भी कुछ बचाव हो सकता है। किन्तु यह विदशा की कहानी है।

अब मैं इसके परिप्रेक्ष्य मे अपनी ही हकीकत को देखना चाहता हू। यह रथ है मेरा शरीर, जिसमे मेरा 'मैं' बैठा हुआ है—मेरी आत्मा। मेरे रथ का सारथी है मेरा मन और पाचो घोडे हैं मेरी पाचो इन्द्रियॉ। इस, मे कोई सन्देह नही कि मेरा रथ चल रहा है किन्तु विचारणीय विषय ये हैं कि क्या मेरा 'मैं' अपने रथ को भलीभाति देख रहा है ? क्या उसकी अपलक दृष्टि अपने सारथी पर लगी हुई है ? क्या उसकी पैनी नजर रथ के घोडो पर भी लगी हुई है ? और सबसे बडी बात यह कि क्या रथ गतव्य स्थान तक पहुचाने वाले मार्ग पर चल रहा है अथवा मार्ग से भटक कर कुमार्ग पर या अमार्ग पर ? इन सारी परिस्थितियो की जाच मेरे 'मैं' को करनी है क्योंकि रथ का

स्वामी वही है और रथ स्वस्थ एव सुन्दर गति से प्रगति करे—यह दायित्व भी उसी का है।

लेकिन जब मैं इतना सोचने के लिये बैठता हू तो यह निश्चय मान सकता हू कि मेरे 'में' मे अवश्य जागरण की किरणे फैल रही हैं और यह सुव्यवस्था तथा प्रगति के लिये शुभ लक्षण है। मेरा 'मैं' जाग रहा है जिसका अर्थ है कि मैं जाग रहा हू और रथ मे बैठा हुआ मैं जाग रहा हू तो सबसे पहले मेरी दृष्टि मेरे सारथी पर ही गिरनी चाहिये। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात भी यही है। मैं राजा हू, हर कर्मचारी से मैं सीधा क्यो भिडू ? अपने दीवान को ही ऐसी झाड पिलाऊ कि वह तुरन्त कर्त्तव्य परायण हो जाय क्योकि दीवान अपना काम सम्हाल लेगा तो मुझे फिर किसी दूसरे को देखने की जरूरत नहीं रहेगी। दीवान पर नजर रखने से ही मेरा काम भली प्रकार चल जाएगा।

मन को मैं सम्हालू, मन को मैं जाचू परखू, मन पर अपना पक्का काबू बनाऊ और मन को मैं अपनी मर्जी से चलाऊँ—यह सारा निग्रहकारी काम मुझे ही करना है। यह एकदम सही है कि मन ही मनुष्य के बध और मनुष्य के मोक्ष का कारण है। मन रूपी सारथी को एकाग्र बना लिया तो घोडो की क्या हिम्मत कि वे अपनी चाल तो दूर, नजर को भी इधर–उधर करे ? मन मजबूत तो आत्मा की सुदृढता को भी कौन डिगा सकेगा ? एक मन की जीत ले तो पाचो इन्द्रिया स्वत ही जीत ली जायगी इस प्रकार पाच इन्द्रिया कषाय और एक मन (आत्मा) दसो को भी जीत लिया जायेगा। जब मन एकाग्र हो जाता है—गतव्य की दिशा मे आगे बढने को एकनिष्ठ, तब रथ भी सन्तुलित चलता है तो रथ का स्वामी भी धर्मानुष्ठानो मे सन्तुष्ट रहकर सलग्न हो सकता है। कारण, मन एकनिष्ठ तो वचन एकनिष्ठ और मन वचन एकनिष्ठ तो सकल प्रवृत्तियॉ एकनिष्ठा से ही प्रवर्तित होगी। फिर आत्मा को अपना समग्र पुरुषार्थ नियोजित करने मे किसी भी प्रकार का व्यवधान कहॉ से आवेगा ?

आत्म विकास की इस महायात्रा मे जो घातक व्यवधान उत्पन्न होते हैं, वे मूल रूप मे अपनी ही आन्तरिकता से उत्पन्न होते हैं, क्योकि बाहर से आने वाली भीषण से भीषण बाधा या कठिनाई भी एक साधक को विचलित नहीं कर सकती है, यदि उसका मन मजबूती से सधा हुआ हो। मन को कैसे साधे—यही मेरे सम्मुख सबसे बडा प्रश्न है।

अनादि काल से ससार मे परिभ्रमण करते हुए मेरी आत्मा मे जागरण की जो कमी रही है, उसके कारण सासारिक विषयो मे उसकी अधिक

अभिरुचि रहती आई हे। उसकी अभिरुचि की ही छाप मन ओर इन्द्रियो पर पडती आई है अत सारी नियत्रणहीनता फैली हुई है भीतर की प्रशासन व्यवस्था मे। अब मैं जाग रहा हू—यह ठीक है लेकिन मुझे सारी प्रशासन व्यवस्था को जगानी और सुचारू बनानी होगी और उसके लिये सर्वप्रथम मन को साधना पडेगा। इसको साधने का पहला चरण यह होगा कि मन की गति की दिशा बदल दी जाय। सासारिक अभिरुचि के विषय—कषायो मे जो मन की गति बनी हुई है—पहले तो उसका इस रूप मे निग्रह करू कि उस दिशा मे उसे न जाने दू—प्रवृत्ति के चक्र को विपरीत दिशा मे घुमाऊ, उसे निवृत्ति की ओर मोडू।

तो मेरा पहला काम यह हो कि मैं मेरे मन की सासारिक विषयो मे प्रवृत्ति को निवृत्ति मे बदलू—वह ससार की दिशा मे दौडना बद करदे। किन्तु क्या मन का दौडना मैं कभी भी बद कर सकूगा ? मन बहुत ही चचल और सदा गतिशील होता है। उसकी दौड कभी बन्द नही होगी। इसलिये उसकी निवृत्ति का अर्थ होगा—ससार के विषय कषायो से निवृत्ति, किन्तु तत्काल ही उसकी प्रवृत्ति का भी प्रबध करना होगा कि उसे आध्यात्मिक, धार्मिक तथा लोकोपकार के क्षेत्रो मे प्रवृत्ति कराई जाय। मन की दौड न तो बद की जा सकती है, न बद होती है। करना यह है कि सिर्फ मन की दौड की दिशा बदल दी जाय। अभी वह पश्चिम मे दौड रहा है तो उसे पूर्व मे दौडाना शुरू करा दिया जाय। एक प्रवृत्ति से निवृत्ति तथा दूसरी निवृत्ति से प्रवृत्ति ये यो तो मेरे दो काम होगे लेकिन होगा असल मे एक ही काम कि मन की गति की दिशा बदल दी जाय। मन दौडता रहे—यह मुझे अभीष्ट होगा, मगर गतव्य की दिशा मे दौडे।

मन को इस प्रकार एक दिशा मे निवृत्ति तथा दूसरी दिशा में प्रवृत्त कराने का काम मेरे लिये कोई आसान काम नहीं होगा। वह बार—बार पश्चिम मे छलाग लगायगा और मुझे उसकी टाग पकड—पकड कर पूर्व मे धकेलना पडेगा। यह कशमकश लगातार और लम्बे अर्से तक चलती रहेगी। यह अवधि ही यथार्थ रूप में मेरा परीक्षा काल होगा। मैं मन को अपने काबू मे कर ही लेता हू या कि मन के आगे मैं अपनी हार मान जाता हू—उसी रूप में मेरी परीक्षा का परिणाम सामने आवेगा। अत प्रत्येक प्रतिभावान विद्यार्थी के समान मुझे भी इस परीक्षा में इसी कठिन सकल्प के साथ जुटना होगा कि मैं परीक्षा मे सफल बनू ही।

परीक्षा की इन घडियो मे मुझे अतीव कठोर परिश्रम करना होगा। जब–जब मन अपने मनोज्ञ और रुचिकर भोग–विषयो की ओर अथवा तज्जन्य काषायिक वृत्तियो की ओर बढने लगे, तब–तब मुझे उन विषयों से उसे दूर करते रहना पडेगा ताकि तज्जन्य काषायिकता उत्पन्न ही न हो। सोचे कि मन शब्द, रूप, गध, रस या स्पर्श के मनोज्ञ पदार्थ को भोगने की इच्छा करे कि अमुक गाना सुनूं या अमुक रूप देखू या कि अमुक रस चखू तो तत्काल मुझे उसे उस गाने, रूप या भोजन से वचित कर देना होगा। निग्रह के इस उपाय को बार–बार प्रयोग मे लाने से तथा आध्यात्मिक चिन्तन मे उसे लगा देने से उसकी इच्छाओ का अन्त होता जायगा। धीरे–धीरे उसकी एक ओर से निवृत्ति और दूसरी दिशा मे प्रवृत्ति सुचारू बनती जायगी। किन्तु ऐसा मेरी निर्मम कठोरता से ही हो सकेगा। कि मैं मन को हर मौके पर बलात् पीछे खींचता रहू। प्रारभ में तो मेरी पूर्ण दृढता ही मुझे सफलता दिला सकेगी किन्तु जब मन शुभ प्रवृत्ति में अभ्यस्त बनता जायगा तब वह आत्मनिष्ठ भी हो जायगा तो एकाग्र भी बन जायगा। तब वह अपनी भी अशुभ वृत्ति तक को प्रविष्ठ नहीं होने देगा।

मैं निग्रह एव एकाग्र प्रक्रिया से मन को वश मे करूगा और देखूगा कि मन पाचो इन्द्रियो को कडाई से वश मे करे। राग के झौंको और द्वेष के अधडों को दूर हटाते हुए मैं चलूगा कि मेरा मन और मेरी इन्द्रिया उनसे प्रभावित न हो। फिर वीतराग देवो के अमृतमय उपदेशो का चिन्तन मैं करूगा, मेरा मन उनसे प्रभावित होगा और मेरी इन्द्रिया उन उपदेशो के अनुसार ही व्यवहार करेगी। मन मे तब मैं न तो अधोमुखी सकल्प विकल्पों को उठने दूगा और न ही उसे सशय में गिरने दूगा। वह नि शक होकर सयम के मार्ग पर सुस्थिर बनेगा तो घोडे भी सरपट भागेगे और रथ सबको सुरक्षित लेकर प्रगति करता रहेगा। मुझे सावधानी यही रखनी होगी कि यह मन भूल कर भी मैले में मुह नहीं मारे या किसी तरह की गाठ न पटक दे। वह विशुद्ध भी बने और सयम मे निर्ग्रंथ भी, मन निर्ग्रंथ हो जाय और आने वाली ग्रथियो को सही तरीको से सुलझाना सीख जाय तभी साधक सच्चा निर्ग्रंथ मुनि बन सकता है। ऐसा ही मन सारे बध तोड कर साधक को मोक्ष तक पहुचा सकता है।

में निश्चय कर चुका हू कि बध के कारण–रूप मन को उसकी दिशा वदल कर मैं मोक्ष का कारण भूत बना लूगा। मैं एक पल भी असावधान नही रहूगा या कि चैन नहीं लूगा और मन को सम्हालता ही रहूगा कि वह उन्मार्ग

की दिशा मे देखे तक नही। क्योकि मैं जानता हू कि यदि में मन की चचलता को दूर करके उसे सयम मे एकनिष्ठ नही बना सकूगा तो मेरा जप-तप-ध्यान और ज्ञान-कोई भी अनुष्ठान सार्थक नहीं हो सकेगा। मन की मलिनता के साथ आत्म विकास की महायात्रा के पथ पर एक भी चरण स्वस्थ गति से आगे नहीं बढ सकेगा। इसलिये मन की मलिनता का मुझे प्रतिपल बोध होता रहे और उसको दूर करते रहने का मेरा पुरुषार्थ भी प्रति पल जागता हुआ रहे-इसकी मुझे समुचित व्यवस्था करनी होगी। ऐसा करू कि मे मन के सामने ऐसा दर्पण लगा दू कि उसकी कोई भी हरकत मुझसे अजानी न रह सके।

यह है मन के लिए दर्पण

मन कितनी शुभता मे घूमा है और कितनी अशुभता मे-वह कितना मानवतायुक्त रहा है और कितना मानवताहीन-उसकी प्रतिच्छाया दिखाई देती है लेश्या के दर्पण मे। मन के लिए मैं लेश्या को दर्पण मान लेता हूॅ।

क्या होती है लेश्या ? मन का जैसा योग व्यापार चलता है, वैसे ही कर्म आत्मप्रदेशो के साथ बधते हैं। किन्तु इन दोनो की क्रियाओ का माध्यम होती है लेश्या। लेश्या वह बेरोमीटर होती है जिसमें मनोवृत्तियो का भी रग दिखाई देता है ओर बधने वाले कर्मो का भी। असल मे लेश्या को रग ही मान लीजिये जिससे मन के रग की तुरन्त पहिचान हो सके। जिससे कर्मो का आत्मा के साथ सम्बन्ध हो, उसे लेश्या कहते हैं। या यो कहे कि जिसके द्वारा आत्मा कर्मो से लिप्त होती है और जो लिप्तता योगो की प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। सक्षेप मे, मन के शुभाशुभ भावो को लेश्या कहते हैं। मन के जो विचार हैं, उनको भाव लेश्या कहते हैं और जिन विचारो से आकषित होकर लेश्या के पुद्‌गल आत्मा को लगते हैं, उन पुद्‌गलो को द्रव्य लेश्या कहते हैं। लेश्याओ के नाम द्रव्य लेश्याओं के आधार पर ही रखे गये हैं।

योग परिणामो के अन्तर्गत पुद्‌गलों के वर्णो की अपेक्षा से द्रव्य लेश्या छ प्रकार की कही गई है

(1) कृष्ण लेश्या-काजल के समान काले वर्ण वाली यह लेश्या मन के उस रूप को दिखाती है जो पाच आश्रवो मे प्रवृत्ति करता हे, तीन गुप्तियो से अगुप्त रहता है, छ काया के जीवो की विराधना करता है, तीव्र भावो से आरभ समारभ करता है, निर्दयता के परिणामों के साथ क्रूर और नृशस बनता है और इन्द्रियो को कतई वश मे न रखते हुए दुष्ट भावों से युक्त बन कर प्रवृत्ति करता है। कृष्ण लेश्या के दर्पण मे मन की जो प्रतिच्छाया आती है वह कठोर, क्रूर परिणामधारी और अजितेन्द्रिय मन की होती है।

(2) नील लेश्या—अशोक वृक्ष के समान नीले रग वाली इस लेश्या के माध्यम से मन का वह रूप प्रतिबिम्बित होता है जो ईष्यालु, कदाग्रही, तपस्या नहीं करने वाला, अविद्यायुक्त, मायावी, निर्ल्लज्ज, विषय भोगो मे आसक्त, द्वेषी, मूर्ख, प्रमादी, रसलोलुप, भोगो की प्राप्ति के लिए कामुक, आरम से निवृत्त नही होने वाला, क्षुद्र, तुच्छ तथा दुस्साहसिक और वैचारिकता से हीन होता है। मन के ऐसे भाव नील लेश्या मे अभिव्यक्त होते हैं। नील लेश्या वाला जीव सम्यक्ज्ञान एव तपाराधन मे शून्य होता है।

(3) कापोत लेश्या—कबूतर के समान रक्त—कृष्ण वर्ण वाली इस कापोत लेश्या के दर्पण मे मन का वह स्वरूप दिखाई देता है जो वक्र (टेढेपन से) विचारने वाला, वक्र वचन निकालने वाला तथा वक्र ही कार्य करने वाला होता है। ऐसे मन का मालिक अपने दोषो को ढकता है, छलपूर्वक बर्ताव करता है और सर्वत्र दोषो का ही आश्रय लेता है। वह मिथ्या—दृष्टि, अनार्य, चोर, मायावी, मत्सरी तथा मर्ममेदी शब्द कहने वाला है और दूसरो की उन्नति नही सह सकने वाला होता है।

(4) तेजो लेश्या—तोते की चोच के समान रक्त वर्ण के द्रव्य तेजोलेश्या के पुद्गलो का सम्बन्ध होने पर मन मे ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि वह अभिमान का त्याग करके मन, वचन और शरीर से विनय वृत्ति वाला बन जाता है। वह चपलता रहित, माया रहित, कूतुहल आदि नहीं करने वाला, परम विनम्र भक्ति रखने वाला, इन्द्रियो का दमन करने वाला, स्वाध्याय आदि मे रत रहने वाला, उपधानादि तप करने वाला, धर्म मे सुदृढ रहने वाला, पाप से भय खाने वाला, सभी प्राणियो का हित चाहने वाला शुभ भावो से युक्त बन जाता है। तेजोलेश्या वाला जीव मुक्ति का अभिलाषी भी बन जाता है।

(5) पद्म लेश्या—हल्दी के समान पीले रग वाली इस लेश्या के दर्पण मे मन का स्वरूपवान् चेहरा सामने आता है। पद्म लेश्याधारी क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप कषाय को मन्द बना देता है और शान्त चित्त रख कर अपने को अशुभ प्रवृत्तियो से दूर हटा लेता है। वह अल्प कषाय वाला, शान्त चित्त वाला, अपनी आत्मा का दमन करने वाला, स्वाध्याय तप आदि मे निरत रहने वाला, परिमित बोलने वाला, सौम्य, उपशान्त और जितेन्द्रिय बन जाता है।

(6) शुक्ल लेश्या—शख के समान श्वेत वर्ण के द्रव्य शुक्ल लेश्या के पुद्गलो का सयोग होने पर मन मे ऐसा परिणाम होता है कि वह आर्त्त व रौद्र ध्यान को छोडकर धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान को ध्याता है।[1] प्रशान्त चित्ती

---

1 विशेष जिज्ञासु देखे सद्धर्म मण्डनम् द्वितीय आवृति, पेज 72/73

व आत्म शोधक बनता है, पाच समिति व तीन गुप्ति का आराधक होता है, अल्परागी अथवा वीतरागी, सौम्य, जितेन्द्रिय तथा उत्तम भावो से युक्त होता हे।

इन छ लेश्याओ को समझने के लिए दो दृष्टान्तो का भी उल्लेख किया गया है।

पहला दृष्टान्त है। छ पुरुषो ने एक जामुन का पेड देखा। पेड पके हुए फलो से लदा था। डालियॉ भार से नीचे की ओर झुकी हुई थी। यह देखकर सबको फल खाने की इच्छा हो गई। सोचने लगे–फल किस प्रकार खाये जाय ? एक ने कहा–पेड पर चढने से गिरने का खतरा है इसलिए इसे जड से काटकर गिरादे और सुखपूर्वक बैठकर फल खावे। दूसरा बोला– पेड को जड से काटकर गिराने से क्या लाभ ? केवल बडी–बडी डालिया ही क्यो न काटी जाय ? तीसरे ने सुझाव दिया– बडी–बडी डालियॉ न काटकर सिर्फ छोटी–छोटी डालियॉ ही काटे। फल तो छोटी डालियो पर ही लगे हुए हैं। चौथे ने कहा– हमे तो फलो से प्रयोजन है, डालियॉ क्यो काटे ? केवल फलो के गुच्छे ही तोड ले। पाचवा बोला–गुच्छे भी तोडने की क्या जरूरत है ? केवल पके हुए फल ही नीचे गिरादे। छठा बोला–जमीन पर ही इतने फल गिरे हुए हैं जो हमारे सबके लिए पर्याप्त हैं। इन्हे ही खाले।

दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार है। छ डाकू किसी गॉव मे डाका डालने के लिए रवाना हुए। रास्ते मे वे विचार करने लगे। पहला बोला–जितने भी मनुष्य और पशु हमको दिखाई दे, उन सबको हम मार डाले। दूसरे ने कहा–पशुओं ने हमारा कुछ नहीं बिगाडा हे। हमारा तो मनुष्यों के साथ विरोध है इसलिये उन्ही का वध करना चाहिये। तीसरे ने राय दी–स्त्री हत्या महापाप है, इस कारण क्रूर परिणाम वाले पुरुषों को ही मारना चाहिये। इस पर चौथे ने सुझाया–यह भी ठीक नहीं, शस्त्र रहित पुरुषो पर वार करना व्यर्थ है अत हम सिर्फ सशक्त पुरुषो को ही मारेगे। पाचवा कहने लगा–सशस्त्र पुरुष भी अगर डर के मारे भाग रहे हो तो उन्हे नहीं मारना चाहिये। जो शस्त्र लेकर हमसे लडने आवे, उन्हे ही मारा जाय। अन्त मे छठे ने कहा–हम लोग डाकू हैं। हमे तो धन लूटना है इसलिये जैसे धन मिले वैसे ही उपाय करने चाहिये। एक तो हम लोगो का धन लूटे ओर दूसरे उन्हे मारे भी–यह उचित नही है। यो ही चोरी पाप और उस पर हत्या का महापाप क्यो करे ?

दोनो दृष्टातो के पुरुषो मे पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे ओर इस प्रकार आगे से आगे पुरुषो के परिणाम क्रमश अधिकाधिक शुभ हैं। इन

परिणामो मे उत्तरोत्तर सक्लेश की कमी एव मृदुता की अधिकता हे। छहो मे इसी प्रकार लेश्याओ मे भी क्रमश परिणामो की विशुद्धता अधिकाधिक रूप से समझना चाहिये। छहो लेश्याओ मे पहली तीन अधर्म लेश्या हैं तथा अन्तिम तीन धर्म लेश्या हैं। अधर्म लेश्या स जीव दुर्गति मे तथा धर्म लश्या से सुगति मे जाता है। जिस लेश्या को लिये हुए जीव की मृत्यु होती हैं, तदनुसार ही उसे आगामी जन्म मिलता है।

भाव लेश्या के दो भेद बताये गये हैं—

(1) विशुद्ध भाव लेश्या—अकलुष द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर कषाय के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से होने वाला आत्मा का शुभ परिणाम विशुद्ध भाव लेश्या है।

2. अविशुद्ध भाव लेश्या—कलुषित द्रव्य लेश्या के सम्बन्ध होने पर राग द्वेष विषयक आत्मा के अशुभ परिणाम अविशुद्ध भाव लेश्या है। इन्हीं के आधार पर छ द्रव्य लेश्याए हैं जिनमे से अन्तिम तीन विशुद्ध तो पहले की तीन अविशुद्ध भाव लेश्या समझी जाती हैं।

में लेश्याओ के दर्पण मे सदा अपने मन को देखता रहू तो उसकी प्रतिक्षण होने वाली गतिविधिया मुझसे छिपी हुई नही रह सकेगी और उस जानकारी के अनुसार मैं अपने मन पर प्रतिक्षण नियत्रण साध सकूगा। मन को पर्याप्त सीमा तक साध लेने पर मैं अपने मन, वचन तथा काया के सम्पूर्ण योग व्यापार पर अपना नियत्रण स्थापित कर सकूगा।

त्रिविध योग व्यापार

योग याने परिणाम अर्थात् भाव रूप व्यापार याने क्रियाए तीन माध्यमो से सचालित होती हें। सबसे पहला और बडा माध्यम होता है मेरा मन, जहॉं किसी भी वृत्ति का जन्म होता है। मन ही उस वृत्ति को पालता, पोषता और परिपक्व बनाता है। वही वृत्ति वचन बनकर तब मुह से बाहर प्रकट होती है ओर तदनन्तर काया से जुड कर कार्य रूप मे परिणत होती हे। वृत्ति से वाणी, वाणी से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से विभिन्न वचनो और नई—नई वृत्तियो का अभ्युदय—इस प्रकार का त्रिविध योग व्यापार इस जीवन मे चलता ही रहता है। मूल मे मन शुभ होता हे तो वृत्ति शुभ ढलती है और वही शुभता वाणी और प्रवृत्ति मे भी बनी रहती है। योग व्यापार की इस शुभाशुभता का दार्शनिक रहस्य मैं जानना चाहता हू।

योग क्या है ? वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन, काया के निमित्त से आत्म प्रदेशो के चचल होने को योग कहते हैं अथवा यो कह दे कि शक्ति विशेष से होने वाले साभिप्राय आत्मा के पराक्रम को योग कहते हैं। योग एक शक्ति रूप है, जिस का शुभ अथवा अशुभ अभिप्राय के लिये मन, वचन तथा काया के माध्यम से प्रयोग किया जा सकता है। इस रूप मे योग एक शक्ति अथवा पराक्रम का रूपक होता है। यह योग तीन प्रकार का होता है –

(1) मनोयोग–आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के आलबन से मन के परिणाम की ओर झुके हुए आत्म प्रदेशो का जो व्यापार होता है, उसे मनोयोग कहते हैं। ऐसी मनोलब्धि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के परिणाम स्वरूप प्राप्त होती है।

(2) वचन योग–आन्तरिक वाक् लब्धि उत्पन्न होने पर वचन वर्गणा के आलम्बन से भाषा परिणाम की ओर अभिमुख आत्म प्रदेशो का जो व्यापार होता है, वह वचन योग कहलाता है। यह वाक् लब्धि मतिज्ञानावरण, अक्षर श्रुत ज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से होती है।

(3) काम योग–औदारिक आदि शरीर वर्गणा के पुद्‌गलो के आलम्बन से होने वाले आत्म प्रदेशो के व्यापार को काम योग कहते हैं।

इन्हीं मुख्य भेदो के विस्तार से योग के पन्द्रह भेद किये गये हैं–(1) सत्य मनोयोग, (2) असत्य मनोयोग (3) मिश्र मनोयोग (4) व्यवहार मनोयोग (5) सत्य भाषा (6) असत्य भाषा (7) मिश्र भाषा (8) व्यवहार भाषा (9) औदारिक (10) औदारिक मिश्र (11) वैक्रिय (12) वैक्रिय मिश्र (13) आहारक (14) आहारक मिश्र तथा (15) कार्मण योग। इनमे से स 1 से 4 मनोयोग से, स 5 से 8 वचन योग से तथा स 9 से 15 काम योग से सम्बन्धित हैं। मन, वचन, काया की शुभाशुभता का परिचय इन भेदों से होता है। मनोयोग एक शक्ति हे, उसका उपयोग सत्य के लिये हो सकता है, असत्य के लिये हो सकता है, सत्यासत्य (मिश्र) के लिये हो सकता है अथवा व्यावहारिक दृष्टि की सम्पूर्ति के लिये हो सकता है जो विभिन्न रूपिणी हो सकती हे। इसी प्रकार वचन योग रूप शक्ति का भी और काम योग रूप शक्ति का भी उपयोग हो सकता है।

मुझे अपने भीतर मे चल रहे तथा तदनुसार बाहर भी प्रकट होने वाले योग व्यापार को देखना, परखना और वास्तु स्वरूप जानना चाहिये ताकि मैं उस त्रिविध योग व्यापार को अशुभता से शुभता की ओर, असत्य से सत्य

की ओर तथा तुच्छता से उच्चता की ओर ले जा सकू अ।र शुमता, सत्य तथा उच्चता के क्षेत्र मे भी उन्हे अधिक उत्कृष्टता प्रदान कर सकू।

योग व्यापार की परख–प्रक्रिया से ही मुझे ज्ञात हो सकेगा कि अधकार (अज्ञान) की परतो मे पडा हुआ मेरा मन कितना मानवताहीन (विषय कषायो के दुष्प्रमाव से), मेरा वचन कितना असत्य और अप्रिय तथा कर्म कितना द्विरूप (दोगला) एव अधर्ममय हो गया है ? मुझे तब यह भी अनुभव होगा कि मनोयोग, वचन योग तथा कामयोग के रूप मे मिली शक्तियो का मेंने कितना घोर दुरुपयोग किया है ? जिस तकली से सूत कातकर रचनात्मक कार्य किया जाना चाहिये, उसकी नोक से मैंने आखे फोडने का कुकृत्य किया है–यह हकीकत मुझे चौंकायगी और मुझे विवश करेगी कि अपने क्रियाकलापो पर अब तो कम से कम कडी नजर रखू। मेरी विकृति की अनुभूति ही मुझे सत्कृति की ओर मोडेगी–यह मेरा विश्वास कहता है। इसी विश्वास के साथ मैं अपने समूचे योग–व्यापार को अधिकाधिक शुमता के क्षेत्र मे ले जाने तथा वही बनाये रखने का अपना पुरुषार्थ गभीर रूप से क्रियाशील बना दूगा।

यो योग के दो भेद भी किये गये हैं–भाव योग और द्रव्य योग। पुद्गल विपाकी शरीर और अगोपाग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा, भाषा वर्गणा ओर कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्म–नोकर्म ग्रहण करने की जीव की शक्ति विशेष को भाव योग कहते हैं तथा इसी भाव योग के निमित्त से आत्म प्रदेशो के परिस्पन्दन (कपन) को द्रव्य योग कहा गया है।

यह योग व्यापार ही मानव के जीवनाचरण का मूल आधार है। जैसा आचरण चाहिये, उसी रूप मे इस योग व्यापार को मोड देना होगा।

मानवीय मूल्यों का ह्रास

इस योग व्यापार के सदर्भ मे मैं जब वर्तमान युग पर एक दृष्टि–निपात करता हू तो अनुभव होता है कि आज यह योग–व्यापार सामान्यतया अत्यधिक मलिन एव कलुषित होता जा रहा है। जब इसके कारण ढूढता हू तो एक बात समझ मे आती है कि मूलत मन का योग व्यापार बाह्य वातावरण को पृष्ठभूमि बनाकर ही अधिकाशत चला करता हे। इस बाह्य वातावरण मे सामाजिक परिस्थितियो, विविध क्षेत्रो मे भोतिक विकास, विभिन्न प्रकार की सुख सुविधाओ की उपलब्धि आदि समी तथ्य सम्मिलित मानने चाहिये क्योकि इन सभी का मनुष्य के मन–मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पडता हे। मनुष्य भी जब

तक अन्तर्मुखी नही हो पाता है, तब तक मुख्य रूप से बहिर्मुखी वृत्ति वाला ही होता है। अत बाह्य ससर्ग से उसके विचार उपजे, प्रकट होवे और अमल मे आवे—यह स्वाभाविक है। विशेष रूप से आध्यात्मिक चिन्तन के अभाव मे तो मनुष्य बाहरी जीवन ही प्रधान रूप से जीता है।

दूसरे में देखता हू कि व्यक्ति समूह बना कर परिवार गाव या समाज रूप मे रहते हैं तो उनके पारस्परिक सम्बन्धो के आधारभूत कारणो का भी मनुष्य के समग्र जीवन पर भारी असर पडता है। उनका पारस्परिक व्यवहार परम्परागत भी होता है तो स्थापित परम्पराओं मे नई—नई परिस्थितियों के कारण परिवर्तन भी होते रहते हैं। इस दृष्टि से मैं हमारे अपने चारो ओर रहे हुए समाज की ही समीक्षा करू तो आज से पचास वर्ष पहले के तथा आज के सामाजिक वातावरण मे भारी अन्तर दिखाई देगा। इसी अन्तर में ही हम व्यक्ति के जीवन पर पडने वाले परिवर्तित प्रभावों की मीमासा करते हुए उन परिस्थितियो की जानकारी ले सकते हैं जिन्होने ऐसा अन्तर पैदा किया और उसी के दर्पण मे हम बदलते रहने वाले योग व्यापार की दिशाओ का भी ज्ञान कर सकते हैं।

आज से पचास वर्ष पहले का समय हमसे कोई बहुत दूर नही रहा है लेकिन दोनो किनारो के सामाजिक वातावरण की तुलना करे तो बहुत दूरी दिखाई देती है। इस दूरी का कारण मुख्य रूप से भौतिक विज्ञान का विकास हे जिसने अपने नये—नये आविष्कारो से नई—नई सुख सुविधाओ की रचना की है। आखो के सामने सीधा सादा दृश्य हो तो दृष्टि की गति भी सीधी सादी ही रहेगी किन्तु सामने लुभावना रूप आ जाय तो दृष्टि की लोलुपता बढ जायगी और यदि सामने अति आकर्षक नाटकीय दृश्य उपस्थिति हो जाय तो दृष्टि सब को भूलकर अपने ही सुख के लिये अधीर बन जायगी। वैज्ञानिक विकास ने विचारने और करने की दृष्टि मे इसी रूप से परिवर्तन किया है। पहले समाज मे जो एक खुला जीवन था कि व्यक्ति अपने पडोसी, अपने सम्बन्धी अथवा अपने समाज के हालचाल से वाकिफ रहता था—उनके दु ख सुख मे बराबर शरीक होता था, वह खुला जीवन भौतिक सुख—सुविधाओ को प्राप्त करने हेतु धन कमाने की अधी दौड मे धीरे—धीरे बद होता गया है। आध्यात्मिक शब्दो मे यो कहे कि पहले लोगो के मन, वचन, काम का योग व्यापार जो सामान्यतया अपने साथ सारे समाज के सहयोग रूप मे पारस्परिक प्रेम एव सहानुभूति को आधार बना कर मृदुता, सोजन्यता एव सौहार्द्रता के साथ चला करता था, वही योग व्यापार आज अपने ही स्वार्थ

की विकृति के घटती रहने से धीरे-धीरे जागृति का वातावरण बन सकती हे ओर मानवीय मूल्यो का महत्त्व पुन बढ सकता है।

मे यह तो मानता ही हू कि किसी भी प्रकार के सशोधन, परिमार्जन या परिवर्तन का श्री गणेश व्यक्ति के जीवन से ही किया जा सकता हे। अत यदि मानवीय मूल्यो की पुन सुदृढता से स्थापना करनी है तो आज के वातावरण की प्रलुब्धता को घटाकर व्यक्ति को अपने योग व्यापार मे शुभ परिवर्तन लाना ही होगा। किसी भी शुभ कार्य का अकुर पहले मन मे ही फूट सकता है क्योकि मन का निश्चय ही कार्य की सफलता मे परिणत होता है। इसलिये मनुष्य का मन शुभ योग व्यापार मे कैसे सधे—उसके आध्यात्मिक उपायो पर गहराई से चिन्तन करना आवश्यक है।

सामायिक से समभाव साधना

अशुभ योग व्यापार को शुभता मे ढालने का एक मात्र उपाय यही हो सकता है कि मैं पहले अपने मन को साधू—उसमे समभाव का सचार करू। कहा गया है कि जेसे-जेसे मन, वचन, काया के योग अल्पतर और मन्दतर होते जाते हैं, वेसे वैसे कर्म बध भी अल्पतर होता जाता है। कषाय के अपगत होने पर योग चक्र का पूर्णत निरोध होने पर आत्मा मे बध का सर्वथा अभाव हो जाता हे जेसे कि समुद्र मे रहे हुए अच्छिद्र जलयान में जलागमन का अभाव होता है।

मैं समझता हू कि योग चक्र का पूर्णत निरोध मेरे लिये आदर्श हे, जिसकी प्राप्ति में विभिन्न चरणो मे ही कर सकूगा। मेरा पहला चरण यह होना चाहिये कि अपने योग व्यापार की वर्तमान अशुभता की मैं कडी आलोचना करू ओर ओर उसे शुभता मे परिवर्तित करने का सकल्प बनाऊ। सबसे पहले मुझे अपने योग चक्र का रूपान्तरण करना होगा, क्योकि मन, वचन, काया के तीनो योग अविवेकी और अयुक्त पुरुष के लिये दोष के हेतु बनते हैं तो वे ही तीनो योग विवेकी ओर युक्त पुरुष के लिये गुण के हेतु होते हैं। अत इन योगो को मैं गुण के हेतु बनाने के लिये मन की साधना आरम्भ करूगा, उसे समभावो से परिपूरित बनाने का पुरुषार्थ बताऊगा तथा मन से आरम्भ करके त्रिविध योग व्यापार का सम्यक् सशोधन करूगा।

समभाविता के इस लक्ष्य का अभ्यास मैं प्रारम्भ करूगा सामायिक की साधना से। यह सामायिक क्या है ? सम का अर्थ है जो व्यक्ति राग द्वेष से रहित होकर सर्व प्राणियो को आत्मवत् समझता हे, सम्यक ज्ञान, दर्शन और

चारित्र की प्राप्ति होना सामायिक है। सामायिक मे सर्व सावध–हिसापूर्ण व्यापारो का त्याग करना और निरवध अहिसक व्यापारो मे प्रवृत्ति करना होता हे ताकि राग द्वेष की मलिन भावनाओ से मुक्त हुआ जा सके। जितना राग द्वेष मिटेगा, उतना ही सम–भाव जगेगा। सम अर्थात् रागद्वेष रहित पुरुष की प्रतिक्षण कर्म निर्जरा से होने वाली अपूर्व शुद्धि सामायिक है। सम अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति सामायिक हे।

मैं सामायिक के निम्न चार प्रकारो पर चिन्तन करता हू तो समझ मे आता है कि सामायिक का महात्म्य अवर्णनीय हे, क्योकि समभाव के आरभिक अभ्यास के रूप से विकसित होकर यही सामायिक सर्व विरति रूप विराट् स्वरूप ग्रहण कर लेती है–

(1) सम्यक्त्व सामायिक–देव नारकी की तरह निसर्ग अर्थात् स्वभाव से होने वाला तथा अधिगम अर्थात् तीर्थकर आदि के समीप धर्म श्रवण से होने वाला तत्त्व श्रद्धान सम्यक्त्व सामायिक है।

(2) श्रुत सामायिक–गुरु के समीप मे सूत्र, अर्थ या इन दोनो का विनयादि पूर्वक अध्ययन करना श्रुत सामायिक है।

(3) देशविरति सामायिक–श्रावक का अणुव्रत आदि रूप एक देश विषयक चारित्र देश विरति सामायिक है।

(4) सर्व विरति सामायिक–साधु का पच महाव्रत रूप सर्व चारित्र सर्व विरति सामायिक है।

श्रावक के बारह अणुव्रतो मे से चार शिक्षा व्रत हैं और उनमे पहला व्रत सामायिक व्रत है। यह सामायिक व्रत दो घडी याने एक मुहूर्त याने अडतालीस मिनिट का होता है। इस काल मे सावध (हिसापूर्ण) व्यापार का त्याग कर आर्त व रौद्र ध्यानो से दूर होकर समभाव मे आत्मा को लगाना होता है। सामायिक मे बत्तीस दोषो की भी वर्जना करनी चाहिये।

सामायिक की यह कालावधि समभाव की साधना तथा योग व्यापार की शुभता का किस प्रकार अभ्यास कराती है–यह इसमे टालने लायक बत्तीस दोषो–मन के दस, वचन के दस तथा काया के बारह–की परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है।

मन के जिन सकल्पो से सामायिक दूषित हो जाती है, वे मन के दोष कहलाते हैं। इन्हे टालने से ही सामायिक की शुद्धता बनती है। ये दोष इस प्रकार हैं–(1) अविवेक औचित्य–अनौचित्य अथवा समय–असमय का ध्यान

नही रखना (2) यश कीर्ति—यश, प्रतिष्ठा अथवा आदर पाने की कामना करना (3) लाभार्थ—व्यापार बढने या धन आदि के लाभ की इच्छा रखना (4) गर्व—अपनी सामायिक के सम्बन्ध में अभिमान करना (5) भयराज्य, पच, लेनदार आदि से बचने के लिये भयपूर्वक सामायिक मे बैठ जाना (6) निदान—सामायिक के बदले भौतिक फल की अभिलाषा करना (7) सशय—सामायिक के आध्यात्मिक फल के बारे मे सन्देह करना (8) रोष—रोग द्वेष आदि के कारण सामायिक मे क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय का सेव । करना (9) अविनय—सामायिक के प्रति अविनय का भाव रखना तथा (10) अबहुमान—सामायिक के प्रति वाछित आदर भाव नही रखना। ये दसो दोष मन के योग व्यापार के माध्यम से लगते हैं। इन दस दोषो से बचने पर ही सामायिक के लिये मन शुद्धि होती है तथा एकाग्रता आती है।

सामायिक मे सामायिक को दूषित करने वाले सावद्य वचन बोलना वचन के दोष कहलाते हैं। वे दस हें—(1) कुवचन—कुत्सित वचन बोलना (2) सहसाकार—विचार हीनता एव अप्रतीति से बोलना (3) शच्छन्द—धर्मविरुद्ध राग द्वेष की वृद्धि करने वाले गीत गाना (4) सक्षेप—सामायिक के पाठ या वाक्य को छोटा करके बोलना (5) कलह—क्लेश उत्पन्न करने वाले वचन बोलना (6) विकथा—स्त्री कथा आदि चार (स्त्री, देश, राज, भक्त) विकथा करना (7) हास्य—हसना, कोतूहल करना या व्यग अथवा आक्षेप वाले शब्द बोलना (8) अशुद्ध—सामायिक के पाठ जल्दी—जल्दी अशुद्धियो सहित बोलना (9) निरपेक्ष— बिना उपयोग या सावधानी के बोलना तथा (10) मुणमुण—अस्पष्ट उच्चारण करना। इन दस दोषो से बचने के बाद ही वचन शुद्धि बनती है।

सामायिक मे निषिद्ध आसन से बैठना काया का दोष है। इसके बारह भेद हें—(1) कुआसन—मानपूर्ण या अशुद्ध आसन से बैठना (2) चलासन—बारबार आसन बदलना। (3) चल दृष्टि—बिना प्रयोजन इधर उधर देखना (4) सावध क्रिया—शरीर से हिसापूर्ण क्रिया करना। घर की रखवाली करना या इशारा करना सावध क्रिया मे सम्मिलित माना गया है, (5) आलम्बन—बिना कारण दीवाल आदि का सहारा लेकर बेठना। (6) आकुचन—प्रसारण—हाथ पाव फेलाना व समेटना (7) आलस्य—आलस्य से अगो को मोडना (8) मोडण—हाथ पैर की अगुलियो के कटके निकालना (9) मल दोष—शरीर का मैल उतारना (10) विमासन—शोकग्रस्त दशा मे बैठना या बिना पूजे खुजलाना अथवा हलन चलन करना। (11) निद्रा—नीद लेना तथा (12) वेयावृत्य अथवा कम्पन—निष्कारण ही सामायिक में बैठे हुए दूसरे से अपनी वैयावृत्य कराना

अथवा घूमना, हिलना या शरीर को कपाना। ये काया के दोष हैं जिन्हे टालने से सामायिक मे काम–शुद्धि होती है।

सामायिक व्रत के निश्चय एव व्यवहार रूप इस प्रकार होगे कि आत्मा के ज्ञान, दर्शन एव चारित्र गुणो का विचार करना तथा आत्म गुणो की अपेक्षा से सर्व जीवो को एक समान समझना तथा उनमें समता भाव की अवधारणा लेना निश्चय सामायिक व्रत है तो मन, वचन और काया को आरभ से हटाना और आरभ (हिसा) न हो इस प्रकार उनकी प्रवृत्ति करना व्यवहार सामायिक है।

सामायिक मे बैठने पर सामायिक के इन पाच अतिचारो को भी टालना चाहिये–(1) मनोदुष्प्रणिधान–मन का दुष्ट (बुरा) प्रयोग (2) वाग्दुष्प्रणिधान–वचन का दुष्ट प्रयोग (3) काय दुष्प्रणिधान–काया का दुष्ट प्रयोग (4) सामायिक का स्मृत्यकरण–सामायिक की स्मृति या उपयोग न रखना एव (5) अनवास्थित सामायिककरण–अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना। पहले तीन अतिचार अनुपयोग के तो बाकी दो प्रमाद की बहुलता के हैं।

सामायिक के समता रस मे भींज कर मैं कुछ भी प्रिय या अप्रिय नहीं मानूगा, किसी वस्तु के लाभ पर हर्ष या हानि पर विषाद नहीं करूगा तथा अपने प्रत्येक क्रियाकलाप के प्रति निर्भय बना रहूगा। मैं प्रयासरत रहूगा कि मेरा समभाव और साम्य विवेक किसी भी कारण से विचलित न हो तथा उससे बनने वाला समतामय आचरण अक्षुण्ण बने। मैं सभी प्रकार की आसक्तियो तथा असमानताओ का त्याग करू तथा सबके प्रति मध्यस्थ भाव रखू। मेरी अडतालीस मिनिट की सामायिक अभ्यास मे परिपुष्ट बनती हुई मुझे मेरे चोबीसो घटो मे समभावी बनावे, कठिन व्रत धारण की सक्षमता उत्पन्न करे, त्रिविध योग व्यापार को शुभतरता मे ढाले, सहिष्णुता का सद्गुण प्रदान करे और अन्ततोगत्वा समदर्शी बनाकर समता–रस मे आकठ डुबो दे–यह मेरी हार्दिक अभिलाषा है और मैं इस अभिलाषा की पूर्ति हेतु कठिन पुरुषार्थ करते रहना चाहता हू।

शुभ, शुद्ध और भव्य भावनाएँ

अशुभ योग व्यापार को शुभता मे परिवर्तित करने के लिये सर्वप्रथम मुझे अपने मन की गति का रूपान्तरण करना होगा जिसके लिये मन को साधना पडेगा। शुभ, शुद्ध एव भव्य भावनाओं मे रमण करते रहने का अभ्यास बनाना मन सिद्धि मे विशिष्ट रूप से सहायक होता है। शुभ भावनाए भाने से मन शुद्धि भी होती है तो मन सिद्धि भी। भावनारत मन विशुद्धता एव विवेक

के साथ लक्ष्य सिद्धि के लिये भी अनुकूल सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। मन सध कर वचन और कर्म को भी साध लेता है। फलस्वरूप त्रिविध योग व्यापार अशुभता से हटकर शुभता मे रूपान्तरित होता है और अधिकाधिक आत्माभिमुखी बनता है। इस दृष्टि से भावनाओ का अमित महत्त्व माना जाना चाहिये।

मैं 'भावना' को परिभाषित करू तो वह परिभाषा इस प्रकार हो सकती है कि सवेग, वैराग्य एव भाव शुद्धि के लिये आत्म स्वरूप और जड चेतन पदार्थों के सयोग–वियोग के प्रति उसके सम्बन्धो पर गहराई मे उतर कर चिन्तन करना। भावना भाते हुए यह ध्यान रखना कि इस रूप मे किये जा रहे चिन्तन मे आत्म स्वरूप एव जड सम्बन्धो की यथार्थ स्थिति का गूढ अनुसधान हो तथा धार्मिक अनुष्ठान की योग्य भूमिका का निर्माण हो। भावना का दूसरा नाम अनुप्रेक्षा भी है जिसका अर्थ होता है–आत्मावलोकन। अपने आत्म स्वरूप पर अर्थात् अपने मन, वचन, काया के योग व्यापार पर बराबर दृष्टि रखना कि वह सदा शुभता की ओर बढे–यही भावना का प्रमुख लक्ष्य माना गया है।

मैं इस उक्ति का ध्यान करता हू कि 'जिसकी जैसी भावना, वैसी ही उसकी सिद्धि' तो मैं समझ जाता हू कि भावना आत्म–विकास का वह आधार है जो यदि शुद्ध बन गया तो सम्पूर्ण विशुद्धता की प्राप्ति फिर कठिन नही रह जायगी। पाचो मुख्य व्रतो (महाव्रतों) की स्थिरता के लिये भी प्रत्येक की पाच पाच भावनाओ का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है–

(1) अहिसा महा व्रत–पाच भावनाए–(अ) ईर्या समिति–स्व व पर को क्लेश न हो वैसी यतनापूर्वक गति करना। (ब) मनोगुप्ति–मन को अशुभ ध्यान से हटाना तथा शुभ ध्यान मे लगाना। (स) एषणा समिति–किसी वस्तु की गवैषणा ग्रहण और उपभोग तीनो में उपयोग रखकर दोष नही लगाना। (द) आदान निक्षेपणा समिति–वस्तु को उठाने और रखने मे अवलोकन, प्रमार्जन आदि द्वारा यतना रखना। (य) आलोकित पानभोजन, खाने की वस्तु बराबर देखभाल कर लेना और उपयोग पूर्वक खाना।

(2) सत्य महा व्रत–पाच भावनाए–(अ) अनुवीचि भाषण–विचारपूर्वक बोलना। (ब) क्रोध प्रत्याख्यान– क्रोध का त्याग करना। (स) लोभ प्रत्याख्यान–लोभ का त्याग करना। (द) निर्भयता–सत्य मार्ग पर चलते हुए किसी से नहीं डरना। (य) हास्य प्रत्याख्यान–हसी दिल्लगी का त्याग करना।

(3) अस्तेय महा व्रत–पाच भावनाए– (अ) अनुवीचि अवग्रह याचन–विचारपूर्वक आवश्यकता निश्चित करना और उतनी ही वस्तु की याचना करना। (ब) अभीक्ष्णावग्रह याचन–आवश्यकतानुसार वस्तु को बार–बार मागना। (स) अवग्रहावधारण–याचना के पहले परिमाण का निश्चय कर लेना। (द) साधर्मिक अवग्रह याचन–पहले साधर्मिक से स्थान का उपयोग माग लेना। (य) अनुज्ञापित पानभोजन–विधिपूर्वक अन्न पान आदि लोकर गुरु को दिखाना तथा उनकी आज्ञा होने पर उपयोग मे लेना।

(4) ब्रह्मचर्य महा व्रत–पाच भावनाए–(अ) स्त्री पशुपडकसेवित शयनासनवर्जन–विजातीय लिग वाले व्यक्ति द्वारा काम मे लिये शय्या और आसन का त्याग करना। (ब) स्त्री कथावर्जन– रागपूर्वक कामवर्धक बातें नहीं करना। (स) मनोहर इन्द्रियालोक वर्जन–विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अगो को नही देखना। (द) स्मरणवर्जन–पहले भोगे हुए काम भोगों को स्मरण नही करना। (य) प्रणति रस भोजन वर्जन–कामोद्दीपक रसीले या गरिष्ठ भोजन तथा पेय का त्याग करना।

(5) अपरिग्रह महा व्रत–पाच भावनाए–(अ) मनोज्ञामनोज्ञ स्पर्श समभाव–अच्छा या बुरा लगने के कारण राग या द्वेष पैदा करने वाले स्पर्श पर समभाव रखना। (ब–य) इसी प्रकार रस, गध, रूप तथा शब्द के मनोज्ञामनोज्ञ अनुभव पर समभाव रखना।

वीतराग देवों ने त्याग को सर्वोच्च स्थान दिया है, इसीलिये पच महाव्रत धारी साधुओ का स्थान सबसे ऊचा है। उपरोक्त भावनाए मुख्यत साधु जीवन को लक्ष्य करके कही गई है। ये भावनाए प्रधान रूप से नियमो की सस्मृति रूप ही हैं। अपने–अपने त्याग के अनुरूप दूसरी भी बहुत सी भावनाएँ हैं जिनसे भाव शुद्धि तथा व्रतपालन मे सहायता मिलती है। पाप रूप अशुभता से निवृत्ति के लिये इन नियमो की भावना भाई जा सकती है– (1) हिसा आदि पापो मे ऐहिक तथा पारलौकिक अनिष्ट देखना। (2) हिसा आदि दोषो मे दु ख ही दु ख है–इस प्रकार बार–बार चित्त मे भावना भाना। (3) प्राणी मात्र मे मैत्री अधिक गुणी को देखकर प्रमुदित होना दु खी को देखकर करुणा लाना तथा कदाग्रही या अविनीत को देखकर मध्यस्थ भाव रखना। (4) सवेग और वैराग्य के लिये ससार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना।

महाव्रतों की स्थिरता के लिये त्याग का बारम्बार स्मरण चिन्तन भी आवश्यक है तो उस के दोषो का सम्यक् ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है

क्योकि दोषो के बारे मे पूरी जानकारी हो जाने से त्याग की रुचि उत्तरोत्तर बढती है। इसलिये अहिसा आदि पाचो व्रतो के दोषो को बार-बार देखते रहना चाहिये। यह दोष दर्शन दो प्रकार का होता है—ऐहिक एव पारलोकिक। हिसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने आदि का दुष्परिणाम इस जीवन मे केसे उठाना पडेगा—यह होगा ऐहिक दोष दर्शन तथा हिसा, झूठ आदि से नरक आदि गतियो मे जाना पडेगा—यह देखना पारलौकिक दोष दर्शन है। इन दोनो सस्कारो को आत्मा मे दृढ़ बनाना भावना है। यह शुभ भावना है।

इसके विपरीत पाच अशुभ भावनाए भी बताई गई है जिनका त्याग करना चाहिये। वे इस प्रकार हैं।

(1) कन्दर्प भावना—पाच प्रकार—(अ) कन्दर्प अट्टहास, हसी मजाक करना, कठोर या वक्र वचन कहना, काम कथा, उपदेश या प्रशसा करना। (ब) कौत्कुच्य—भाड की सी वचन और काया से कुचेष्टाए करना। (स) दु शीलता—दुष्ट स्वभाव बनाना, आवेश मे बोलना, मदमस्त बैल की तरह चलना, जल्दबाजी करना आदि। (द) हास्योत्पादन—विचित्र वेश व भाषा से दूसरो को हसाना और खुद हसना। पर—विस्मयोत्पादन विविध प्रकारो से दूसरो को विस्मित करना।

(2) किल्वीषी भावना—पाच प्रकार (अ—य) श्रुत ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, सघ और साधु का अवर्णवाद बोलना, उनमे अविद्यमान दोष बतलाना आदि। मायावी होना भी इसी प्रकार मे सम्मिलित है।

(3) आभियोगी भावना—पाच प्रकार—(अ) कौतुक— मत्र, तत्र, धूप, आदि देना। (ब) भूतिकर्म— शरीर, पात्र, आदि की रक्षा के लिए मिट्टी, सूत आदि से उन्हे लपेटना। (स) प्रश्न—लाभ—अलाभ के प्रश्न पूछना या अगूठी, दर्पण, पानी आदि मे स्वय को देखना। (द) प्रश्नाप्रश्न— स्वप्न में आराधी हुई देवी की कही बातो को दूसरो को कहना। (य) निमित्त—अतीत, वर्तमान एव अनागत का ज्ञान विशेष रखना।

(4) आसुरी भावना—पाच भेद—(अ) सदाविग्रहशीलता—हमेशा लडाई—झगडे करते रहना। (ब) ससक्त तप—आसक्त साधु का तप करना। (स) निमित्त कथन—तीन काल की नैमेत्तिक बाते बताना। (द) निष्कृपता—स्थावर जीवो को अजीव मानना, उनके प्रति दयाभाव की उपेक्षा करना तथा किसी के कहने पर अनुताप भी नहीं करना। (य) निरनुकम्पता—दु खी के प्रति क्रूरता जन्य कठोरता धारण करना।

(5) सम्मोही भावना—पाच प्रकार (अ) उन्मार्ग देशना—आज्ञा के विपरीत मार्ग का उपदेश देना। (ब) मार्ग दूषण—सन्मार्ग व सत्साधुओ मे मन कल्पित दोष बताना। (स) मार्ग विप्रतिपत्ति—दूषण लगाकर उन्मार्ग को अगीकार करना। (द) मोह—गहन ज्ञानादि विषयो मे ना समझी से मोह करना तथा अन्ययतियो के आडम्बर से ललचाना। (य) मोह जनन—किसी भी उपाय से अन्य मत मे दूसरो का मोह पैदा कराना। इस प्रकार ये कुल पच्चीस भावनाए चारित्र मे विघ्न रूप हैं। इन के निरोध से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।

सद्गुण ग्रहण करने की अभिलाषा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये निम्न चार प्रकार की भावनाओ का चिन्तवन करना अति आवश्यक माना गया है—

(1) मेत्री भावना—मैं प्रत्येक प्राणी को अपने समान और अपना ही समझू ताकि मैं सभी प्राणियो के प्रति अहिसक एव सत्यवादी बन सकू। मैं जब सभी प्राणियो को अपने आत्मीय जन मानूगा तब किसी को दु खी करने की वृत्ति ही मेरे मन मे नही उपजेगी बल्कि किसी भी दु खी प्राणी को देखकर मैत्री भावना से भर कर उसके कष्ट दूर करने का यत्न करूगा। यह मैत्री भावना मुझे स्वस्थ और प्रसन्न रखेगी तो दूसरो को भी सुख और शान्ति प्रदान करेगी।

मैं दूसरो के साथ यह स्मरण करके अपने मैत्री भाव को पुष्ट बनाऊगा कि ये सभी किसी न किसी जन्म मे मेरे माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री, बहिन, आदि रह चुके होगे अथवा कभी आगामी जन्मो मे इस प्रकार के सम्बन्ध बन सकते हैं। सब प्राणियो के अपने प्रति व्यक्त अथवा अव्यक्त उपकार को समझना तथा उपकारी मान कर मैत्री भाव को बढाना मैं अपना कर्त्तव्य मानूगा। यही भावना मुझे विश्व—बधुत्व की विशालता के दर्शन करायगी।

(2) प्रमोद भावना—मैं अपने से अधिक गुण सम्पन्न महापुरुषो के दर्शन करके तथा उनके प्रति लोगो द्वारा प्रकट किये जाने वाले मान, सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा के भावो को जान करके अतीव प्रमुदित होऊगा। सामान्य लोग ऐसे अवसर पर ईर्ष्या या जलन का अनुभव करते हैं किन्तु मैं जानता हू कि ईर्ष्या या जलन करने वाला सच्चा अहिसक नही बन सकता है। ईर्ष्या बहुत बडा दुर्गुण हैं जो मनुष्य को पतित बनाता है। अत मैं उन सभी पुरुषों का सम्मान करूगा— गुण गाऊगा जो विद्या, तप, यश आदि गुणसम्पन्नता से विभूषित होगे। मैं सोचता हू, मैं चाहता हू कि मेरी गुणसम्पन्नता से सभी हर्षित हो और मेरी उन्नति से सभी प्रसन्न बने तो पहले मुझे ही अपनी ऐसी वृत्ति बनानी

होगी। मैं ईर्ष्या नहीं करूगा तो में भी ईर्ष्या का पात्र नहीं बनूगा। अपने मे और दूसरो मे मैं प्रमोद भावना का अधिकतम विस्तार करना चाहूगा।

(3) करुणा भावना—यदि शारीरिक अथवा मानसिक दु खो से दु खित प्राणियो को देखकर मेरा मन दया, अनुकम्पा और करुणा से द्रवित नहीं हो जाता है तो मुझे यह समझना पडेगा कि अभी मेरे अहिसक बनने मे काफी कमी हे। मैं तो इस भावना को सुदृढ बनाऊगा कि मैं दीन, अपग, रोगी और निर्बल लोगो की सेवा करू, विधवा और अनाथ बालको को सहायता दू, अतिवृष्टि या अनावृष्टि के कारण अकाल के समय असहाय लोगो के खाने पीने का प्रबध करू, बेघर लोगो को शरण दू, महामारी के समय लोगो को औषधिया पहुचाऊ, स्वजन वियुक्त लोगो को उनके स्वजनो से मिलाऊ, भयभीत प्राणियो के भय को दूर करू, वृद्ध व रोगी पशुओ की सार–सभाल करू और यह मानू कि मेरे मनोबल, धन तथा शरीर बल की सार्थकता ही करुणा एव करुणा प्रभावित शुभ कार्यो को सम्पूर्ण करने मे समाई हुई है। यह भी विचार करूगा कि आज की मेरी उपलब्धिया पहले की करुणा के फलस्वरूप ही है तो फिर उसी करुणा को मैं अपने जीवन मे साकार स्वरूप क्यो न प्रदान करू ? मेरी मान्यता है कि धर्म का सम्पूर्ण सार एक दया मे सन्निहित है, तभी तो दयामय धर्म को ही सच्चा धर्म माना गया हे, अत दु खी प्राणियो के कष्ट हरण रूप दया को मैं अपने जीवन मे सर्वोच्च स्थान देता हू।

(4) माध्यस्थ भावना—इस ससार मे मेरे अनुकूल सम्बन्ध और पदार्थ होते हैं तो प्रतिकूल भी। यदि इस अनुकूलता और प्रतिकूलता को मैं अपने विचारो मे स्थान दू तो निश्चय ही राग और द्वेष की भावनाए उभरेगी। अनुकूल के प्रति राग तथा प्रतिकूल के प्रति द्वेष, जबकि मेरा सारा प्रयत्न ही भावनाओ के माध्यम से राग द्वेष को घटाना है। इस कारण मैं माध्यस्थ भावना का अभ्यास करूगा कि अनुकूलताओ ओर प्रतिकूलताओ के प्रति समान भाव बन जाय। मनोज्ञ पदार्थ मिले तब भी वही बात और अमनोज्ञ मिले तब भी वहीं—सुख–दु ख, सयोग–वियोग मे एक सरीखी महकासागिरी–यही मेरी माध्यस्थ भावना होगी। में भले बुरे का जब अपने ऊपर कोई असर नहीं मानूगा तो मेरे मन मे न तो विचार आन्दोलित होगे और न वचन तथा काया प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति मे जुटेगे। इससे मेरी आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलेगी।

भावना अनुचिन्तन शुभ भावनाओ के कई प्रारूप हो सकते हैं जो भाव शुद्धि और मन सिद्धि के कारण भूत बन सके किन्तु मान्य बारह भावनाओ

मे जो भाव–प्रेरक अर्थ गॉभीर्य समाहित है, वह अपने ढग का अनूठा है तथा शाश्वत सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने वाला है। वे भावनाए हैं– (1) अनित्य भावना, (2) अशरण भावना (3) ससार भावना (4) एकत्व भावना (5) अन्यत्त्व भावना (6) अशुचि भावना (7) आश्रय भावना (8) सवर भावना (9) निर्जरा भावना (10) लोक भावना (11) बोधि दुर्लभ भावना तथा (12) धर्म भावना। (इनका विस्तार आगे दिया जा रहा है।)

क्या यहॉ सब अस्थिर नहीं ?

मैं इस ससार में चारो ओर देखता हू तो यहॉ जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सब कुछ अस्थिर, परिवर्तनशील और नश्वर दिखाई देता है। दृश्यमान कोई वस्तु शाश्वत नहीं दिखाई पडती है। जो पदार्थ जिस रूप मे प्रात काल मे दिखाई देते हैं, वे ही सध्याकाल मे अपना रूप बदल लेते हैं। कइयो का तो अस्तित्त्व ही न पहिचाने जा सकने वाले दूसरे रूप मे परिवर्तित हो जाता है याने कि वे पदार्थ नष्ट हो गये हैं–ऐसा लगता है। कुछ ही समय पहले जहॉ मगल गान होता हुआ सुनाई पड रहा था, वहॉ करुण क्रन्दन सुनाई देता है। जिस व्यक्ति को मैं पदासीन होते हुए देखता हूॅ, उसी की चिता का धुआ कुछ समय बाद दिखाई देने लगता है। इस प्रकार सासारिक घटनाओ की क्षणभगुरता मेरे सामने स्पष्ट हो जाती है। इन सबको देखते हुए भी यदि मैं अपने जीवन को अमर मान कर इन दृश्यो मे अपने आपको व्यामोहित बनाता रहता हू तो वह मेरी बुद्धिहीनता तथा विवेकहीनता ही होती है।

मैं कई मनुष्यो को देखता हू कि वे ससार के मोह ममत्त्व मे इस प्रकार डूबे रहते हैं, जैसे उन्हे मरना ही नही है और सदा यहॉ की उपलब्धियो को भोगते ही रहना है। वे यह भूल जाते हैं कि आज यह शरीर जो युवावस्था के आनन्द उठा रहा है, कल जराग्रस्त एव रोग ग्रस्त होकर मरण को प्राप्त होगा। यह शरीर तो वैसे भी रोगो का घर है, फिर इसको जो स्थिर मानकर आत्मार्थी सावधानी ग्रहण नहीं करते हैं, वे पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नही करते हैं। यहॉ जवानी के साथ बुढापा जुडा हुआ है, ऐश्वर्य के सभी साधन नाशवान हैं तथा जीवन के साथ मृत्यु लगी हुई है।

मेरे अनुभव मे आता है कि महात्मा लोग ऐसी अज्ञानी आत्माओ के प्रति दयाद्र होते हैं और उन्हे चेतावनी देते हैं कि जीवन जीर्ण हो जायगा, किन्तु आशाए और तृष्णाए कभी जीर्ण नहीं होगी अत कम से कम आयु घटने के साथ तो आत्मोत्थान के उपायो पर चिन्तन करो। प्रतिदिन मोह को प्रबल बनाते हो और आत्म कल्याण तथा लोकोपकार मे प्रवृत्त होने का विचार नहीं

बनाते हो—यह सचीन नहीं हे। देखो, इस ससार मे सब कुछ अस्थिर है—नाशवान हे, तुम्हारे प्राप्त पदार्थ भी, तुम्हारा स्वय का शरीर ओर जीवन भी। स्त्री, परिवार और सभी स्वजन क्षणस्थायी हैं। स्वामित्व स्वप्न तुल्य है। यहॉ सयोग भी वियोग के लिये ही होता हे। इसलिये चेतो ओर इस ससार में मात्र शाश्वत और अनश्वर आत्मा की सेवा के लिये सजग एव सक्रिय बनो।

मैं वीतरागदेवो और सुगुरुओ के उपदेशो को आत्मसात् करता हू और ससार की अनित्यता तथा अस्थिरता का विचार करते हुए सभी पदार्थो से पीछे हट जाता हू, उनमे अपनी आसक्ति को घटाते हुए समाप्त कर देना चाहता हू तथा उनके लिये क्षोभ एव शोक करने के सभी मानसिक कारणो को भी मिटा देने के लिये तैयार हो जाता हू। मुरझाई हुई फूलो की माला को छोड देने मे भला शोक क्यों होना चाहिये ?

मेरी शरणहीनता

में अपनी रक्षा के लिये अपने शरीर को समर्थ और बलवान बनाता हू, माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री से विपत्ति के समय सहायता की आशा रखता हू तथा अपने धन वैभव से सुरक्षा के साधन जुटाता हू, किन्तु समय आने पर क्या कोई भी मेरी सुरक्षा कर सकता है—मुझे अभय शरण दे सकता है ? जब मैं नाना प्रकार के रोगो से ग्रस्त बन जाता हू तब क्या कोई मेरे रोग लेकर मुझे स्वास्थ्य प्रदान कर सकता है ?

मगध देश के महाराजा श्रेणिक ने अनाथी मुनि से उनके दीक्षित हो जाने का कारण जानना चाहा तो उन्होने कहा कि मैंने दीक्षा लेली क्योकि मेरा कोई नाथ और शरणदाता नहीं रहा। तब गर्वोन्नत होकर श्रेणिक ने कहा—मैं आपका नाथ बनूगा, में आपको शरण दूगा क्योकि मैं एक विशाल राज्य और उसकी अखूट सम्पत्ति का स्वामी हू। अनाथी मुनि ने सहज भाव से उत्तर दिया—राजन्, तुम मुझे क्या शरण दोगे ? तुम स्वय शरणहीन और अनाथ हो। मुनि ने अपनी परम दारुण वेदना की कहानी कही तब राजा समझा कि इस ससार मे कोई किसी का नाथ ओर शरण दाता नहीं बन सकता क्योकि सभी अनाथ और शरणहीन हें। राजा तो क्या, चक्रवर्ती और तीर्थंकर जैसी परम समर्थ आत्माऍ भी काल के पजे से नहीं छूट सकती हे। इस ससार मे कोई भी वस्तु शरण रूप नहीं है।

तब मैं सोचता हू अपनी शरण—हीनता पर भी। में गर्व करता था अपनी भौतिक शक्तियो पर—अपने भुजबल पर, अपने स्वजन बल पर, अपनी सत्ता और अपनी सम्पत्ति के बल पर। किन्तु अव सोचता हू कि किसी मे भी मुझे

शरण देने का सामर्थ्य नही है। ये रोग, व्याधि, जरा और मृत्यु जब मुझे घेर लेगी तब कोई भी आगे बढकर मुझे उनसे छुटकारा नही दिला सकेगा। मैं अपनी सब बाहरी शक्तियो को नाथ समझकर तो अनाथ हो जाऊगा।

तो मैं क्या करू ? किसकी शरण मे जाऊ जो मेरे दु खो का हरण करे ? क्या मेरे लिये कोई शरण नही है ? है, किन्तु बाहर कोई नही। मेरा 'मैं' ही मेरी शरण है, मेरा सुधर्म ही मेरी शरण है। मैं अपने धर्म मे रमण करू तो मैं भी अनाथी मुनि के समान सनाथ हो सकता हू। मेरी शरणहीनता मेरी भावनाओ मे है और मेरी ही शुभता मे परिवर्तित भावनाए मुझे निर्भय शरण प्रदान कर सकती है। जब मैं अनुभव करता हू और अशरण भावना से भावित बनता हू तो मेरी धर्म मे—अपने आत्मोत्थान मे और लोकोपकार मे अभिरुचि सुदृढ एव अभिवृद्ध बन जाती है।

ससार के रगमंच पर

इस ससार के रगमच पर मैं और अन्य ससारी प्राणी अभिनेता की तरह अपना-अपना अभिनय दिखा रहे हैं। अपने-अपने कर्मो से प्रेरित होकर विविध शरीर धारण कर रहे हैं और सासारिकता से पूर्ण अपनी लीलाए बता रहे हैं। एक जन्म मे जो किसी की माता बनती है, वही दूसरे जन्म मे उसकी स्त्री बन जाती है। इसी प्रकार पिता पुत्र और पुत्र पिता तथा स्वामी दास और दास स्वामी बन जाते हैं। ससार की विचित्रता इतनी ही नही हैं। एक जन्म मे जो राजा होता है, रक बनते देखा जाता है और रक व्यक्ति राज्य पद को पा लेता है। भाति-भाति के विचित्र परिवर्तन यहाँ देखे जा सकते हैं।

अन्य प्राणियो के समान मैं भी इस ससार मे अनादिकाल से जन्म मरण के चक्र मे घूम रहा हू और भयावह दु खो को सह रहा हू। मैं अपने अनन्त जन्मो मे ससार के सभी क्षेत्रो में रहा हू, सभी गतियो मे घूमा हू तथा सभी जातियो व कुलो मे जन्मा हू। इस प्रकार कभी न कभी प्रत्येक प्राणी से मेरा सम्बन्ध जुडा है जिससे सभी प्राणी मेरे आत्मीय बने हैं। कर्मवश परिभ्रमण करते हुए मैंने लोकाकाश के एक एक प्रदेश को अनन्ती बार व्याप्त किया परन्तु उसका अन्त नही आया। नरक योनियो के भीषण दु ख मैंने सहे, तिर्यंच योनियो के क्षुधा, प्यास, रोग, वध, बन्धन, ताडन, भारारोपण आदि के कष्ट मैंने भुगते, देवयोनि के शोक, भय, ईर्ष्या आदि से भी मैं पीडित हुआ तथा इस मानव जीवन के नानाविध ताप-सन्ताप तो मेरे सामने हैं। फिर भी इन दु खो का अन्त कहाँ है ? क्या कही भी अमिट सुख का अनुभव होता है ? क्या किसी भी अवसर पर आत्मशान्ति मिली है ?

यह सत्य हे कि मुझे इस ससार मे न तो दु खो का अन्त दिखाई देता हे और न ही अमिट सुख तथा आत्मशान्ति का अवसर। ससार मे ऐसा एक भी मनुष्य या प्राणी नही दिखाई देता हे जो सर्व प्रकार के सुखो को भोग रहा हो। कही युद्ध हे तो कहीं महामारी, कही दुष्काल है तो कही द्वन्द्व–सघर्ष। किसी को घनाभाव है तो किसी को रोगग्रस्तता, कोई भयाकुल हे तो कोई वियोग कष्ट से कष्टित। सभी जगह अशान्ति हे, सभी कोई सन्ताप सत्रस्त हैं। क्या मैं भी अशान्त ओर सन्ताप सत्रस्त ही रहूगा ? नहीं, मैं इस ससार मे नही, अपनी ही आत्मा मे शान्ति ओर सुख की खोज करूगा तथा अपनी शुभ भावनाओ के आधार पर उन्हे प्राप्त करके रहूगा।

एकत्त्व की अवधारणा

मैं सासारिक परिस्थितियो की गहराई मे उतरता हू तो देखता हू कि मेरी आत्मा अकेली उत्पन्न हुई है ओर अकेली ही इस जीवन का त्याग करेगी। कर्मो का बध भी मेरी आत्मा अकेली ही करती हे तथा उदय मे आने पर उन कर्मो का फल–भोग भी वह अकेली ही करती है। मेरे स्वजन, मित्र आदि कोई भी कर्म फल से उत्पन्न मेरे दु खो को स्वय नही ले सकते हैं। सच पूछं तो इस ससार मे वस्तुत स्वजन कोई भी नहीं हे। मृत्यु के समय स्त्री विलाप करती हुई काल प्रवाह मे पति को भूल जाती है तो ममता की मूर्ति माता भी अपने बेटे के शव को घर के दरवाजे से बाहर कर देती है। सम्बन्धी और मित्र भी श्मशान पहुच कर अपने आत्मीय के शरीर को चिता पर रखकर अग्नि दे देते हें। कहिए कोई जाता है मृत व्यक्ति के साथ मे ? फिर कैसे कहेगे उन्हे स्वजन ?

मैं देखता हूँ कि मनुष्य इन्हीं स्वजनो के लिये अपने जीवन मे भाति–भाति के पाप कार्यो को करता हुआ थकता नही है। उन्ही के सुख और आनन्द के लिये दूसरो पर अन्याय और अत्याचार करते हुए वह सकोच नहीं करता। घोर पाप कर्मो का बध करके वह सम्पत्ति अर्जित करता है जिसे उसके प्रियजन अपना अधिकार मान कर भोगते हैं। लेकिन जब उन्हीं कर्मो का दु खपूर्ण फल उदय मे आता हे तब उन प्रियजनो मे से कोई भी फल भोग मे साथ नही देता। जन्म और मृत्यु के समय आत्मा की एकता को प्रत्यक्ष करते हुए भी वह पर–पदार्थो को अपना समझता है–यह देखकर ज्ञानी महात्मा भान दिलाते हैं कि इन्द्रिय–सुखो मे ममत्त्व रखना, उनका सयोग होने पर हर्षित होना और वियोग होने पर दु ख करना मोह की विडम्बना मात्र हे।

एकत्त्व भावना के सदर्भ मे मेरा चिन्तन चलता है कि यह जीव अकेला ही अप्सराओ के मुख रूपी कमल के लिये भ्रमर रूप स्वर्ग का देवता बनता है। अकेला ही तलवारो से छेदा जाकर नरक मे अपना खून बहाता है। विषय कषायो से लिप्त होकर वह अकेला ही पाप कर्मों का बध करता है। और उतना ही यह भी सत्य है कि अपना दृढ सकल्प बना लेने के बाद वह अकेला ही कर्मों के सभी आवरणो को दूर करके आत्म विकास की महायात्रा को सफल भी बनाता है। अत परस्त्री को पत्नी समझना जिस रूप मे भयावह है, उससे भी अधिक भयावह है परपदार्थों मे ममत्त्व रखना, क्योकि इसी से राग और द्वेष की मलिनता बढती है जो ससार की जड है। यह समझ कर मैं पर पदार्थों मे अपना ममत्त्व घटाऊगा, राग–द्वेष को मिटाऊगा तथा एकत्त्व भावना को भाऊगा।

शरीर और आत्मा की भिन्नता

मै कौन हू ? मेरे माता–पिता आदि सम्बन्धी मेरे कौन होते हैं ? इनका सम्बन्ध मेरे साथ कैसे हुआ ? यह विलास और वैभव सामग्री मुझे कहा से मिली ? इन प्रश्नो के मूल में मैं जाता हू तो मुझे ज्ञान होता है कि ये सब आत्मा से सम्बन्धित नही है—मात्र इस शरीर से सम्बन्धित हैं, कारण, शरीर और आत्मा भिन्न–भिन्न हैं। शरीर नाशवान होता है और आत्मा अनश्वर। शरीर पुद्‌गलो का समूह है तो आत्मा ज्ञानपुज। शरीर मूर्त है, इन्द्रियो का विषय है और अशाश्वत है लेकिन आत्मा मूल मे अमूर्त, इन्द्रियातीत तथा शाश्वत होती है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध कर्म वश बना हुआ है। इसलिये इस शरीर को ही आत्मा मान लेना भ्रान्तिपूर्ण है—यह अन्यत्त्व भावना है। शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है। 'मैं' जो हू वह आत्मा हू, शरीर नही। अत मैं शरीर के कृश होने पर शोक न करू क्योकि शरीर के कृश होने अथवा नष्ट हो जाने पर भी आत्मा का कुछ नहीं बिगडता है। आत्मा तो नित्य, समदर्शी तथा ज्योतिर्मय होती है। जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, भोग, हास या वृद्धि आत्मा के गुण नहीं हैं—ये तो कर्म के परिणाम होते हें। इसी प्रकार माता पिता, स्त्री पुत्र इस आत्मा के नही है ओर आत्मा भी इनकी नहीं है। यह जीवन तो उस वृक्ष के समान हे जहा पर सध्या के समय अलग–अलग स्थानो से कई पछी पखेरू आकर मिलते हैं और रात्रि वास तक ठहरते हैं। स्वजनो का सयोग भी इसी रूप में अल्प समय के लिये होता हे। प्रत्येक जन्म मे इस आत्मा के साथ अन्य कई आत्माओ का सयोग तथा सम्बन्ध होता है किन्तु उन सबसे यह आत्मा अलग भी हो जाती है।

सयोग के साथ वियोग हे—यह विचार करके मुझे अपने स्वजन–सम्बन्धियो के मोह ममत्त्व से दूर हटना चाहिये। मुझे सोचना चाहिये कि जिनके लिये में प्रयत्न करता हू, जिनसे में डरता हू, जिनसे में प्रसन्न रहता हू, जिनका मुझे शोक होता हे, जिन्हे में हृदय से चाहता हू, जिन्हे पाकर में परम प्रसन्न हो जाता हू और मैं अपनी गाढी आसक्ति बनाकर अपने विशुद्ध स्वभाव को अपरूप बना लेता हू— वे सब पराये हैं, मेरा अपना कोई भी नहीं। पर–पदार्थो मे ममत्त्व भाव धारण करके मेरी विपरीत वृत्ति बन गई है। मैं आत्मा के उत्थान मार्ग को पतन का मार्ग तथा पतन के मार्ग को उत्थान का मार्ग समझने लग गया हू। इस कारण में अपने यथार्थ कर्त्तव्य को भूल गया हू तथा उसके सम्यक् निर्धारण के उपयोग से भी शून्य बना हुआ हूँ। मैं विचार करता हू कि मुझे अपने उन्मार्ग को समझ कर वास्तविक आत्म विकास की ओर अग्रसर बनाना चाहिये।

चारो ओर गंदगी ही गंदगी हे

इस ससार मे मैं जिधर भी देखता हू, उधर गदगी ही गदगी दिखाई देती है। ओरो को तो छोड़ू—मेरा खुद का शरीर भी कितना गदा और अशुचिपूर्ण है ? यह शरीर मास, रुधिर, अस्थि जेसे घृणित पदार्थों के सयोग से बना है। माता के गर्भ मे भी अशुचिपूर्ण पदार्थों के आहार के द्वारा ही इसकी वृद्धि हुई है। उत्तम, स्वादिष्ट ओर रसपूर्ण पदार्थो का भोजन भी इस शरीर के भीतर पहुच कर घोर अशुचि के रूप मे परिणत हो जाता है। नमक की खान मे जो भी वस्तु गिरती है, वह नमक बन जाती है। इस शरीर मे कितनी ही सरस वस्तुए पहुचावें तब भी वे शरीर के अशुचि धर्म के अनुसार गन्दगी का ढेर बन जाती हैं। ऑख, कान, नाक आदि सभी नव मल द्वारों से सदा मैल बहता रहता हे। इस शरीर को स्वच्छ, सुगन्धित तथा सुन्दर बनाने के लाखो उपाय किये जाते हें, फिर भी वह अपने अशुचिपूर्ण स्वभाव को छोडता नहीं है। निर्मल से निर्मल साधनो को भी वह मलिन बना देता है।

में शान्त ओर स्थिर बुद्धि से विचार करता हू तो स्पष्ट हो जाता है कि मेरे शरीर का प्रत्येक अवयव और स्वय सारा शरीर घृणाजनक पदार्थो से भरा पडा है। वह एक नही, अनेक रोगो का घर हे। मेरा आज का सुन्दर ओर स्वस्थ शरीर कल कुरूप ओर जर्जरित हो जाता है। क्या यह परिवर्तन मेरे लिये सचेतक नहीं है ? मुझे सोचना चाहिये कि मेरा यह शरीर चमडी से ढका हुआ है, वरना सडी हुई लाश–सी दुर्गंध भरा हुआ कर्कश हड्डियो का ढड्डर मात्र है। ऐसा गदगी से भरा हुआ शरीर मेरे लिये प्रीतियोग्य कैसे हो सकता

है ? शरीर को गदगी ही गदगी का समूह समझते हुये मुझे शरीर पर से अपना मोह घटाना चाहिये। शरीर को सुन्दर, निर्मल तथा बलवान बनाने की भ्रान्ति के पीछे आत्म–विकास की उपेक्षा करना मेरे लिये समुचित नही है तथा न ही यह समुचित है कि मैं अपने इस सदामलिन शरीर के सुख के लिये अपनी भव्य आत्मीय शक्तियो का अपव्यय करता रहू।

अशुचि भावना के क्षणो मे मुझे अनुभूति होती है कि सुधर्म ही सत्य है, पवित्र है तथा मेरी आत्मा को भी पवित्रतम बनने की प्रेरणा दे सकता है। अत मुझे शरीर–भाव से दूर हटकर आत्म–भाव की ओर उन्मुख तथा उसी भाव मे तल्लीन बनना चाहिये।

शुभाशुभ योग व्यापार

मैं जानता हू कि आश्रव के माध्यम से ही मन, वचन, काया के शुभाशुभ योग व्यापार द्वारा शुभाशुभ कर्म ग्रहण किये जाते हैं। जैसे किसी भी तालाब मे उसके चारो ओर से आने वाले नदी नालो से पानी आता है, वैसे ही आश्रव द्वारा आत्मा में कर्मों का आगमन होता है, जिससे वह व्याकुल और मलिन हो जाती है। पाच अव्रत, पाच इन्द्रियॉ, चार कषाय, तीन योग और पच्चीस क्रिया रूप आश्रव बयालीस प्रकार का होता है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह की लिप्तता से जीव यही इसी जीवन मे अनेक प्रकार के वध, बन्धन, ताडन आदि दु ख पाते हैं। एक एक इन्द्रिय के विषय मे आसक्त होकर ही हिरण, पतगा, भवरा, मछली, हाथी आदि प्राणी प्राणान्त तक का कष्ट भोगते देखे जाते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायो से दूषित प्राणी न स्वय सुख से जीते हैं और न दूसरो को ही सुख से जीने देते हैं। अशुभ योग व्यापार एव क्रिया कलाप मे पडे हुए प्राणियो की भी ऐसी ही दुर्दशा होती है। मुझे यह सब देखकर अपने लिये शिक्षा लेनी है कि मैं अशुभ कर्म बध के कारण भूत ऐन्द्रिक सुखों की असारता को समझू, धीरे–धीरे ही सही कषायो से अपने को विलग करू और इन सबके आधार रूप मन आदि के योग व्यापार को शुभता मे परिवर्तित करू जिससे मेरा त्रिविध योग व्यापार परिमार्जित, सशोधित और विशुद्ध बन जाय। मैं जानता हू कि शुभ योग व्यापार से जिन पुण्य कर्मो का बध होगा, वे भी मुझे सोने की जजीर की तरह ससार मे रोकने वाले ही होगे, फिर भी उनके द्वारा प्राप्त होने वाली अनुकूलताओ की सहायता से मैं अपने आत्म–विकास को आसान बना सकता हू। यह सही है कि अन्ततोगत्वा पुण्य कर्मो को भी क्षय करके ही मैं सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकूगा।

फिर भी आश्रव भावना के द्वारा मुझे यही चिन्तन करना हे कि कर्मो की जजीर चाहे लोह की हो या सोने की—आत्मा को ससार मे ही बाध कर रखती है और मेरी स्वतन्त्रता का अपहरण करती है ओर यह सोचकर अव्रत आदि के कुपरिणाम मुझे समझ लेना चाहिये। मे भावना पूर्वक निश्चय करू कि व्रतो को ग्रहण करूगा, इन्द्रियो और कषायो का दमन करूगा तथा अशुभ योग व्यापार का निरोध करता हुआ क्रियाओ से निवृत्त होने का प्रयत्न करूगा।

कर्म-निरोधक क्रियाएँ

मैंने अनुभव किया है कि यदि नाव के पेदे मे छेद हो तो उससे पानी भीतर भरेगा ओर पूरा भर कर नाव को अथाह जल मे डुबो देगा। इसी प्रकार आत्मा रूपी नाव मे आश्रव रूपी छिद्र से कर्म रूपी पानी बराबर घुसता ही जायगा तो वह आत्मा को डुबोने वाला बनता ही है। इसकी सुरक्षा का उपाय सवर है कि नाव के छिद्रो का निरोध कर दो ताकि बाहर से आने वाला पानी रुक जायगा। अत सवर उन क्रियाओ को कहते हैं जिन से कर्मो का आना और आत्मा से सम्बद्ध होना रुक जाता है और आत्म विकास की महायात्रा के निर्विघ्न सम्पूर्ण होने की सभावना पुष्ट हो जाती है।

मे कर्म निरोधक क्रियाओ को अपनाने की भावना भाऊ—यह सवर भावना है। सवर के दो भेद हैं—द्रव्य सवर और भाव सवर। आश्रव से जो कर्म ग्रहण होता है, उसका अश ओर सर्व रूप से छेदन करना द्रव्य सवर होता है तो भव हेतुक क्रिया का त्याग करना भाव सवर है। समिति, गुप्ति, मुनिधर्म, ध्यान, भावना, परिषह—सहन चारित्र आदि सभी आते हुए कर्मो को रोकते है—इस कारण द्रव्य सवर के रूप होते हैं। ससार सम्बन्धी क्रिया का ही त्याग कर देना भाव सवर है।

मेरी मान्यता है कि आत्म विकास की दिशा मे सवर का अत्यधिक महत्त्व होता है। मुझे वास्तविक सुख की खोज हे और मैं चाहता हू कि उसकी प्राप्ति के लिये अपना परम पुरुषार्थ लगाऊ तो उसके लिये ससार की नैमेत्तिक क्रियाओ से विरत होना अनिवार्य है। मैं समझता हू कि यदि ससार के प्रति मेरे हृदय मे उदासीनता का भाव जग जाय, त्याग—भाव के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न हो तथा आत्म विकास की तीव्र लगन लग जाय तो कर्म निरोधक क्रियाओ के द्वारा आश्रव को जीत लेना आसान हो जायगा। सवर भावना के नियमित चिन्तन से मेरी आत्मा की सवर क्रियाओं में रुचि बढेगी तथा सवर क्रियाओ का आचरण करते हुए मैं मुक्ति पथ पर अग्रसर बन जाऊगा।

कर्मो का मूलोच्छेदन

मुझे अपने सुगुरुओ से सद् ज्ञान मिला है कि सवर भावना द्वारा नवीन कर्मो के आगमन को रोकने वाली क्रियाओ की तरफ मैं उन्मुख होऊगा तो मुझे निर्जरा भावना के माध्यम से यह भी चिन्तन करना होगा कि जो कर्म मेरी आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उनका सर्व–प्रकारेण मूलोच्छेदन (नाश) कैसे किया जाय ? ससार के परिभ्रमण के कारणभूत कर्मो को उनके बीजो सहित क्षय करने की भावना ही निर्जरा भावना है। यह दो प्रकार की है—सकाम और अकाम। कर्मो का सम्पूर्णत क्षय हो—इस विचार से तपाराधन द्वारा उनका क्षय करना सकाम निर्जरा है और फल देकर कर्मो का स्वभावत अलग हो जाना अकाम निर्जरा है। कर्मो का विपाक अपने स्वभाव तथा आत्मा के उपाय—दोनो प्रकार से होता है। जैसे एक आम डाल पर अपने आप पक जाता है और दूसरे आम को घास आदि से ढककर प्रयत्नपूर्वक भी पकाया जाता है। आत्मा के उपाय से जो निर्जरा की जाती है, वह बारह प्रकार के बाह्य एव आभ्यतर तपो की आराधना से सभव होती है। आगामी अधापों मे तप का विस्तृत विश्लेषण किया गया है।

मैं जानता हू कि जिस प्रकार अग्नि सोने के मैल को जलाकर उसे विशुद्ध बना देती है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि आत्मा की कर्म—मलिनता को नष्ट करके उसके शुद्ध–स्वरूप को प्रकट कर देती है। पाप रूपी पहाड को चूर्ण करने के लिये तप वज्र रूप है, पाप रूपी सघन धन श्रेणी को बिखेर देने के लिये यह आधी स्वरूप है। तप का आचरण महापापियो के पाप पुज को भी भस्मीभूत कर देता है। तपा चरण का अपार महत्त्व है। इससे बाह्य और आभ्यतर शत्रु जीते जा सकते हैं, इसके प्रभाव से लब्धियो और सिद्धियो की प्राप्ति होती हे तो यह तपाचरण आत्म स्वरूप प्रकटाने मे सहायक होता है।

मैं निर्जरा के गुणो पर गहराई से विचार करूगा, अपनी आत्मा को निर्जरा के लिये प्रभावित बनाऊगा एव कर्मो की निर्जरा के लिये पराक्रम का प्रयोग करूगा।

स्वचालित यह लोक

मैं जब लोक के सस्थान का विचार करता हू तब वह मेरी लोक भावना होती है। इस भावना का चिन्तन करने से तत्त्व ज्ञान की विशुद्धि होती है तथा मन बाह्य विषयो से हट कर आत्मनिष्ठ एव स्थिर बनता है। मानसिक स्थिरता का अभ्यास बन जाय तो आध्यात्मिक सुखो की उपलब्धि कठिन नही रहती है।

लोक का स्वरूप विस्तार से बताया गया है कि यह छ द्रव्यो--धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय से युक्त है। यह लोक किसी का भी बनाया हुआ नहीं है, न ही इसका कोई रक्षक अथवा सहारक है। यह लोक अनादि और आश्वत है तथा जीव और अजीव से व्याप्त है। पर्याय की अपेक्षा इसमे वृद्धि और विनाश देखे जाते हैं। लोक का प्रमाण चौदह राजू है। इसके बीचोबीच मेरू पर्वत है। लोक के तीन विभाग हैं--ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक। मध्यलोक मे प्राय तिर्यच और मनुष्य रहते हैं, अधोलोक मे प्राय नारकीय जीव रहते हैं तथा ऊर्ध्वलोक मे प्राय देवता रहते हैं। लोक के अग्रभाग मे सिद्धात्मा रहते हैं। लोक का विस्तार मूल मे सात राजू है, फिर घटते-घटते मध्य मे एक राजू है और फिर बढते बढते ब्रह्मलोक मे पाच राजू का विस्तार है और ऊपर जाकर क्रमश घटते-घटते एक राजू का विस्तार रह गया है। लोक का धन सात राजू है। जामा पहिन कर और पैर फैलाकर कोई पुरुष खडा हो, दोनो हाथ कमर पर रखे हो, उस आकार से लोक की उपमा दी गई है। लोक मे पृथ्वी घनोदधि पर स्थित है घनोदधि घनवायु पर एव घरवायु तनुवायु पर स्थित है। यह तनुवायु आकाश पर स्थित है। लोक के चारो ओर अनन्त आकाश है। लोक मे नीचे से ज्यो-ज्यो ऊपर आते हैं, त्यो त्यो सुख बढता जाता है। ऊपर से नीचे की ओर अधिकाधिक दु ख है। ऊर्ध्वलोक मे सर्वार्थसिद्ध के ऊपर सिद्ध शिला है। आत्मा का स्वभाव ऊपर की ओर जाना है, परन्तु कर्म भार से भारी होने के कारण वह नीचे जाती है। इस स्वरूप को समझ कर कर्मो से छुटकारा पाने के लिये आत्मा को धर्माचरण मे प्रवृत्त होना चाहिये।

ज्ञान का प्रकाश दुर्लभ होता है

उस समय मेरा चित्त बहुत ही दु खी होता है जब मैं अनेक मनुष्यों को मनुष्य जैसा दुर्लभ जन्म प्राप्त करके भी मिथ्यात्त्व और माया मे फसते हुए और ससार के अथाह कूप मे गहरे उतर कर इधर उधर भटकते हुए देखता हू। सोचता हू कि इनको बोधिरत्न की प्राप्ति केसे हो सकती हैं ? मैं यह आत्मालोचना भी करता हू कि मेरा अपना बोधिरत्न कितना सुन्दर, कितना स्वरूपवान् और कितना निर्मल है ? सूक्ष्म जीवाणुओ के अत्यन्त दु ख भरे जीवन से निकल कर आत्मा त्रस मे, पचेन्द्रिय मे, पर्याप्तावस्था और सज्ञित्व मे तथा सबसे ऊपर मनुष्य जन्म मे आकर भी आत्म ज्ञान (बोधि) से वचित रह जाय तो यह एक शोचनीय विडम्बना ही कही जायगी। बोधि प्राप्त करने का मनुष्य जन्म ही एक उपयुक्त अवसर है और यही कारण है कि देवता भी

इस जीवन को पाने के लिये लालायित रहते हैं। इस कारण मानव जन्म मे आर्य देश, उत्तम कुल, पूर्ण पाचो इन्द्रिया आदि दस प्रकार की उपलब्धियॉ पाकर बोधि प्राप्त करने तथा उसकी रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिये।

मैं अपने ही अन्तरावलोकन से जानता हू कि बोधि–ज्ञान का प्रकाश दुर्लभ होता है। बोधि ज्ञान को कहू और सम्यक्तव को भी कहू तथा रत्न त्रय भी कहू तो उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। बोधि का अर्थ है ज्ञान का आन्तरिक प्रकाश और धर्म साधनो की प्राप्ति। धर्म के कोई साधन कितने सत्य स्वरूप हैं–उसकी जाच परख बोधि से ही की जा सकती है। इसीलिये बोधि को रत्न कहा गया है। जैसे रत्न की विशेषता प्रकाश है उसी प्रकार बोधि की विशेषता ज्ञान है जिसकी प्राप्ति अति दुर्लभ मानी गई है। कहा गया है कि उत्तम श्रवण भी मिल जाना समव है किन्तु सत्य पर यथार्थ श्रद्धा होना बहुत ही कठिन है क्योकि ससार मे मिथ्यात्व का सेवन करने वाले बहुत दिखाई देते हैं।

अत मैं बोधि दुर्लभ भावना भाता हू कि अनेक जन्मो के बाद महान् पुण्य के योग से मिले इस मनुष्य जन्म मे जब तक शरीर निरोग है, वृद्धावस्था से जीर्ण–शीर्ण नहीं हुआ है ओर इन्द्रियॉ अपने–अपने विषयो को ग्रहण करने मे समर्थ हैं, तब तक मुझे धर्म प्राप्ति का पूर्ण प्रयत्न कर लेना चाहिये। यह अवसर अमूल्य है जो आसानी से फिर मिलने वाला नहीं है। इसलिये प्रमाद को छोड कर मुझे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर बन जाना चाहिये, वरना यही कहा जायगा कि दूल्हा विवाह का मुहूर्त आने पर सो गया और विवाह से वचित रह गया।

धर्म की परमहितकारी भावना

जिस धर्म के प्रभाव से स्थावर और जगम वस्तुओ वाले ये तीनों लोक विजयवन्त हैं और जो इहलोक व परलोक मे प्राणियो का हित करने वाला तथा सभी कार्यो मे सिद्धि देने वाला है, उस दयामय धर्म को मैं नित प्रति भाऊ और ध्याऊ, क्योकि उस धर्म के तेजस्वी सामर्थ्य से अनर्थ जनित पीडाए भी निष्फल हो जाती हैं। ऐसी है धर्म की परम हितकारी भावना।

मैं चिन्तन करता हू कि धर्म है क्या ? आप्त वचन समाधान देते हैं कि अहिसा, सयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मगल है। जिसका धर्म चित्त मे लगा हुआ है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि दस भेद रूप धर्म है। जीवो की रक्षा करना धर्म है और सम्यक् ज्ञान, सम्यक्

दर्शन, सम्यक् चारित्र, रूप रत्न त्रय धर्म है। दान, शील तप और भाव रूप भी धर्म हे। यह धर्म सत्य हे क्योकि वीतराग देवो ने कहा हे और प्राणियो के लिये परम हितकारी है। राग ओर द्वेष से रहित, स्वार्थ ओर मोह से दूर, पूर्ण ज्ञानी व लोक त्रय का हित चाहने वाले वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट धर्म के अन्यथा होने का कोई कारण नहीं है। धर्म चार पुरुषार्थ मे प्रधान है तथा सबका मूल कारण है। इस धर्म की महिमा अपार है—चिन्तामणि, कामधेनु ओर कल्पवृक्ष—इसके सेवक हैं। धर्म अपने भक्त को क्या नहीं देता ? समुद्र पृथ्वी को नहीं बहाता, मेघ सारी पृथ्वी को जलमय नहीं करते, पर्वत पृथ्वी को धारण करना नही छोडते, सूर्य और चन्द्र अपने नियम से विचलित नही होते—ये सभी मर्यादाए धर्म से ही बनी हुई है।

इस प्रकार मैं धर्म भावना से अभिभूत होकर अनुभव करता हू कि धर्म बान्धव रहित का बन्धु है, मित्र हीन का मित्र है, रोगी के लिये ओषधि है, धनाभाव से दु खी लोगो के लिये धन है, अनाथो का नाथ हे और अशरण का शरण है। धर्म भावना के प्रभाव से मेरी आत्मा धर्म से च्युत नही होगी तथा निरन्तर धर्मानुष्ठान मे तत्पर रहेगी।

भाव शुद्धि, आत्म शुद्धि, समदर्शिता

विषयो से मलिन तथा कषायो से विकृत बने अशुभ भावो के रूपान्तरण के पुरुषार्थ को में आधारगत रचनात्मक कार्य मानता हू, क्योकि भाव—शुद्धि के बिना आगे का कोई भी प्रगतिशील चरण नहीं उठाया जा सकता है। कोई भी भाव मन मे उपजता है—वह कैसा भाव है—इसकी परख भी मन को ही करनी पडती है तथा मन को ही निश्चय करना पडता है कि उस भाव का प्रकटीकरण अथवा कार्यान्वयन किया जाय या नहीं। इस दृष्टि से मन निर्णायक का कार्य करता हे। अब जो आत्मा जागरूक बन कर अपने विकास का सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहती है, उसे सबसे पहले अपने मन को इस रूप मे साधना पडता हे कि वह सदासद का सम्यक् निर्णय कर सके।

जब मेरा 'मैं' भी सजग हो गया है और अपने विकास की महायात्रा को सफल बनाना चाहता है तो उसे पहले मन की गति मे दिशा परिवर्तन लाना होगा। मैंने यह निश्चय किया हे कि में अब मन के कहे मुताबिक नहीं चलूगा, वल्कि मन को अपने आदेश पर चलाऊगा और उसका यह अर्थ होगा कि में प्रतिपल मन के योग व्यापार को अपने नियत्रण मे रखूगा और मन को अशुभता मे भटकने नहीं दूगा। इस प्रकार अपनी आत्मशुद्धि और भाव शुद्धि को अन्योन्याश्रित बना दूगा, ताकि मन एकनिष्ठ और एकाग्र बन जाय।

विभिन्न प्रकार की शुभ भावनाओ के धरातल पर जब मन का नियमित चिन्तन चलेगा तो आत्मा और मन एकरूप बनने लगेगे ताकि शुद्धता सुरक्षित हो जायगी।

मेरा दृढ विश्वास है कि आत्म शुद्धि तथा भाव शुद्धि एक रूप होकर मेरी आत्मा मे एक नई जागृति का सचार करेगी। शुद्धि और शुभता का मनोयोग निश्चित रूप से वचन योग एव काम योग को शुद्ध और शुभ बना देगा। तब मन, वचन, काया की शुद्धता ही जीवन की शुद्धता के रूप मे ढल जायगी। मेरे जीवन की शुद्धता प्रतिफलित होगी समभाव एव समदृष्टि के विस्तार मे। सभी आत्माए मेरी आत्मा के समान है–यह समभाव मुझे अहिसक आचरण प्रदान करेगा तो उससे निर्मित होने वाली समदृष्टि मुझे सत्य की दिशा मे अग्रगामी बनायगी। सब प्राणियो के लिये समान भाव रखना तथा व्यवहार की दृष्टि से सबको एक समान देखना–यह आत्म विकास का उच्चतर सोपान होता है।

यही समदर्शिता का सोपान होता है। उस अवस्था मे न राग रहता है और न द्वेष। न कोई प्रिय होता है, न कोई अप्रिय। सूक्ष्म प्राणी से लेकर मनुष्य और ससार की सभी आत्माए उसकी आत्मीय हो जाती है। सबके सरक्षण का वह अभिलाषी होता है। यो कहे कि उस महान् आत्मा की करुणा का विस्तार सम्पूर्ण लोक तक फैल जाता है।

समदर्शिता से ज्योतिर्मयता

समदर्शिता आत्मा का मूल गुण है। ज्यो–ज्यो आत्मा अपने कर्मो के आवरणो को दूर करती हुई अपने मूल स्वरूप को प्रकट करती जाती है, त्यो–त्यो उसके भीतर छिपी हुई ज्ञान और दर्शन की ज्योति भी जगमगाने लगती है। समदर्शिता की परिपुष्टता के साथ यह ज्योतिर्मयता भी अधिकाधिक सुप्रकाशित होती हुई चली जाती है।

समदर्शी ज्योतिर्मय महापुरुषो का आदर्श ही मुझे अनुप्राणित करता है यह समझने के लिये कि मैं भी समदर्शी हू ज्योतिर्मय हू और यह पुरुषार्थ बताने के लिये कि मैं भी अपनी आत्मा मे आवृत्त अपनी समदर्शिता तथा ज्योतिर्मयता के गुणो को अपने प्रबल पुरुषार्थ से प्रकट कर सकता हू। मैं समझ चुका हू कि विषय–कषाय की वृत्तियॉ और प्रवृत्तियॉ जब मन्दतर बनती जायगी तो उसके साथ–साथ ससार मे भटकाने वाले मूल दोष–राग और द्वेष भी घटते जायेगे। द्वेष के त्याग से भी राग का त्याग कठिनतर होता है अत मैं भावना भाता हू कि मैं द्वेष भी छोडू और अन्ततोगत्वा राग को भी त्याग

दू। जिस दिन मे वीतराग भाव का वरण करूगा, वह दिन मेरा धन्य होगा ऐसा मेरा मनोरथ चलता हे। वीतराग भाव की अवाप्ति के साथ ही आत्मा की समदर्शिता एव ज्योतिर्मयता अपनी पूर्णता को प्राप्त हो जाती हे। यह अरिहत पद का स्वरूप होता हे ओर आत्मा जब सिद्ध पद को प्राप्त होती हे तब तो मात्र ज्योति मे ज्योति स्वरूप रूपान्तरित हो जाती है। यही आत्म विकास की महायात्रा का गतव्य है।

पांचवा सूत्र और मेरा सकल्प

मेरी सुदृढ आस्था हे कि मैं मूल रूप से समदर्शी हू, ज्योतिर्मय हू ओर यह आस्था ही मेरा सम्बल हे कि मे अपने सत्पुरुषार्थ की निरन्तर सक्रियता से कभी न कभी इस या आगामी जन्मो मे अपने समदर्शिता तथा ज्योतिर्मयता के गुणो को प्राप्त कर सकूगा।

अत मे सकल्प करता हू कि अपने गतव्य तक पहुचने के लिये आत्मीय गुणो के प्रकटीकरण स्वरूप विभिन्न चरणो को सयम पूर्वक स्वीकार करता हुआ सर्व प्रथम विषय कषायो से विश्रान्ति लेते हुए योग व्यापार की वृद्धिशील शुभता का वरण करूगा। भाव शुद्धि के क्रमिक अभ्यास के साथ ही गुणो के उच्चतर स्थानो पर मे आरूढ होता जाऊगा, समभाव एव समदृष्टि की पुष्टता से समता रस का आस्वादन करूगा तथा एक दिन समदर्शी एव ज्योतिर्मय बनूगा। मेरे इस समुन्नत आत्म स्वरूप का मूलाधार मन, वचन, कर्म का शुभत्व होगा–इस दृष्टि से मेरा सकल्प होगा कि मैं भावनाभिभूत होकर शुभ योगधारी बनूगा।

अध्याय सात

आत्म-समीक्षण के नव सूत्र

सूत्र : 6

मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ।

मुझे सोचना है कि मैं क्या कर रहा हूँ

और मुझे क्या करना चाहिये।

मेरा आत्मस्वरूप मूल रूप मे सिद्धात्माओ जैसा ही है। मुझे देखना है और परखना है कि यह मूल स्वभाव कितना विस्मृत हुआ है तथा विभाव कितना बढ गया है ? अपने आन्तरिक स्वरूप एव जागतिक वातावरण का द्रष्टा बनकर मैं आत्मशुद्धि का पुरुषार्थ दिखाऊगा, शुभ परिवर्तन का पराक्रम प्रकट करूँगा एव अहिसा, सयम व तप रूप धर्म को धारण करके विश्व के समस्त प्राणियो के साथ समभाव बनाऊँगा तथा उनमे समभाव जगाऊँगा।

सूत्र छठा

मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ। मेरी आत्मा अपने मूल गुण की दृष्टि से अनन्त पराक्रम एव अनन्त पुरुषार्थ को धारण करती है, भले ही उसकी यह धारणा–शक्ति वर्तमान मे आच्छादित बनी हुई है। मैं उसे प्रकट कर सकता हू और इसी पराक्रम एव पुरुषार्थ के माध्यम से मैं अपनी आत्मा को इस मूल गुण से सुशोभित बना सकता हू।

में पराक्रमी हू, पुरुषार्थी हू। मेरा पराक्रम अटूट है और पुरुषार्थ अथक। मैं मेरे पराक्रम को अटूट इसलिये कहता हू कि वह वज्र के समान हें। जैसे वज्र कभी टूटता नही और अपुरुषार्थ पर गिरे, उसे तोडे बिना रहता नहीं, वैसे ही मेरा पराक्रम स्वय कभी खडित नही होता और अपुरुषार्थ के प्रति वह प्रायोजित हो जाता है, उसे अखडित रखता नही। (यह एक देशीय उपमा है।)

मैं पराक्रमी हू क्योकि में पुरुषार्थी हू। मेरा पौरुष अपनी गति और प्रगति की कोई सीमाए नही जानता। वह समतल भूमि पर ही चलने मे समर्थ नहीं है, अपितु आकाश की अनन्त ऊचाइयो पर और सागर की अतल गहराइयो मे भी उसे वेग से बढता चला जाता है। वह कभी हार नहीं मानता। मेरा पुरुषार्थ अपराजेय है।

मैं पुरुषार्थी हू–पुरुषार्थ ही मेरा धर्म है, प्रमाद मेरा धर्म नहीं–स्वभाव नही, विभाव है। कषाय आत्मा से प्रमाद आता है तो मेरी ज्ञान आत्मा उसे पुरुषार्थ मे नियोजित करने का आह्वान करती है और सम्यक् ज्ञान आत्मा दर्शन आत्मा चरित्र आत्मा आदि से जुड कर वह आत्मा विकास की महायात्रा मे गतिशील बनता है और मानव जीवन को अपने गतव्य के निकट पहुचाता है।

मैं पुरुष हू इसी कारण पुरुषार्थी हू। यहाँ पुरुष शब्द लिगवाचक नहीं, गुणवाचक हे। जो भी पौरुष को धारण करता है, वह पुरुष होता है। लिग के वाच्यार्थ से सोचे तो कोई पुरुष होकर भी पुरुष नही होता, जबकि कोई

पुरुष न होकर भी पुरुष बन सकता है। पुरुष का मूल गुण उसका पोरुष होता हे। मैं पौरुष का धनी हू, इसीलिये पुरुष हू और पुरुष हू तो पुरुषार्थ मेरा धर्म हें।

पोरुष एक गुण होता है, एक शक्ति होती हे। उस शक्ति का प्रयोग और उपयोग कहा और किस प्रयोजन हेतु किया जाय—यह सम्यक् ज्ञान, सुदृढ आस्था एव सद्‌विवेक पर निर्भर हे। जब आकाश मे सूर्य चमक रहा हो तो उस जाज्वल्यमान प्रकाश मे अपना छोटा—सा टिमटिमाता दिया लेकर चलने मे कोई बुद्धिमानी नही। उस समय सूर्य के प्रकाश का उपयोग ही श्रेयस्कर होगा। वीतराग देवो ने पथ प्रशस्त कर रखा है कि आत्मा को अपना पुरुषार्थ किस दिशा मे लगाना चाहिये ? मुझे उसी प्रशस्त पथ को अपनाना है तथा अपने पुरुषार्थ को उसी पथ पर गति करने में लगाना है। इस कारण मेरे पुरुषार्थ के सामने शका या सन्देह का कोई प्रश्न ही नही है। उसे जागना है और इस पथ पर चल पडना है। इसीलिये मैं कहता हू कि मैं पुरुषार्थी हू—दिशाहीन पुरुषार्थी नहीं, सुदिशा मे सम्यक् रीति से अग्रगामी बनने वाला पुरुषार्थी—अपने साध्य को साध लेने वाला पुरुषार्थी।

मे पुरुषार्थी बनता हू तभी तो पराक्रमी होता हू—पुरुषार्थ का उत्कृष्ट स्वरूप ही तो पराक्रम मे परिवर्तित होता है। पुरुषार्थ प्रारभिक रूप होता है तो पराक्रम उसी का विकसित रूप। तब मेरा पराक्रम वज्र स्वरूपी बन जाता है। यह किसी भी शक्ति के तोडे नहीं टूटता और अति सिष्ट पराक्रम से कर्म तोडे जाने पर अखडित नहीं बचते। मेरी आत्मा का और सभी भव्य आत्माओ मे ऐसा ही अनन्त पराक्रम और अनन्त पुरुषार्थ होता है।

आत्मा का ऐसा पराक्रम और पुरुषार्थ सदा आत्मा के ही हित मे प्रयुक्त होता है—चाहे वह मेरी स्वय की आत्मा हो अथवा अन्य किसी की भी आत्मा। आत्म—हित ही प्रत्येक आत्मा का श्रेष्ठ पराक्रम और सत्पुरुषार्थ होता है, अत स्व—पर कल्याण ही पराक्रम ओर पुरुषार्थ की सुदिशा होती है। मैं पुरुषार्थी ह, इस कारण हर समय चिन्तन करता रहता हू ओर जाचता—परखता रहता हू कि मेरा पुरुषार्थ सुदिशा मे प्रगति कर रहा है अथवा नहीं। मेरी यह जागरुकता मेरे पुरुषार्थ की जागरुकता बन जाती है।

मुझे एक रूपक याद आ रहा है। एक फक्कड बाबा थे। उनके दो भक्त थे। एक दिन उन्होने अपने भक्तो से पूछा—क्या तुम्हारी मेरे मे पूरी आस्था है ? दोनों ने हृदय से कहा—हमारी आप मे पूर्ण आस्था है। आपके कथन को हम सत्य वचन मानते हैं। बाबा तब बोले—अच्छा, तो दोनों मेरे साथ चलो।

बाबा के साथ दोनो चल पडे। चलते–चलते बाबा एक बीहड जगल मे पहुच गये। फिर वे एक पहाड पर चढने लगे। दोनो भक्त भी उनके साथ चढने लगे। बाबा का वाक्य उनके लिये प्रमाण था।

पहाड की चोटी पर चढकर बाबा ठहर गये। उन्होने दोनो को पहाड की दूसरी तरफ का दृश्य दिखाया। पहाड के नीचे ही बडे–बडे गड्ढे और चौडी खाइया थी। गड्ढो और खाइयो के आगे लोगो का बहुत बडा झुड अस्त–व्यस्त अवस्था मे दु ख–भाव से घूम रहा था। जमीन के ऊबड–खाबडपन मे उन्हे कहीं निवास–योग्य स्थान नजर नही आ रहा था। चारो ओर भाति–भाति की असुविधाए मुह बाये खडी थी। वे बोले–यह दृश्य देख रहे हो न ? दोनो ने हॉ, मे उत्तर दिया तब बाबा ने ही पूछा–इसे देखकर तुम क्या सोचते हो ? दोनो ही लोगो के हृदय उस झुड की व्यथा से द्रवित हो उठे थे, अत कहने लगे–इन लोगो का दु ख दूर किया ही जाना चाहिये। बाबा प्रसन्न हो उठे, कहने लगे–लेकिन जानते हो, यह दु ख दूर कैसे होगा ? दोनो बाबा का आदेश सुनने के लिये मौन खडे रहे।

बाबा तब अपनी पौरुषभरी आवाज मे बोले–जिस पहाड की चोटी पर हम खडे हैं, इस पूरे पहाड को खोद देना होगा और पास के गड्ढो व खाइयो को उससे पाट देना होगा ताकि सारी भूमि समतल बन जाय और इन लोगो के लिये निवास–योग्य हो जाय। तब दोनो भक्तो का उत्तर एक नहीं रहा। पहला बोला–महाराज, पहाड को खोद डालना आसान काम नहीं है किन्तु मेरा पुरुषार्थ भी आसान काम करना नही चाहता। आसान काम तो किसी का भी पुरुषार्थ कर डालेगा, फिर मेरे पुरुषार्थ की क्या विशेषता ? मे आपके आदेश का पालन करने के लिये तत्पर हू और विश्वासपूर्वक निवेदन करना चाहता हू कि चाहे जैसी बाधाए मेरे बीच मे आवे, मैं समूचे पहाड को खोद दूगा, गड्ढो और खाइयो को पाट दूगा और इन लोगो की निवास व्यवस्था मे सहायता करूगा। मेरी सफलता मेरे अथक पुरुषार्थ से मिलेगी और मेरा पुरुषार्थ मेरे भीतर के बढते हुए आनन्द के साथ आगे बढता रहेगा। बाबा का चेहरा खिल उठा।

तब बाबा ने दूसरे भक्त के चेहरे पर अपनी दृष्टि जमाई। वह कुछ नही बोला। बाबा ने ही पूछा–तुम चुप खडे हो, क्या तुम्हे मेरे कथन मे विश्वास नहीं है ? वह बाबा के चरणो मे गिर पडा और रूधे कठ से बोला–मुझे आपके कथन मे अटल विश्वास है, किन्तु । यह 'किन्तु' क्या है ?– बाबा कडके। वह कहने लगा–इतना बडा पहाड भला मैं कैसे खोद सकूगा ? मेरे लिये यह

असमव हे। बाबा की ओजस्वी वाणी फूटी—तुम पुरुष होकर भी पुरुषार्थी नही हो। असमव शब्द पुरुषार्थी के शब्द कोष मे होता ही नही हे। पुरुषार्थी के लिये कोई भी दूरी अलघ्य नही होती, कोई भी ऊचाई या गहराई अभेद्य नही होती तथा कोई भी कार्य असमव नही होता। हो सकता हे कि कोई कार्य वह शरीर के माध्यम से न कर सके किन्तु उसकी भावना मे असमवता कहीं भी नहीं होती। क्या तुमने अपने साथी का उत्तर नहीं सुना ? कठिनाई से उसके मुह से शब्द निकले—सुना है महाराज ओर मैं आज ही समझ पाया हू कि हम दोनो की आन्तरिकता मे कितना बडा अन्तर रह गया हे ? में अब तक दोनो मे समान विकास का ही अनुभव कर रहा था। में लज्जित हू देव कि आज तो मैं इस पहाड को खोद डालने का विश्वास आपको नही दिला सकूगा। में अपने सोये हुए पोरुष को जगाऊगा ओर एक दिन आपके विश्वास को साकार बनाने का कठिन प्रयत्न करूगा। बाबा का चेहरा खिला नहीं लेकिन मुरझाया भी नही। वे इतना ही बोले—वत्स, यह तुम्हारी पुरुषार्थहीनता तुम्हारे प्रमाद के कारण हे। प्रमाद को मिटाये बिना पुरुषार्थ नही जागता। पुरुषार्थ को जगाने के लिये निरन्तर यह सोचते रहना पडता हे कि में क्या कर रहा हू ओर मुझे क्या करना चाहिये ? ओर जब पुरुषार्थ जाग जाता हे तो वह न कहीं भी थकता है और न कभी हारता है। वह असमव को समव बना देता हे।

में सोचता हू कि में फक्कड बाबा का कौनसा भक्त हू ? पहला या दूसरा ? अथवा कोई भी नही ? क्या आज में अपने पुरुषार्थ को सजग और सक्रिय बनाये हुए हू ? या अभी भी मुझे अपने पुरुषार्थ को जागृत करना शेष है ? अथवा क्या अभी तक में अपना भावनापूर्ण निश्चय ही नही कर पाया हू कि मुझे अपने अथक पुरुषार्थ को जगाना है ओर प्रमाद की गहरी नींद मे सोया हुआ हू ? मुझे अपनी दशा ओर विदशा पर तीखी नजर डालनी हे। में अगर बाबा के किसी भी भक्त के समान नहीं होऊ तो मेरे लिये अतीव लज्जापूर्ण अवस्था हे, जिसे बदलने के लिये मुझे तत्काल सन्नद्ध हो जाना चाहिये। फिर तुरन्त बाबा का पहला भक्त न भी बन सकू तो दूसरा भक्त तो हो ही जाऊ—स्व—पर कल्याण हेतु अपने पुरुषार्थ को जगाने का सकल्प तो ले ही डालू।

चिन्तन, सशोधन एव परिवर्तन की इस प्रकार की प्रक्रिया मे में निरन्तर सोचता रहू कि में पराक्रमी हू, पुरुषार्थी हू—अटूट पराक्रम एव अथक पुरुषार्थ का धनी।

ज्ञेय, हेय एव उपादेय

मे पुरुषार्थी हू तो मे अपने पुरुषार्थ के क्षेत्रो का सम्यक् ज्ञान करूगा और यह जानूगा कि किन–किन तत्त्वो एव विषयो को मैं समझू, उन मे से किन–किन तत्त्वो एव विषयो का मैं त्याग करू। तथा किन–किन तत्त्वो एव विषयो को मैं ग्रहण करू। यहॉ विषय का अर्थ है तत्त्वो का स्वरूप तथा यथार्थ वस्तु स्थिति। तत्त्वो एव विषयो या यह स्वरूप ही श्रेय, हेय एव उपादेय रूप मे तीन प्रकार का कहा गया है। वीतराग देवो की आज्ञा है कि इस ससार मे वर्तने वाले तत्त्वो को जानो और जाने गये तत्त्वों मे से त्यागने लायक तत्त्वो को त्यागो तथा ग्रहण करने लायक तत्त्वो को ग्रहण करो। ज्ञेय, हेय एव उपादेय का सम्यक् ज्ञान ही मुझे आत्मोद्वारक तत्त्वो को ग्रहण करने की प्रेरणा देगा।

यो तो ससार के सभी तत्त्व एव वस्तु–विषय ज्ञेय हैं–जानने लायक हैं, फिर भी उनका इस रूप मे वर्गीकरण किया गया है

(1) कर्म–चेतन तत्त्व को जड तत्त्व से सम्बद्ध बनाये रखने वाले कार्मण वर्गणा के पुद्गलो को कर्म कहते हैं और वस्तुत इन्हे मनुष्य के कार्य रूप मे ही देखे कि जिनके आधार पर कर्मो का बधन होता है। जैसा कार्य, वैसे कर्म और जैसे कर्म वैसा फल। इस चक्र को जो समझ लेता है, वह अपने कार्यो के स्वरूप को भी समझने लग जाता है। प्रत्येक कार्य को करते समय मनुष्य की यह सावधानी बन जाती है कि उसका कार्य कैसा है–वह शुभ है या अशुभ ? दूसरो को सुख देने वाला है या दु ख देने वाला ? और उस के आधार पर वह समझ लेता है कि कौनसा कार्य उसे करना चाहिये और कौनसा कार्य उसे नहीं करना चाहिये ? उसके सामने कारण स्पष्ट हो जाता है कि जैसा कार्य वह करेगा, वैस ही कर्म उसकी आत्मा के साथ बध जायेगे और ये कर्म बिना अपना तदनुसार फल भुगताए छूटेगे नहीं।

(2) भाग्य–मनुष्य के सामने जो फल–भोग आता है, उसे ही भाग्य का नाम दिया गया है। भाग्य मनुष्य पर कोई भी अन्य शक्ति थोपती नहीं अथवा कोई भी शक्ति प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होकर उसके भाग्य का निर्माण करती नही। यह मनुष्य के स्वय के ही पहले किये हुए कार्य होते हैं जो कर्म रूप मे बध कर उसे अच्छा या बुरा फल–भोग देते हैं। उस रूप मे अपने भाग्य अथवा नियति का स्वय आत्मा ही रचयिता होती है। आत्मा के साथ ही उसके कार्यो के परिणाम स्वरूप कर्मो का बधन होता है, जो आत्मा के साथ ही जुडा रहता है जिसके कारण पिछले जन्म का फल भोग इस जीवन मे

या आगे के जन्मो मे उदय मे आता रहता है। यही भाग्य–चक्र होता है जो भव भवान्तर तक चलता रहता है। शरीर अथवा अन्य साधन–सुविधाओ की प्राप्ति इसी भाग्य चक्र के अनुसार होती रहती है। मूल तत्त्व इस रूप मे ज्ञेय हे कि मनुष्य स्वय ही अपने भाग्य का निर्माता होता है और यदि वह चाहे कि उसे सौभाग्य प्राप्त हो तो शुभ कार्यो मे उसे सदा प्रवृति करनी चाहिये तथा वह अशुभ कार्यो मे प्रवृत्त होता रहेगा तो उसे दुर्भाग्य भुगतना ही पडेगा। भाग्य के इस स्वरूप को समझ लेने पर अपने कार्यो के सम्बन्ध में मनुष्य का विवेक अवश्यमेव जागृत होगा।

(3) मन—यद्यपि मनुष्य अपना प्रत्येक कार्य आत्मा से ही करता है, पर उसमे महत्त्वपूर्ण सहायक मन होता है मन द्वारा जिस प्रकार का विचार किया जाता है, उसी का रूपान्तरण उसके कार्यो मे झलकता है। इस रूप मे मनुष्य का बन्धन और उसका मोक्ष उसके स्वय से ही उत्पन्न होता हे। आवश्यकता हे व्यक्ति अपनी आत्मा को सम्यक् ज्ञान से अनुरजित बनाकर मन के सहारे आत्माभिमुखी गति करे।

(4) भाषा—मनुष्य के कार्यो का विचार आत्मा द्वारा मूल मन मे पैदा होता है तो उनका उच्चार भाषा के माध्यम से बाहर फूटता है। विचार का प्रहार दूसरे के अनुभव मे उतने वेग से नही आता, जितना भाषा का प्रहार आता है। कहा जाता है कि कटु वचन तलवार की तेज धार से भी अधिक मारक होता है। तलवार से पडा हुआ घाव तो फिर भी समय गुजरने पर भर जाता है, मगर वचन का घाव बडी मुश्किल से ही भरता है। अत भाषा का विवेक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण माना गया है।

(5) मृत्यु—जीवन मे सतत जागृति के लिये मृत्यु का स्वरूप जान लेना परमावश्यक है। इस ससार में अपनी विकारपूर्ण कामनाओ को पूरी कर लेने की धुन मे मनुष्य अपनी आयु के अन्तिम छोर तक भी इस बेपरवाही से भागदौड करता है जैसे उसको इस ससार से कभी विदा ही नही होना ही—मरना ही नहीं है वह सरजाम सौ बरस के करता है जबकि एक पल का भी पता नहीं होता कि वह किस पल यहाँ इस जीवन से उठ जायगा। मृत्यु को सदा ध्यान मे रखते हुए मनुष्य विषय–कषायो से दूर हटे तथा सयम साधना मे प्रवृत्त रहे—यह है मृत्यु के स्वरूप ज्ञान का एक पहलू। दूसरा पहलू यह होगा कि वह मृत्यु के ही सदर्भ से आत्मा की अमरता का ज्ञान करे। मृत्यु एक जीवन और उस जीवन मे प्राप्त शरीर का अन्त करती है, आत्मा के अस्तित्व का नही। जीर्ण वस्त्र त्याग कर जेसे नया वस्त्र धारण किया जाता

हे, वैसे ही यह आत्मा एक जीर्ण शरीर को छोडकर आयुष्य समाप्ति के बाद नया शरीर धारण कर लेती है। मृत्यु के इन दोनो पहलुओ का ज्ञान मनुष्य को सतत आत्म-जागृति तथा अपने अस्तित्व की निरन्तरता का बोध देता हे।

(6) परिवार-मनुष्य गर्भावस्था मे ओर अपने जन्म के साथ अपनी माता से लेकर अपने परिवार जनो के ही प्रथम सम्पर्क मे आता है। यही कारण है कि अति विस्तृत मानव समाज मे परिवार ही एक आधारभूत घटक माना गया है, सासारिक परिस्थितियो के थपेडो मे पडने के बाद मनुष्य तथा उसके परिवार जनो का पारस्परिक व्यवहार भी शुभता और अशुभता के रगो मे से होकर गुजरता है। इसमे जितना सद् विवेक सब मे होता है। उतने ही परिवार मे शुभ रग खिलते हैं और पारिवारिक आत्मीयता से जुडे हुए होने पर भी परिवार के सदस्य यदि स्वार्थ ओर कलह मे डूब जाते हैं तो अशुभता के बदरग भी साफ नजर मे आ जाते हैं। यह परिवार का एक स्वरूप हे किन्तु हमारी विकसित सस्कृति इसका दूसरा स्वरूप भी बताती है कि सारी वसुधा ही हमारा परिवार है अर्थात् सम्पूर्ण ससार के समस्त जीवो का परिवार ही हमारा परिवार है। यह आत्मा अनादिकाल से इस ससार मे भव भ्रमण कर रही है ओर इस ससार का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचा है जो इस आत्मा के जीवन सम्पर्क मे न आया हो अथवा ऐसा कोई जीव भी नहीं होगा जिस के साथ किसी न किसी जन्म मे इस आत्मा का सम्बन्ध न रहा हो अत जन्म जन्मो का परिवार यह समूचा ससार है। वर्तमान परिवार तो मात्र इसी जन्म का परिवार है। अत विशाल परिवार के प्रति मनुष्य को कर्त्तव्यनिष्ठ होना चाहिये।

(7) मित्र-शत्रु-सामान्य परिभाषा के अनुसार जो सहायता करे वह मित्र और जो विरोध करे वह शत्रु कहलाता है। यह स्थूल परिभाषा हे जबकि शत्रु-मित्र की सूक्ष्मता मनुष्य के अन्तर्मन की भावनाओ से सम्बद्ध रहती है। मैत्री की मूलाधार भावना होती है-सदाशयता ओर शत्रुत्व की स्वार्थ मूलक विद्वेषात्मक भावना। इस दृष्टि से शत्रु या मित्र दूसरा व्यक्ति नहीं होता बल्कि अमुक प्रकार की भावना से जुडने के कारण शत्रुत्व या मित्रत्व उसमे आता हे। अत सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो व्यक्ति नही, अच्छी भावनाए ही असल मे मित्र और बुरी भावनाए ही शत्रु होती हैं। अत बुरी भावनाओ को परास्त करे तथा अच्छी भावनाओ को जीवन मे स्थान दे। तब शत्रु कोई नही रहेगा ओर ससार के समस्त के समस्त जीव मित्र महसूस होगे। जो बुरी भावनाओ के समस्त शत्रुओ को जीत लेता है, वही तो अरिहत कहलाता है। अरिहत बनना ही तो

भव्य आत्मा का साध्य हे अत मित्र—शत्रु भेद को सम्यक् रीति से समझ लेना उसके लिये अनिवार्य है।

(8) सबल—दुर्बल—यह भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने योग्य विषय है कि बल किसे कहते हें ओर वह कहाँ रहता हे ? बिना यथार्थ तत्त्व ज्ञान के मनुष्य झट से कह सकता है कि बल शरीर का होता हे, धन का होता है, सत्ता और पद का होता हे, परिवार या कुल का होता है अथवा राज्य और सेना का होता है किन्तु यह उसकी स्थूल विचारणा होती है। वह जब अपनी आत्मा को बली बना लेता है ओर आत्म बल की शक्ति का अनुभव करता है तब उसके सामने ये सारे बल तुच्छ हो जाते हैं। वह इनमे से या ऐसे किसी बल से भयभीत नही होता। अत प्रमुख होता है आत्मबल ओर इस बल से जो सयुक्त है वह सबल तथा इस बल से हीन दुर्बल होगा। अन्य बलो से सयुक्त होने पर मनुष्य क्रूर बनता है किन्तु आत्म बल से सबल बनने पर वह दया का सागर हो जाता है।

(9) धनी—निर्धन—इसी प्रकार आत्म—जागरण ही सबसे बडा धन होता हे और आत्म जागृत ही धनी तथा आत्म मूर्छित ही निर्धन होता है। अत आत्मा का स्वरूप दर्शन ही अतुलनीय धन कहा गया हे।

(10) भोजन—जीवन आत्मा एव शरीर के सयोग से बनता है तथा जीवन चलाने के लिये भोजन अनिवार्य होता हे। भोजन शरीर के लिये भी चाहिये और आत्मा के लिये भी चाहिये। शरीर का भोजन इस रूप मे सयत और सन्तुलित हो कि वह धर्माराधना मे कार्य रत बने। ऐसा कार्योद्दीपक नहीं कि वह उन्मार्ग पर इन्द्रिय सुख मे भटकता फिरे। जब शरीर को सही भोजन दिया जाता है तब आत्मा को भी उस का सही भोजन मिलता है और यह भोजन होता है त्रिविध योग व्यापार का सयम एव ज्ञानार्जन। इस प्रकार का भोजन जीवन को स्वस्थ और सुखद बनाता है।

(11) ओषधि—भोजन के समान ही ओषधि (दवा) का स्वरूप भी समझना चाहिये। ओषधि शरीर के स्वास्थ्य को बनाये रखने वाली तो भाव रूप औषधि आत्मा की स्वस्थता को बढाने वाली होनी चाहिये।

(12) स्थावर—त्रस चलने फिरने वाले जीवो की जानकारी तो सामान्य रूप से हो जाती हे किन्तु स्थावर जीवो (न चलने फिरने लायक) की जानकारी इस कारण ज्यादा जरूरी हे कि उनकी रक्षा के प्रति मनुष्य की सावधानी रहे और उसकी दया उन तक विस्तृत बने।

(13) पशु–पक्षी–मनुष्य चूकि अति विकसित शक्तिया का धनी होता है अत उसे अबोले पशुपक्षियो के प्रति भी दयावान् होना चाहिये।

इन ज्ञेय तत्त्वो के सम्पर्क से ऐसे तत्त्वो का प्रकटीकरण होता है जिन्हे ग्रहण न करने या ग्रहण करने की अवधारणा बनानी चाहिये। पहले इस दृष्टि से हेय तत्त्वों का मुख्य विवरण दिया जा रहा है–

(1) काम–विषयेच्छा और इन्द्रिय–भोग सासारिकता की जडे हैं। काम लिप्तता आत्मा को विकारी बनाती है क्योकि काम से ही क्रोध व अन्य कषायो की उत्पत्ति होती है अत काम का त्याग मूल त्याग बन जाता है जिसकी नीव पर सम्पूर्ण त्याग का भव्य प्रासाद निर्मित होता है।

(2) क्रोध–क्रोध को क्रूर कर्मी चाडाल कहा गया है जो स्व–पर दाहक होता है। यह ऐसा दुर्गुण है जो खुद को पहले दु खी बनाता है और फिर दूसरो को भी दु खी करता हैं। क्रोध कषाय का मूल होता हे जिसे उखाडने पर अन्य कषायो को समाप्त करना सरल हो जाता है।

(3) मान–आप्तवचन हे कि जो क्रोध को देख लेता है, वह मान को भी देख लेता है इस रूप मे ठीक मान से ही अधिकाशत क्रोध की उत्पति होती है। मनुष्य को अपने मान की अवहेलना सहन नहीं होती और वह तुरन्त कुपित हो उठता है। इस कारण मनुष्य को मान की कठोरता का त्याग करके विनम्रता धारण करनी चाहिये।

(4) माया–ससार के दो बीज माने गये हैं–राग और द्वेष। मनोज्ञ वस्तु पर राग और अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेष। द्वेष से पैदा होता है क्रोध और मान तथा राग से उपजने वाली कषाय होती है माया और लोभ। माया का मतलब होता है कपटाई और धूर्तता। मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति दूसरो को ठगकर करना चाहता है और उसका यह मायावी आचरण अति निकृष्ट होता है जिस का त्याग किया जाना चाहिये।

(5) लोभ–लोभ को पाप का मूल बताया गया है क्योकि लोभ से लाभ कमाने के पागल पन में किसी कृत्य–अकृत्य का ध्यान नही रहता और लोभ से लाभ एव लोभ का कुटिल चक्र चलता रहता है। इस चक्र को तोडने से ही कषाय का चक्र टूट सकता है।

(6) मोह–आत्म स्वरूप पर जिस कर्म का बधन रूप सर्वाधिक दुष्प्रभाव होता है, वह मोह कर्म ही होता है। मोह मे पतित होने वाली आत्मा का विवेक समाप्त हो जाता है तथा वह अनियन्त्रित मन तथा इन्द्रियो के

कठिन जाल मे उलझ कर अपने शुद्ध स्वरूप को क्षत विक्षत बना लेती हे। अत मोह को छोडना सबसे ज्यादा कठिन भी हे तो उतना ही जरूरी भी।

(7) अज्ञान--काम भोगो और कषायो मे आत्मा इसलिये भटकती है कि वह, अज्ञानग्रस्त होती है। अज्ञान के अधेरे मे वह देखना भी चाहे तो उसे सन्मार्ग दिखाई नहीं पडता है और अज्ञान युक्त धर्म क्रिया का भी इस कारण कोई महत्त्व नही होता अत अज्ञान निवारण--यह आत्मा का पहला पुरुषार्थ होना चाहिये।

(8) पाप--अज्ञान, विषय, कषाय एव प्रमाद से पैदा होने वाली मनुष्य की समस्त वृत्तियॉ तथा प्रवृत्तियॉ पाप की परिभाषा मे समाविष्ट होती है। अठारह प्रकार के पापो का जब आत्मा सेवन करती है तो वह अशुभ कर्मो का बध करती हुई अपने स्वरूप को अति विकृत बना लेती है तथा दीर्घकालीन दुर्भाग्य को निमत्रित करती है। अत पाप पूर्ण वृत्ति और प्रवृत्ति का त्याग करते हुए आगे बढना चाहिये।

(9) तृष्णा--यह एकदम ठीक उक्ति है कि मनुष्य--जीवन जर्जरित हो जाता है किन्तु उसकी तृष्णा जीर्ण नही बनती हे। ऐसा लालसामय अधा रूप होता है तृष्णा का जिसके जाल मे फस कर मनुष्य मकडी की तरह छटपटाता है किन्तु आसानी से छूट नहीं पाता हे। तृष्णा प्राप्त की नही, अप्राप्त की होती है ओर अप्राप्त की कोई सीमा नही होती, तृष्णा का भी अन्त नही आता। इसीलिये वेतरणी नदी के समान इस तृष्णा का त्याग करना ही श्रेयस्कर कहा गया है।

(10) बाल मरण--इसे भी एक हेय तत्त्व माना गया है जिसका जीवन सम्यक् सार पूर्ण रहा हो तो यह और भी अधिक आवश्यक है कि उसका मरण अति सारपूर्ण बने, क्योकि मरण काल की आत्म जागृति विपुल रूप से सुफल दायक होती है। सारपूर्ण जीवन के अन्त मे बाल (अज्ञान) मरण हो तो वह अर्जित सार भी कई बार असार बन जाता है। किन्तु इसके विपरीत यदि असारपूर्ण जीवन के अन्त में भी मरण बाल मरण न होकर पडित मरण हो जाय तो असार जीवन भी सारपूर्ण बन सकता है। यह आपेक्षिक दृष्टि कोण है अत याल मरण की दुरावस्था से बचा जाना चाहिये।

(11) पर स्त्री गमन--परनारी को पैनी छूरी कहा है जो अग अग को छेद डालती है। इस दुर्गुण से मनुष्य स्वय के चरित्र को बिगाडता है तो समाज के चरित्र को भी कलकित बनाता है। दूसरे, वह इस भव ओर पर भव दोनो को बिगाडता हे, इस कारण उसे इस दुर्गुण से दूर ही रहना चाहिये।

(12) राग द्वेष—ससार के इन बीजो की उर्वरा शक्ति को कुचल डालने पर ही सासारिकता समाप्ति की जा सकती है। द्वेष को कुचलना अपेक्षाकृत आसान कहा गया हे जबकि राग को कुचल डालना बहुत कठिन । इसी कारण द्वेष के बाद राग को भी समाप्त कर देने वाली महान् आत्माओ को वीतराग कहा जाता है। राग के सम्पूर्ण क्षय हो जाने पर ससार भ्रमण समाप्त हो जाता है तथा निर्वाण प्राप्त हो जाता है।

इन हेय तत्त्वो को जानकर छोड देना चाहिये तथा उन तत्त्वो को ग्रहण कर लेना चाहिये जिन्हे उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य बताया गया हे। ये उपादेय तत्त्व निम्नानुसार कहे गये हैं—

(1) धर्म—आत्मा का मूल स्वभाव ही उसका धर्म कहलाता है। अहिसा, सयम और तप मय जो धर्म होता है, वही सर्वोत्कृष्ट मगल कहलाता है। धर्म एक होता है अनेक नही। जो अनेक होते हैं, वे मत होते हैं और विवाद के मूल होते हैं। अपने धर्म को आत्मा तभी पहिचान पाती है जब वह अधर्ममय विषय कषाय का सेवन करना घटा दे ओर रोक दे। धर्म ही सबसे महान् शरण और त्राण होता है तथा धार्मिक क्रियाओ को करते हुए अन्तर्हदय का आनन्द फूटता हुआ चला जाता है। सच पूछे तो इस दुर्लभ मानव तन का मूल अनुष्ठान ही धर्माचरण माना गया हे। धर्म के चार द्वारों—क्षमा, सरलता, नम्रता व सन्तोष मे जो अपनी आत्मा को प्रविष्ठ कराता रहता है वह जीवन मे चाहे कितनी ही कठिनाइयॉ क्यो नहीं आवे, सदा सत्य और नीति पर अडिग रहता है। धर्मज्ञ का मन, वचन ओर कर्म सदा सरल होता है और वह धर्म पर सुदृढ रहकर वीर बन जाता है।

(2) अहिसा—'जीओ और जीने दो' का सन्देश देने वाली अहिसा को परम धर्म कहा गया है क्योकि अहिसा के आचरण से व्यक्ति का जीवन सशुद्ध बनता है तो सामाजिक जीवन मे पारस्परिक सहानुभूति एव सहयोग की धारा प्रवाहित होती हे। अहिसा का निषेध रूप भी बहुत सूक्ष्म होता हे तो उसका विधि रूप भी। प्रमत्त योग से प्राणी के दस प्राणों मे से किसी भी प्राण को कष्टित करना हिसा है तथा उस हिसा से बचना अहिसा का निषेध रूप होता हे। कोरे वध से ही हिसा का आचरण नहीं होता, बल्कि प्राणी की किसी भी इन्द्रिय, मन, वचन, आदि को कष्टित करना भी हिसा रूप ही होता हे अत अहिसा का निषेध रूप भी बडा व्यापक होता है ओर उससे भी अधिक व्यापक होता हे उस का विधि रूप— जिसे रक्षा, दया, अनुकम्पा आदि नाम दिये गये हें। ससार के समस्त जीवो के प्रति रक्षा एव अनुकम्पा का भाव

रखना तथा उस रूप मे अहिसा का आचरण करना–यह समता का उत्कृष्ट स्वरूप होता है।

(3) सत्य–सत्य जीवन का साद्य है या यो कहे स्वय ईश्वर है। सम्यक् विचार–समन्वय की प्रक्रिया से गुजर कर ही सत्याश को पहिचाना जा सकता हे तथा सबके विचारो के प्रति आदर भाव रखकर व सबकी सुनकर सत्याशो को एकत्रित करके पूर्ण सत्य के दर्शन किये जा सकते हें। सत्य मन, वाणी और कार्य मे समा जाना चाहिये। तथा उसे हितकारी और प्रियकारी होना चाहिये। असत्याचरण मनुष्य को अप्रतिष्ठित भी बनाता है तो अविश्वसनीय भी। असत्य के साथ जब कपटाचार जुड जाता है तो वह अत्यन्त घातक रूप ले लेता हे। बोले गये शब्द तीर के समान होते हें जो कभी वापस लौटकर नहीं आते अत उन्हे तौल–तोल कर बोलना चाहिये ताकि वे' सत्य भी हो एव प्रियकारी और मधुर भी। जिसकी कथनी ओर करनी मे जब सत्य समा जाता हे तो वह सत्य के साक्षात्कार के निकट पहुचने लगता है। सत्याचरण व्यक्ति को निर्भय, निर्लोभी, निर्विवाद एव निर्मल बना देता है।

(4) अस्तेय–जो वस्तु प्राप्त नही है या नही दी गई हे–ऐसी वस्तु को हस्तगत करना चौर्य कर्म है। चोरी मे ठगाई ओर सीनाजोरी शामिल हो जाती हे। जो लाभ श्रम के बल पर होता है, उसे जब पूजी के बल पर हडप लिया जाता हे ता वह लाभाश भी चोरी ही कहा जायगा। अत व्यक्ति की अर्जनशैली ही नही बल्कि समाज की आर्थिक नीति भी ऐसी होनी चाहिए जिसमे शोषण या चोरी की गुजाइश नहीं हो। अस्तेय का एक अर्थ यही निकलता हे सविभाग–अपने अर्जन को यथायोग्य यथा स्थान समान रूप से सबमे बाटो। इसका व्यापक अर्थ यह होगा कि समाज की अर्थ नीति का ही इस तरह ढाले कि सत्ता ओर सम्पत्ति का एक या कुछ हाथो मे सचय न हो सके तथा सविभाग का सिद्धान्त ऐसी व्यवस्था मे स्वय ही साकार रूप ग्रहण कर ले।

(5) अपरिग्रह–अस्तेय व्रत की सम्यक् आराधना मे अपरिग्रह व्रत की आराधना भी हो जाती हे। मनुष्य स्वय व्रत ले कि वह सत्ता और सम्पत्ति का सचय नही करेगा तथा परिग्रह प्राप्ति के लिये मूर्छित नही बनेगा। वह परिग्रह को अपनी आवश्यकता के अनुसार ही रखेगा तथा उपभोग–परिभोग की वस्तुओ की मर्यादा भी ग्रहण करेगा। अपरिग्रह व्रत के प्रति निष्ठा पहले भाव रूप मे जागनी चाहिये ताकि मूर्छा के अभाव मे उसका द्रव्य रूप स्वत ही सध जायगा। अपरिग्रही निर्ग्रथ हो जाता है।

(6) सम्यक दर्शन—दर्शन का अर्थ होता है देखना अत सम्यक् रीति से देखने का नाम सम्यक दर्शन है। दर्शन आस्था का आधार होता है अत सम्यक् आस्था के साथ जो ज्ञानार्जन किया जाता है, वही सम्यक् ज्ञान का रूप लेता है। सम्यक् दर्शन से समभाव उमडता हे, समदृष्टि बनती है तथा अन्ततोगत्वा जीवन के सम्पूर्ण आचरण मे समता का समावेश हो जाता है। दर्शन सम्पन्नता की पृष्ठभूमि पर ही ज्ञान की ज्योति जलती है तथा वही दर्शन परिपूर्ण बन कर क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप धारण करता है सम्यक् दर्शन के बिना आत्मा का पराक्रम शुद्ध नही बन सकता है। इसी कारण सम्यक् दर्शन को मोक्ष का प्रथम सोपान कहा गया है जिस पर चढ कर आत्मा आगे के सम्यक् ज्ञान एव सम्यक् चरित्र के सोपानो पर आरूढ होती है।

(7) सम्यक् ज्ञान—सम्यक् आस्था युक्त ज्ञान सदा आचरण की प्रेरणा देता है। इसीलिये ज्ञान ओर क्रिया के सफल सयोग से ही मोक्ष का द्वार खुलता हे। सम्यक् आस्था के साथ सम्यक् ज्ञान की प्राप्त सरल बनती है। ज्ञानी आत्मा—यथा स्थान स्व—पर कल्याण को ही अपना परम उद्देश्य मानती है तथा सभी प्रकार की ऊची नीची परिस्थितियो मे समभाव रखने को उच्च आदर्श। ज्ञान से ही वस्तु का सत्य स्वरूप जाना जाता है तथा यथा दृष्टि से देखने का अभ्यास बनता है। सबके सब भावो को जानना ज्ञान का श्रेष्ठ कार्य कहा गया है क्योकि उस से अहिसामय आचरण ढलता हे ओर चारित्र सहित ज्ञान जब परमोत्कृष्ट हो जाता है तो वह केवल ज्ञान होकर सम्पूर्ण लोकालोक को हस्तामलकवत् देखता है। ज्ञानी सदा सुखी रहता है और अज्ञानी सदा दु खी। अत स्वाध्याय में निरत रहकर सदा ज्ञानार्जन हेतु सचेष्ट रहना चाहिये।

(8) सम्यक् चरित्र—आस्था भी हो ओर ज्ञान भी, लेकिन यदि ये दोनो गुण आचरण मे नहीं उतरे तो वे पूर्ण फल प्रदायी नहीं होती है। आचरण ऐसी कसौटी होती है जिस पर किसी की आस्था अथवा ज्ञान—गभीरता का मूल्याकन किया जा सकता है। मोक्ष भी ज्ञान और क्रिया दोनो के सयोगी पुरुषार्थ से ही हो सकता है।

(9) श्रद्धा—धर्म सुन ले, समझ ले किन्तु उस पर यदि श्रद्धा—विश्वास न करे तो उस आत्मा का कभी भी उद्धार समव नहीं हे क्योकि सशयात्मा, विनष्ट हो जाती है जो अपनी श्रद्धा को सम्यक् बना लेता है, वह अपने मार्ग पर कहीं रुकता नही है क्योकि उसके मार्ग पर हमेशा उसके श्रद्धा पुरुष का प्रकाश छाया हुआ रहता है। ज्ञान दुर्लभ, तब श्रद्धा कठिन और उससे भी

कठिन होता हे पुरुपार्थ–किन्तु यदि ये तीनो मिल जाय तो आत्म विकास मे विलम्ब नही लगता।

(10) आत्मा–आत्मा अपने मूल गुणो के अनुसार सर्वशक्तिमान् होती है किन्तु उसकी यह शक्ति कर्म पुद्गलो से आच्छादित होकर धूमिल बनी हुई रहती हे अत कर्मो के सवर तथा निर्जरा की प्रक्रिया द्वारा जब कर्मावरण समाप्त कर दिये जाते हैं तब यही बद्ध आत्मा बुद्ध और सिद्ध बन जाती है। ससार रूपी महासागर मे यह आत्मा गोते खा रही है लेकिन यदि यह अपने शरीर को नौका बनाकर स्वय कुशल नाविक हो जाय तो खेवापार हो सकता है। आत्मा स्वय की स्वय ही ज्ञाता ओर दृष्टा होती है तथा स्वय ही कर्त्ता ओर भोक्ता होकर अपने स्वरूप के प्रति जागृत हो जाय तो उसके समान उसका अन्य कोई मित्र नहीं होता और जब तक वह विषय–कषायो के दल–दल मे फसी रहती है तब तक वह अपनी ही शत्रु बनी रहती है। अत आत्मा जब स्वय को ही जीतती हे तब वह अपने आपको कर्म मुक्त कर लेती है।

(11) मोक्ष–आत्मा का उसके मूल स्वरूप मे पूर्णत कर्मावरणो से अनावृत्त हो जाने का नाम ही मोक्ष है। आत्मा पौद्गलिक जड के साथ सयुक्त होने के कारण ही ससार मे ससरण करती हे और जब आसक्ति मूलक इस सयोग को सर्वथा समाप्त कर दिया जाता हे तब उस आत्मा का मोक्ष हो जाता है। तब आत्मा सम्पूर्णत स्व स्वरूप मे स्थित होकर केवल ज्ञान स्वरूप हो जाती है। रत्न त्रय की साधना या ज्ञान क्रिया की आराधना ही आत्मा को मोक्षगामी बनाती है। ओर यह साधना व आराधना समता भाव की सम्पूर्ण अवाप्ति से ही सफल बनती है। जन्म मरण के बधन से मुक्त होकर आत्मा अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख ओर अनन्त वीर्य मे रमण करती है। सिद्धात्मा ज्योति मे ज्योति स्वरूप एकीभूत होकर सदा काल के लिये आनन्दमय बनी रहती हे। मोक्ष पद ही आत्म–विकास की इस महायात्रा का चरम गतव्य होता ह।

(12) तप–तप का अर्थ होता है तपना ओर तपने से मैल क्षय होता हे व निर्मलता आती है। यह आत्मा ससार के विषय–कषायो मे रमती हुई कर्मो का मैल अपने स्वरूप पर लेपती जाती हे जिससे वह मलयुक्त बनी रहती हे। जैसे मलयुक्त स्वर्ण को अग्नि मे तपाने से वह शुद्ध बनता हे, उसी प्रकार आत्मा जब अपने आपको कठिन तपश्चरण की आग मे तपाती है तब उसका कर्म रूपी मैल नष्ट होता जाता हे तथा उसका निर्मल स्वरूप प्रकाशित होता

जाता है। तप कर्मो की निर्जरा करता है और आत्मा को मुक्ति की ओर ले जाता है। तप की आराधना देह–मोह को नष्ट करती है और आत्मानन्द को प्रकट करती हे। आत्मा के विकास मे तपाचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(13) सयम–तप करना यदि आग मे तपना है तो सयम का अर्थ आत्म–मल का प्रक्षालन करना है। प्रक्षालन शान्त प्रक्रिया होती है तो तप एक कठिन प्रक्रिया। सयम का अर्थ है इच्छाओ का सशोधन ज्यो–ज्यो इच्छाओ के सशोधन का अभ्यास सयम के माध्यम से बढता जाता है, त्यो–त्यो विषय–कषायो का आवेग, राग द्वेष की तीव्रता तथा प्रमाद की उन्मत्तता घटती जाती है और जीवन के सभी क्रिया कलाप आत्माभिमुखी होने लगते हैं। एक बार समता के साथ दृढतापूर्वक जब यह आत्मा अपने स्वरूप को समझ लेती है तो उसका पुरुषार्थ सयम के मार्ग पर सजग एव सक्रिय बन जाता है। इसीलिये कहा है कि सयम पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान होता है, क्योकि पल पल पर भटक जाने वाले मन तथा इन्द्रियो को सयमित करना होता है। सयम की साधना आत्मा की निर्मलता एव तेजस्विता को प्रखर बनाती है।

(14) अभयवृत्ति–जो मनुष्य अपने साथियो तथा अन्य प्राणियो के मन मे अपनी शक्तियो के दुष्प्रयोग से भय उपजाता है, वह भयभीत भी रहता है, इस कारण भय को बहुत बडा दुर्गुण माना गया है। भय के भाव को जीतना ही अभय व्रत है। इसका लक्षण है कि सबको अभय बनाओ अपने समभाव, अपनी समदृष्टि तथा अपने समतामय आचरण से और स्वय भी अभय बन जाओ। अपने हृदय का समस्त स्नेह जो ससार के समस्त जीवो पर उडेल देता हे और उन्हे सुखी बनाने के सच्चे पुरुषार्थ में जुट जाता है, वह अभय और निर्भय बन जाता है। जो आत्म बल को अभिवृद्ध बना लेता है, उसकी अभयता स्थायी और सुदृढ बन जाती है। आत्म बल के सिवाय अन्य सभी प्रकार के बल तुच्छ और भय प्रदायक होते हैं। आत्म बली ही अभय हो सकता है तो वही सभी को अभय दान भी दे सकता है।

(15) विनय–विनय, रूप तप और सद्‌गुण को धर्म का मूल कहा गया है। विनय गुण को अपनाये बिना धार्मिकता का आविर्भाव ही सभव नहीं बनता है। विनय मूल मे होना चाहिये, तभी सभी आत्म–गुणो का विकास हो सकता है। अपने अभिमान को छोडने पर ही विनय प्रकट होता है। एक ओर अभिमान क्रोध आदि अन्य कषायो को उत्तेजित बनाता हे तो दूसरी ओर अपने मद पोषण के लिये अपार सत्ता और सम्पत्ति का सचय करने मे ऊधा बन

जाता है। वहीं विनय गुण उस के आत्मिक अधःपतन की दिशा को ही बदल देता हे ओर धर्म रूपी वृक्ष को हरा भरा बना देता हे। विनय धर्म है, तप हे और सम्पूर्ण आत्म–विकास का मूल है। ज्ञान विनय, दर्शन विनय, आदि सात प्रकार के विनय से आत्म स्वरूप मे धृति, मृदुता और कान्ति का सचार हो जाता हे।

(16) वैराग्य–ससार मे राग भाव का होना ही आत्मा की कलुषितता का मुख्य कारण है। द्वेष तो राग की ही प्रतिक्रिया का रूप होता हे। अत राग से विरत होने की भावना का नाम ही वैराग्य है और यही वैराग्य जब अपनी सम्पूर्ण उत्कृष्टता के रूप मे प्रतिफलित होता है तब वीतरागता की प्राप्ति समव बन जाती है। जब आत्म–चिन्तन के क्षणो मे सासारिकता की दुरावस्था का भान होता है, सासारिक सम्बन्धो एव कामनाओ की तुच्छता अनुभव मे आती है तथा विषय–कषाय जन्य कष्टो का सामना करना पडता है, तब वैराग्य की भावना उद्‌भूत होती है। वेराग्य की धारा मे सासारिकता की हेयता स्पष्ट हो जाती हे। तब विरागी आत्मा ससार त्याग करके सयम के पुरुषार्थ मे सयोजित हो जाती है। एकत्व आदि भावनाए वैराग्य को प्रबल ओर प्रखर बनाती रहती है तथा आतमा को आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रतिष्ठित बनाये रखती हे। आत्मा को धर्म की चिर शरण मे ले जाने वाला वेराग्य होता है।

(17) पुण्य–पुण्य यद्यपि कर्म बधन है, फिर भी अपनी शुमता के कारण आत्म–विकास मे एक सहयोगी की भूमिका निभाता है तथा ससारी आत्माओ को शुम कार्यो मे प्रवृत्ति करने की सफल प्रेरणा देता रहता है। पुण्य को उस जहाज की उपमा दी गई है जिसमे सारी सुविधाओ के साथ बैठकर सरलतापूर्वक समुद्र पार किया जाता हे। यह दूसरी बात है कि उस पार पहुचने पर जहाज को भी छोड देना पडता है। ससार रूपी महासमुद्र को सरलता से पार कराने मे पुण्य कर्म ऐसे ही जहाज का रूप वन कर आत्मा को उत्थान के चरम बिदु तक पहुचाता है। पुण्य कर्म के उदय मे आने पर जिस प्रचुर मात्रा मे सुख सुविधाए प्राप्त होती है, उनके बीच मे बैठकर आत्मा अगर मूर्छित हो जाय तो वह पाप पक मे डूब जाती है किन्तु उन्हीं सुविधाओ को यदि वह अपने उत्थान मार्ग के अनुकूल बना लेती है तो वह अपने गतव्य तक भी पहुच सकती है।

(18) सत्सग–एक कहावत हे कि काले के पास गोरा बैठ जाय तो वह उसका वर्ण तो नहीं ले सकेगा मगर उसके 'लक्खण' जरूर ले लेगा।

इसका अर्थ है कि सगति कर जीवन पर भारी प्रभाव पडता हे। जैसी सगति मे मनुष्य रहता है, वेसे ही गुण वह अपना लेता है। इस दृष्टि से प्रकृति के इस तथ्य को ही ल लीजिये कि स्वाति नक्षत्र मे आकाश से बरसी बूद सीप के मुह मे पहुच कर अनमोल मोती बन जाती है तो वही बूद सर्प क मुह मे गिर कर मारक विष का रूप ले लेती हैं। फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है ? इसलिये सत्सग की महिमा गाई गई हे। दुर्जनो का ससर्ग मनुष्य के मन को दुर्गुणो से भर देता है तो सत्पुरुषो के सम्पर्क मे रहकर मनुष्य अपने मन का सताप ही नही मिटाता बल्कि अपने आपको सद्धर्ममय व सद्‌गुण–सम्पन्न भी बना लेता है। स्वल्प सत्सग भी मनुष्य का उसी रूप मे कल्याण करता है जिस रूप मे स्वल्प लवण सम्पूर्ण भोजन को सुस्वादु बना देता है। सत्सग सद्धर्थ का प्रेरक होता है।

(19) क्षमा–क्षमा को वीरो का भूषण बताया है, कायरो का नही। जो स्वय आत्मशक्ति से सम्पन्न होता है, वही दूसरो को क्षमादान दे सकता है। क्रोध और प्रतिशोघ की अग्नि का शमन करके क्षमा रूपी शीतल जल का जो सर्वदा ओर सर्वत्र सिचन करता है, वह स्वय ही महात्मा नही बनता बल्कि जिन्हे क्षमादान देता है, उन्हे भी अपने साथ स्व–पर कल्याण के मार्ग पर अग्रगामी बना देता है। क्षमापना से आत्मा को अत्यन्त आह्लाद का अनुभव होता है और क्षमावान अन्य किसी के अपकार को नहीं, उपकार को ही स्मृति मे रखता है। क्षमा का ही दूसरा नाम सहनशीलता है और सभी तरह के सकटों को जीत लेना एक क्षमावान के ही सामर्थ्य मे होता है, मनुष्य का आभूषण सद्‌गुण है, सद्‌गुणो का आभूषण ज्ञान तो ज्ञान का आभूषण क्षमा धर्म है। एक क्षमावान सर्व जीवो से अपने अपराधो की निश्छल भाव से क्षमा चाहता है और वैसे ही उदार भाव से सभी को क्षमा करता है, क्योकि वह समस्त प्राण, भूत सत्त्व और जीवो को अपने मित्र समझता है, किसी के भी प्रति तनिक भी वैरभाव नहीं रखता है।

(20) अप्रमत्तता–आत्म–विकास के विस्तृत मार्ग को एक वाक्याश में इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि एक समय (काल का सूक्ष्मतम घटक) के लिये भी प्रमाद मत करो। इससे प्रमाद का अति आत्मघातक स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता हे। विषय–कषाय के उग्र आवेश मे रमण करते हुए आत्मा जिस मूर्छा एव उन्मत्तता को प्राप्त होती है, वह दुरवस्था उसके प्रमाद की होती है। प्रमाद के वशीभूत होकर वह हिसा भी करती है और असत्य, चौर्य, कुशील व परिग्रह का सेवन भी करती है। इस प्रकार प्रमाद उसके पतन का

महाद्वार बन जाता है। इसी दृष्टि से अप्रमत्तता को आत्म जागृति का रूपक कहा गया है। उन्माद हटे, तभी तो बुद्धि प्रकट हो सकती है ओर बुद्धि सुबुद्धि बनकर स्व–पर कल्याण के साध्य को साध सकती है। मद्य, निद्रा, विकथा, विषय और कषाय रूप प्रमाद जहा सुषुप्ति का कारण भूत होता हे वहॉ अप्रमत्तता आत्मा को सदा जागृत रखती है और विकास के मार्ग पर सुरक्षा प्रदान करती है।

(21) समभाव—समभाव को समत्व योग कहिये जिसके सद्भाव मे मनुष्य सम्पत्ति और विपत्ति मे, मित्रता ओर शत्रुता मे तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ मे समान भाव रखता है तथा उसी प्रकार सभी छोटे बडे या ऊचे नीचे प्राणियो के प्रति भी अपने सकल व्यवहार मे वह समानता बरतता है। समभाव की यह साधना आत्मदमन, जितेन्द्रिय तथा आचरण समता के कठिन अभ्यास से ही सफल बनती हे। एक समभावी ही सुव्रती हो सकता है ओर सुव्रत से समता की उत्कृष्ट श्रेणियो मे पहुचा जा सकता है। समभाव का अडतालीस मिनिट की सामायिक के रूप मे प्रारभ हुआ प्रशिक्षण सम्पूर्ण जीवन की सामायिक—साधुता मे परिणत हो सकता हे। समभाव ही भीतर बाहर की सारी गाठे खोल कर साधक को निर्ग्रंथ बना देता है। समत्व योगी की अभेद दृष्टि हो जाती हे।

इस प्रकार ज्ञेय, हेय एव उपादेय तत्त्वो का ज्ञान इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देता है कि सबको जानो बुरो को छोडो और अच्छो को अपना लो। किन्तु इसके साथ ही आत्मा में यह चेतना जागनी भी जरूरी है कि उसका अपना मूल स्वभाव क्या है, वह आवृत्त होकर विभाव केसा ढल गया है तथा विभाव मिटाकर स्वभाव को प्रकट करने के सहयोगी तत्त्व कौन कोन से हो सकते हैं ?

आत्म-स्वभाव-विभाग चर्चा

मैं पराक्रमी हू, पुरुषार्थी हू और समझिये कि मैंने ज्ञेय, हेय और उपादेय तत्त्वो का ज्ञान भी कर लिया है। किन्तु उपादेय तत्त्वो का सहयोग मेरी जागृत आत्मा ही ले सकती हे। अत मुझे आत्म स्वरूप का दर्शन करना होगा और यह अनुभव करना होगा कि मेरी आत्मा का मूल स्वभाव क्या हे और वर्तमान मे वह कितने स्व–भाव मे ओर कितने विपरीत भाव (विभाव) मे रमण कर रही हैं ? फिर मुझे अपना पुरुषार्थ जगाना होगा कि मैं अपनी आत्मा को उपादेय तत्त्वो के ज्ञानाचरण के द्वारा विभाव से निकालू ओर स्व–भाव मे अधिकाधिक प्रतिष्ठित करू।

अत सर्वप्रथम में समझू कि आत्मा का मूल स्वभाव क्या होता है ओर उसके विभाव का केसा रूपक बनता है ? आत्म–स्वभाव–विभव की चर्चा से में आत्मा के वास्तविक विकास के मार्ग का सम्यक् प्रकारेण निर्धारण कर सकूगा।

मेरा अनुभव यह है कि स्वभाव चाहे जितना दब जाय, छिप जाय अथवा विस्तृत हो जाय–वह कभी भी सही अपनी झलक दिखाना नहीं छोडता है। मैंने महसूस किया है कि जब मैं कोई ऐसा विचार मन मे लाता हू, ऐसा वचन बोलता हू अथवा ऐसा कार्य करना शुरू करता हू जो अन्तर्मन से मेरी आत्मा नही चाहती–उसके विरुद्ध वह अपनी पहली आवाज जरूर उठाती है। यह दूसरी बात है कि में उस आवाज को अनसुनी कर दू और अवाछित विचार, वचन या कार्य मे प्रवृत्ति करता रहू। यह पहली भीतरी आवाज आत्मा की आवाज होती है। इसी प्रकार ऐसे किसी विचार, वचन या कार्य मे मेरी प्रवृत्ति होती है जो अन्तर्मन से मेरी आत्मा को अच्छा लगता है तो भीतर से एक अनूठे आनन्द की धारा फूटती है जिसका अनुभव ससार मे महसूसे जाने सुख के अनुभव से अलग और अनूठा ही होता है। इस रूप मे 'ना' या 'हॉ' की सकेतक आत्मा की आवाज का अनुभव मुझे ही नही सभी को अवश्य होता होगा। बुरी आदत यही बन जाती है कि अधिकतर लोग आत्मा की आवाज को कुचलते हुए उन्मार्ग पर आगे बढते चले जाते हैं।

आत्मा को क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा–यह समझने–समझाने की अपेक्षा भी स्वानुभूति का विषय अधिक है। समझने–समझाने मे तर्क–कुतर्क उठाये जा सकते हैं और केवल प्रमाणित करने की ही दृष्टि से अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा भी प्रमाणित किया जा सकता है किन्तु जब कोई एकाग्र जागरण के साथ भीतर झाकता और भीतर की आवाज को सुनता है तो सत्य उसके समक्ष प्रकाशित हुए बिना नहीं रहता। यो अच्छे–बुरे की जो लौकिक परिभाषाए अथवा सवेदनाए हैं, वे भी स्वानुभूति का धरातल बन सकती हैं। मैं सोचता हू कि मैंने जब कभी किसी पीडा से कराहते हुए व्यक्ति को देखा होगा तो मेरे हृदय मे करुणा और सहयोग का जो आवेग उठा होगा, उससे मुझे अवश्य ही अनिवर्चनीय आनन्द का अनुभव हुआ है। इसके विपरीत जब कभी मैंने अत्यन्त गुप्त रूप से भी किसी को कष्टित करने का कोई प्रपच रचा होगा तो मेरी आत्मा ने पहले क्षण मे मुझे धिक्कारा ही होगा। उस समय मेरे जागृत भाव रहे होगे तो मेंने अपना हाथ उस प्रपच से पीछे खींच लिया होगा अन्यथा उस आवाज को दबा कर मैं अपने उस कुकृत्य की दिशा मे आगे बढ

गया होऊगा। ऐसी मनोदशा से सभी प्राणी गुजरते हैं किन्तु अन्तर यही रहता हे कि जागृत उस आवाज को सुनते हें, उसका अनुसरण करते हैं तथा आत्मा को बलशाली बनाते रहते हें, अन्यथा मोहग्रस्त उस आवाज को क्या कुचलता हे कि अपने गुण सम्पन्न जीवन को ही कुचलता रहता हे ओर अपने आत्मस्वरूप को अधिकाधिक कलकित बनाता रहता है।

स्वानुभूति से मैं जान लेता हू कि आत्मा का क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा। जो 'अच्छा' अच्छा लगता हे वह उस का स्वभाव होता है और जो अच्छा' भी उसे बुरा लगने लग जाता है अथवा जो 'बुरा' भी उसे अच्छा लगने लग जाता है, वह उसका विभाव हो जाता है। स्वभाव को जहा तक आत्मा स्मृति मे रखती है ओर उसमे स्थिर रहने का प्रयास करती हे, वहा तक उसकी जागृत अवस्था ही समझी जानी चाहिये। इस जागृत अवस्था की न्यूनाधिक कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। जब मेरी आत्मा भीतर से अपनी आवाज उठाती है और वह सामर्थ्यवान होती हे तो अपने मन ओर अपनी इन्द्रियो को वैसा अनिच्छित कार्य करने से रोक देती है। यदि उसका इस प्रकार से रोकना सफल होता रहता हे तो वह स्थायी रूप से अशुभ कार्यो से दूर रह जाती है। किन्तु यदि उसकी नियत्रण शक्ति ढीली होती हे तो वह अपने मन व इन्द्रियो को रोक नहीं पाती है। ऐसी आत्मा अपने ही मन और अपनी ही इन्द्रियो के पीछे घिसटती हुई चलने लगती है। उसकी ऐसी अनियत्रित अवस्था ही उसकी सुप्राप्ति बन जाती है। तब उसका भटकना अपने विभाव मे होता है। वह विभाव उसे कर्म बधनो मे बाधता रहता है और उसे भारी बनाता रहता है। फिर वह उस कर्म भार के कारण नीचे से नीचे गिरती रहती हे और विभाव की सघन स्थिति मे फस जाती हे।

मैं अनुभव करता हू कि आत्मा मूल रूप मे हलकी होती है और जब तक वह हलुकर्मी रहती है तब अपने स्वभाव के ऊपर तेरती रहती है किन्तु कर्मो के भार से जब वह भारी बनने लगती है तो फिर वह डूबने लगती है। विभाव की अतल गहराई में वहा कहा तक नीचे डूबती चली जाती है, वह उसकी प्रमाद अवस्था की सघनता पर निर्भर करता है। यह नियम भी नही है कि जब वह तैरती हे तो तैरती ही रहती है अथवा डूबना शुरू करती हे तो डूबती ही चली जाती है क्योकि आत्मा का यह तैरना और डूबना उसकी भाव-सरणियो पर आधारित होता हे। तैरते रहने की दशा म जब भावनाए विकृत होती है तो वह डूबने लगती हे। डूबते-डूबते भी जिस रूप मे उसकी भावनाओं मे सशोधन होने लगता है तो उस परिमाण मे वह फिर ऊपर उठने

लगती हे। यह तैरना और डूबना इस प्रकार निरन्तर चलता रहता है जो गतियो मे परिलक्षित होता है। जेसे कि यह आत्मा के ऊपर उठ जाने का प्रमाण हे कि मुझे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ। यदि मैं इस उपलब्धि का सदुपयाग करू और अपनी भावनाआ को शुभता क रूप मे परिवर्तित करता हुआ चलू तो मैं अपनी आत्मा को ओर ऊपर उठाता हुआ चल सकता हू—यहा तक कि वह सतह तक पहुच जाय और पूर्ण हलुकर्मी बन जाय। इसके विपरीत में आत्माभिमुखी न रहकर ससार के काम भोगो मे लिप्त होता रहू तो तैरने के प्राप्त स्तर को छोडकर नीचे डूबता चला जाऊगा और यह भी मेरी करणी पर निर्भर करेगा कि मैं कितना नीचे पहुच जाऊ। इस जन्म के बाद उस दृष्टि से मैं आगामी जन्म मे पशु योनि प्राप्त करलू या नरक मे ही पहुच जाऊ। इसी प्रकार तिर्यच या नरक गति मे रहे हुए जीव भी अपनी भावनाओ का यत्किचित परिष्कार करते हुए ऊपर की गतियो मे आ सकते हैं। जब तक ऊपर उठने और नीचे जाने का आत्मा का यह क्रम बना रहता है तब तक उसका ससार मे भव भ्रमण भी बना रहता है—स्वभाव और विभाव मे आवागमन चलता रहता है। कभी स्वभाव मे अधिक स्थिति हो जाती है तो कभी विभाव मे भटकाव बढ जाता हे। जब विभाव के घेरे से पूरी तरह निकल कर आत्मा स्वभाव मे स्थित हो जाती है तभी उसकी विभाव से मुक्ति होती है।

अपने स्वभाव तथा विभाव मे इधर उधर आने जाने की आत्मा की प्रक्रिया को एक दृष्टान्त से समझे। एक लकडी के टुकडे का स्वभाव पानी की सतह पर तैरना होता है। उसे आप पानी मे डालें तो वह पानी की सतह पर तैरने लगेगी। अब उसी लकडी के टुकडे को हल्के टिन की डिबिया मे बद करके पानी मे डाले तो वह कुछ कुछ नीचे डूबने लगेगा और उसी लकडी के टुकडे को मोटे लोहे के डिब्बे मे बद करके पानी मे डाले तो वह कुछ—कुछ नीचे डूबने लगेगा और उसी लकडी के टुकडे को मोटे लोहे के डिब्बे मे बन्द करके पानी में डाले तो वह डूब कर पुन तले तक चला जायगा। इसी तरह उसे तले से उस डिब्बे से निकाल कर खुला छोड दें तो वह ठेठ ऊपर उठ आयगा। कहने का आशय यह है कि उस हल्के लकडी के टुकडे के साथ जितना वचन बधा होगा उसी परिमाण मे वह पानी की गहराई मे नीचे उतरेगा या ऊपर उठेगा। अब उस लकडी के टुकडे का पानी की सतह पर तैरना स्वभाव हे और उसके साथ डिबिया या डिब्बे का बधन उसका विपरीत स्वभाव या विभाव होता है। वह टुकडा स्वभाव के कारण तैरता है और विभाव के कारण डूबता है। आत्मा की तुलना इसी लकडी के टुकडे से कीजिये।

मूल स्वभाव से आत्मा ससार सागर की सतह पर पहुचती हे किन्तु विभाव मे पड कर जितना कर्म–भार अपने साथ बाधती है, उसी परिमाण मे वह डूबती हुई चली जाती हे। जल की गहराई मे भी उसका ऊपर उठना या नीचे उतरना इसी कर्म भार की न्यूनाधिकता के अनुसार चलता रहता है।

स्व-भाव ही धर्म होता है

किसी भी पदार्थ को उसका स्वभाव ही धारण करता है या यो कहे कि अपने अमुक स्वभाव के कारण ही अमुक पदार्थ उस रूप मे जाना जाता हे। जल का स्वभाव शीतल होता है इसी कारण उसे जल कहते हें। अग्नि का स्वभाव जलाने का होता है तो उसे अग्नि कहते हैं। यह सामान्य समझ सबमे होती है। सब समझते हैं कि कही कुछ जल रहा हो तो उस पर पानी डाल दो ताकि शीतलता ऊष्णता को दबा देगी। शीतलता और ऊष्णता को जल और अग्नि का धर्म भी कह दिया जाता है।

जो यह सत्य वीतराग देवो ने उद्घाटित किया और घोषणा की कि वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता है। जल का धर्म शीतलता है ओर अग्नि का धर्म ऊष्णता है, इसी दृष्टि से आत्मा का धर्म क्या होगा–यह उपरोक्त विश्लेषण से सोचना होगा। एक शब्द मे इसका उत्तर बतावे तो आत्मा का धर्म ज्ञाता दृष्टादि भावो के साथ ऊर्ध्वगामिता होगा–ऊपर उठने की अन्तिम ऊचाई तक ऊपर उठ जाना ओर फिर सदा सर्वदा के लिये उस उच्चतम बिन्दु पर स्थित हो जाना। आत्मा का यह ऊर्ध्वगामिता का स्वभाव ही उसका धर्म कहलायेगा।

धर्म के सम्बन्ध मे जो सामान्य समझ है–वह कहा तक सही हे ? सामान्य रूप से धर्म समझा या कहा जाता हे विभिन्न सिद्धान्तो को अथवा विभिन्न महापुरुषो के उपदेशो को। इसी रूप मे धर्म की धारणा ली जाती है कि अमुक महापुरुष ने जो उपदेश दिये, वे उसके नाम से एक धर्म के रूप मे प्रचलित हो गये। इस धारणा के आधार पर ही वैष्णव, इस्लाम या ईसाई आदि धर्म' कहलाते हैं। समय–प्रवाह मे इन्ही धर्मो के दायरो में अलग–अलग गुरुओ के उन्हीं उपदेशो के बारे मे जब अलग–अलग अर्थ विन्यास हुए तो वे इसी धर्म मे अलग–अलग मतो के नाम से जाने जाने लगे। यो कई धर्म ओर एक धर्म मे कई मत आज जाने जाते हें। वस्तुत यह सामान्य समझ इस रूप मे सही नहीं हे। इस समझ के सही नही होने का ही सबूत हे कि विभिन्न धर्मानुयायियो मे पारस्परिक विवाद खडे होते हैं और आज ऐसे विवादो ने जटिल सघर्षो तथा दगो तक का हिसक रूप ले लिया हें। धर्म के नाम पर

भी यदि लडना है तो फिर एक रहन की शिक्षा कोन देगा ? इसलिये धर्म के स्वरूप को सही तरीके से समझने की आज महती आवश्यकता है।

फिर धर्म क्या हे ? वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म होता हे और तदनुसार आत्मा का धर्म समभाव पूर्वक ज्ञाता दृष्टा आदि भावो के साथ ऊर्ध्वगामिता है। मनुष्य का धर्म आत्मा के धर्म मे समाहित हो जाता है क्योकि मनुष्य तन मे भी उसकी आत्मा का निवास होता है। अत मनुष्य का धर्म भी हुआ कि वह अपने स्वभाव की उच्चता पर स्थित हो। उच्चस्थ स्थिति ही उसका धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एक स्थिति या अवस्था का नाम हे, जहा इस विभावग्रस्त आत्मा को पहुचना हे।

अत स्पष्ट तोर पर समझे कि धर्म उस विशुद्धावस्था का नाम है जहा पर आत्मा पूर्ण रूप से अपने स्वभाव मे स्थिर हो जाती है। धर्म प्राप्ति के योग्य उच्चतम अवस्था हे। इस अवस्था को प्राप्त करना आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य है और इस रूप मे यही उसका स्वभाव है एव यही उसका धर्म है। वर्तमान मे आत्मा चूकि उसके स्वभाव मे पूर्णतया रमण नहीं करती है या यो कहे कि वह जितनी विभाव मे प्रगाढ रूप से विस्मृत बनी हुई हे उतनी ही वह अपने स्वभाव से दूर हे और उसी रूप मे अपने धर्म से भी दूर है। अपने स्वाभाविक गुणो को वह जितने अशो मे ग्रहण करती जायगी, उतने ही अशो मे वह अपने धर्म के निकट पहुचती जायगी। किन्तु उसने धर्म को प्राप्त कर लिया है—यह तभी कहा जायगा जब वह अपने विभाव को पूर्णतया समाप्त कर लेगी तथा सम्पूर्णतया अपने स्वभाव मे प्रतिष्ठित हो जायेगी। यही उसकी सिद्धावस्था होगी।

इस दृष्टि से अपने धर्म को प्राप्त कर लेना—यह आत्मा का लक्ष्य है—साध्य है। धर्म ऐसी अवस्था है जिसमे आत्मा को अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित होना है। ससारी आत्माओ को इस रूप मे अपने धर्म को प्राप्त करना है क्योकि वे अपने धर्म या स्वभाव से अभी तक दूर हें। इस प्रकार धर्म साध्य है, साधन नहीं। आत्मा को अपने धर्म को प्राप्त करने के लिये जिन साधनो को समझ कर अपनाने की आवश्यकता होती हे, वे हैं महापुरुषो के उपदेश। इन उपदेशो के आधार पर आत्मा ऐसा पुरुषार्थ कर सकती हे कि वह अपने धर्म के निकट पहुचती चली जावे और एक दिन उसे प्राप्त कर ले।

विभाव मुक्ति अथवा स्वभाव प्राप्ति इस प्रकार आत्मा का धर्म हुआ जो कि उसका साध्य हे। इसी प्रकार जो विविध उपदेश हैं, वे इस साध्य को प्राप्त कराने मे आत्मा के लिये साधन रूप बन सकते हैं। पहली बात यह है

कि आत्मा के सामने अपना साध्य स्पष्ट हो जाना चाहिए। फिर वह अपने विवेक से अपने साध्य के अनुकूल साधनो का चयन करे जिन्हे सामान्यतया विभिन्न धर्मो के रूप मे जाना जाता हे, वे स्वय धर्म नहीं है उन्हे धर्मनीतियो का नाम दिया जा सकता हे जो आत्मा को धर्म तक पहुचाने का दावा करती हैं। इन धर्मनीतियो की परीक्षा इसी कसोटी पर की जा सकती है कि वे किस रूप मे आत्मा को उसके साध्य की ओर प्रगतिशील बनाने की क्षमता रखती हें। एक ईश्वरत्व तक पहुचने के ये भिन्न-भिन्न मार्गो के रूप में जानी जा सकती हैं यदि उनमे आत्म-धर्म प्राप्ति रूप साध्य की स्पष्टता विद्यमान हो।

धर्म और नीति समीक्षा

मन के स्वामी मनुष्य की प्रमुख शक्ति है विचार शक्ति। वह अपनी सस्कारिता, परम्परा या परिस्थितियो के अनुसार विचार करता है और निर्णय लेता है। उन विचारो ओर निर्णयो की वास्तविकता उसकी ज्ञान परिपक्वता पर आधारित होती है। यथार्थ का उसे जितना अधिक बोध होता है उतनी ही उसकी वेचारिकता ओर निर्णयशक्ति वास्तविक बनती हे। सम्यक् ज्ञान और चरित्र के पुष्ट सयोग से विचारो का सम्यक्त्व अभिवृद्ध बनता हे। अत धर्म नीतियो की परख करते समय यह मानदड सामने रखना होगा कि उनके उपदेशको ने अपने जीवन की किस रूप मे उच्चता प्राप्त की अथवा उनके जो दिये हुए उपदेश हमारे सामने हैं, वे आत्मोच्चता की किस स्थिति को प्रतिभासित करते है ? एक छोटी सी वस्तु भी जब क्रय की जाती हे तो क्रेता उसकी अपनी बुद्धि के अनुसार परीक्षा करता है ओर वह वस्तु उसकी परीक्षा मे खरी उतरती है तभी उसका वह क्रय करता हे। तो आत्मोत्थान जैसे महान् साध्य के लिये उपयुक्त साधनो का चयन तो एक महत्त्वपूर्ण दायित्व हे क्योकि चयन मे भ्रम या भूल रह जाय तो आत्म विकास की गति ही विगति बन जाती है तथा प्रगति का स्थान पतन ले लेता हे। साधनो की परीक्षा बुद्धि-यह आत्मा की अपनी विशिष्टता होनी चाहिये। इसी विशिष्टता को आधार बना कर आत्मा सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्मनीति का चयन कर सकती हे।

प्रधानत धर्म रूप साध्य अपनी दृष्टि मे स्पष्ट हो तो तदनुकूल साधनो का याने कि नीतियो का चयन अधिक कठिन नहीं रहता हे। कई प्रकार की नीतियो मे धर्म नीति भी एक प्रकार होती हे किन्तु वह विशिष्ट प्रकार रूप होती है। अन्य नीतियो की बात बाद मे करे, पहले धर्मनीतियों के झडो के नीचे पलने वाले मत-मतान्तरो की थोडी-सी चर्चा करले।

मैं यह मानकर ही चलता हू कि प्रत्येक विवेकपूर्ण विचार मे कुछ न कुछ सत्याश होता हे और इसी दृष्टि से प्रत्येक मत मे कही न कही कुछ न कुछ सत्याश होने की कल्पना करता हू, अत ऐसे प्रत्येक विचार का समादर करता हू, और उसमे यदि कोई सत्याश है तो उसे खोजने की चेष्टा करता हू। किन्तु यह भी हो सकता है कि कई मत मात्र हठ, दुराग्रह या अपने मत को थोपने की कुचेष्टा से भी प्रचलित किये जाते हैं, ताकि ऐसे मत को थोपने वाले का सच्चा झूठा वर्चस्व बना रहे। ऐसे मतो की हठवादिता से ही पारस्परिक विवाद बढते हैं। कई बार प्रारम्भ मे कोई विचार सदाशयी होता है किन्तु उसकी पकड बाद मे अंधेपन से करादी जाती है जिससे भी कलहपूर्ण विवाद बढते हैं। विशेष रूप से मत मतान्तर एकान्तवादिता के दुराग्रह के कारण भी पनपते हैं जो किसी दूसरे विचार को सहन करना ही नही चाहते, जिससे विद्वेष के आधार पर ही उनका पोषण होता है। इन सभी मतमतान्तरो के प्रति मेरा विचार है कि अनेकान्तवादी दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये ताकि विचार सामजस्य का वातावरण बन सके और विचार–मथन से विचार–सार प्राप्त किया जा सके।

विचार सामजस्य का जहा तक प्रश्न है, मेरा मानना है कि विभिन्न प्रकार की तथाकथित धर्म–नीतियो मे भी अनेकान्तवादी दृष्टिकोण का प्रयोग आवश्यक है। जब आत्मा का साध्य स्पष्ट न हो तो साधनो मे विभिन्नता भी दोषपूर्ण ही कही जायगा। साध्य का एक ही सशक्त साधन होना चाहिए। नाम भेद भी वहा पर अनुपयुक्त होता हे। सद्‌गुणो अथवा सत्सिद्धान्तो के स्वरूप मे सामान्यत कोई अन्तर नही होता है, जो अन्तर होता है वह आराधना या उपासना की पद्धतियो मे होता है। इस विभिन्नता मे भी सद्‌विचार की सहायता से सामजस्य स्थापित किया जा सकता है।

और यही विचार सामजस्य धर्मनीतियो के अलावा अन्य प्रकार की सामाजिक नीतियो मे भी स्थापित किया जा सकता है। सामाजिक नीतियो मे राजनीति, अर्थनीति या ऐसी ही सामूहिक प्रभाव वाली नीतियो की गणना की जा सकती है। वस्तुत इन नीतियों का उद्देश्य भी सामाजिकता को श्रेष्ठ बना कर प्रत्येक मनुष्य के भोतिक एव तदनुरूप आध्यात्मिक विकास का मार्ग खोजना ही होता है। इस क्षेत्र मे भी व्यक्ति (शासनस्थ या अन्य प्रकार से वर्चस्व रखने वाला) की हठवादिता, स्वार्थ–परता अथवा दुराग्रह की ही बाधाए आती हैं जिन्हे विचार सामजस्य के प्रयोग से दूर करने की अपेक्षा रहती है। राजनीति मे भी शासन की कई पद्धतियॉ प्रचलित हे और इसी

प्रकार अर्थनीति म भी विभिन्न पद्धतियाँ हैं जो मनुष्य को स्वशासित बनाने का दावा करती हैं। इनमे सर्वाधिक विकसित लोकतत्रीय पद्धति हे जो राजनीति ओर अर्थनीति को समानता के सिद्धान्त पर चलाना चाहती हे। प्रत्येक नागरिक को अपना शासन चलाने ओर अर्थनीति को समाजवादी ढग से ढालने मे यह लोकतत्रीय पद्धति विश्वास रखती हे। कई बार व्यक्ति अपनी विकास की प्रक्रिया मे वस्तु विचार विभिन्नता लिये हुए रहत हें ओर एक बिन्दु तक पहुच जाने पर नई पद्धति का विकास करते हें। अत मूल प्रश्न निष्ठा का हे। निष्ठा सही लक्ष्य की तरफ है तो विचार भेद भी विकास का श्रेष्ठ फल देते हें। ओर यदि निष्ठा दूषित रही तो वह उस विचार भेद को मन भेद तक ले जाकर अच्छे विचार को भी विवाद का विषय बना देती है। अत अच्छे व्यक्तियो की प्रभाव-वृद्धि सामाजिक स्वास्थ्य के लिये सदेव लाभप्रद होती हे।

मेरी मान्यता है कि अच्छे व्यक्तियो का निर्माण मुख्यत श्रेष्ठ धर्मनीति के माध्यम से ही किया जा सकेगा क्योकि धर्म नीति सबसे पहले व्यक्ति के सद्ज्ञान एव सदाचरण पर ही बल देती हे। व्यक्ति को सुधारने के लिये चाहे व्यक्तिगत प्रयोग किये जाय अथवा सामाजिक प्रयोग- सर्वप्रथम उसकी स्वयं की जागरूकता आवश्यक होती हे और पहले बिदु पर उसकी जागरूकता उभारने के लिये उसके निजी विचार एव आचार पर ही ध्यान देना पडेगा और यह कार्य पारिवारिक सस्कारिता के साथ धर्मनीति ही सफलतापूर्वक समपन्न कर सकती है।

मानव निर्माण की भूमिका

व्यक्ति चूकि एकाकीवास नही करता, वह अपने साथियो के समूह के बीच मे रहता हे या यो कहे कि समाज मे रहता है अत वह सामाजिक शक्तियो से भी पूर्णत प्रभावित होता हे। और आज तो विविध वैज्ञानिक आविष्कारो एव अनुसधानो ने सामाजिकता का दायरा अत्यधिक विस्तृत बना दिया हे। जहाँ पहले व्यक्ति का एक छोटे से निकटस्थ समूह से ही विशेष सम्पर्क रहता था, वहा आज वह करीब-करीब परोक्ष रूप से सारे ज्ञात ससार से सम्पर्करत होता है। वास्तव मे उसकी जानकारी का दायरा इतना ही फैल गया है और जब विस्तृत सम्पर्क का क्षेत्र है तो यो मानिये कि उस पर उतनी ही विस्तृत सामाजिकता का भी असर पडता हे। एक दूसरे समूह की सभ्यता और सस्कृति समूचे वातावरण पर भी अपना प्रभाव छोडती हे। इस दृष्टि से आज मानव मे मानवता का विकास एक रूप मे जटिल बना हे तो दूसरे रूप

मे सरल भी हुआ है। जटिल इस रूप मे कि विविधताओ का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है जिसमे विचार सामजस्य स्थापित कर एकरूप मानवता का विकास दुरूह बन गया है। ओर सरल इस रूप में कि अब व्यक्तिगत प्रयासो के साथ सामाजिक प्रयास इतने सशक्त बन गये हैं जिनका प्रभावशाली प्रयोग किया जाय तो उद्देश्य प्राप्ति अधिक समीप आ सकती है।

मानव मे मानवता का निर्माण सभी को अभीष्ट है—धर्मोपदेशक भी यही कहता है तथा राजनेता अर्थवेता अथवा समाज सुधारक भी। निजी स्वार्थों में पड जाने से कथनी करनी का भेद अवश्य पैदा हो जाता है लेकिन उद्देश्य के प्रति एकरूपता है। मनुष्य जगेगा—मनुष्यता अपनायगा—तभी उसका विकास सभव है और साथ—साथ मे समाज एव समाज के विभिन्न सस्थानो का विकास भी सभव होता है। इस कथन मे आपेक्षिक अनुसधान आवश्यक है कि पहले व्यक्ति का विकास होगा, तभी समाज का विकास हो सकेगा, क्योकि व्यक्ति और व्यक्ति से ही तो समाज की रचना होती है। किन्तु एक दृष्टि यह है कि व्यक्ति की अपनी शक्ति के अलावा भी सुव्यवस्था की दृष्टि से व्यक्ति द्वारा ही प्रदत्त शक्ति से एक सामाजिक शक्ति का अलग से विकास होता है और कई अर्थो मे यह सामाजिक शक्ति भी व्यक्तिगत जीवन पर नियत्रण करती है। पारिवारिक शक्ति इसी सामाजिक शक्ति का प्रारभिक रूप होता है जो मोहल्ला, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि के स्तरों पर विकसित होती हुई एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का रूप ले लेती है।

मेरे कहने का आशय यह है कि मानव निर्माण के महत् कार्य मे इस सामूहिक शक्ति का भी लाभ लिया जाना चाहिये और धर्म नीति एव अन्य नीतियो के प्रयोग से ऐसा वातावरण रचा जाना चाहिये जो मानवता को उत्प्रेरित करे। धर्म नीति का प्रयोग जहा अधिकाशत व्यक्तिपरक होता है, वहा विभिन्न सामाजिक शक्तियो का प्रयोग समूह—परक। यह समूह अपने—अपने क्षेत्र के अनुसार विशाल, विशालतर या विशालतम हो सकता है। अत दोनों प्रकार की नीतियो का प्रयोग साथ—साथ किया जा सकता है। धर्मनीति व्यक्ति को सद्ज्ञानाचरण की प्रेरणा से शक्तिशाली बनायगी तो सामाजिक नीतियो के द्वारा समाज के वातावरण को इस रूप में अनुकूल बनाया जा सकेगा कि सदाशयी व्यक्तियो को मानवता—निर्माण के कार्य मे सरलता हो सके और स्वय वे भी निरबाध रूप से आगे बढ सके।

इस उभय पक्षी प्रयोग की महत्ता को इस प्रकार समझे कि एक व्यक्ति को चलना है। उसके सामने जहा चलना है उस भूमि की दो प्रकार की दशा

हो सकती है। एक तो यह हो कि कोई मार्ग बना हुआ नही है–भूमि कटीली, पथरीली और ऊबड–खाबड, जहा पथिक को ही अपना मार्ग खोजना है और उस बीहड भूमि पर आगे से आगे चलना है। उस चलने मे पैरो से कितना खून बहेगा, अग अग मे किस तरह दर्द होगा और कितना पसीना बहाकर वह आगे बढ सकेगा– इसका उसे कोई अनुमान नही। इस तथ्य का भी वह अनुमान नही लगा सकेगा कि वह ऐसे भयावह धरातल पर कितनी दूरी तक आगे बढ सकेगा। दूसरी यह दशा हो सकती हे कि भूमि चाहे जैसी है लेकिन उस पर पक्की सडक बनी हुई है, सकेत चिह्न लगे हुए हें कि यह सडक कहा तक जायगी। और मार्ग मे किसी प्रकार का भय भी नहीं है। अब कल्पना करे कि धरातल की दृष्टि से पथिक की यात्रा पर कैसा प्रभाव पडेगा ? समझ ले कि पथिक सुदृढ शारीरिक शक्ति एव अटूट इच्छा शक्ति का धनी है, फिर भी हो सकता है कि पहली दशा वाले धरातल पर चलते–चलते कहीं न कहीं विकट स्थिति मे उसका साहस छूट जाय या शरीर ही टूट जाय। यह भी मान ले कि वह उन सारी परिस्थितियो को जीतता हुआ ही आगे बढ जायगा लेकिन क्या सभी सामान्य पथिक ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियो का सहज रूप से सामना कर सकेगे ? इक्की दुक्की मीनारे इस वातावरण मे खडी हो सकती हैं लेकिन अधिकाश भाग तो गडढो वाला ही रह जायगा।

अब दूसरी दशा वाले धरातल की कल्पना करे। सडक है, सकेत है और भय नही है तो सामान्य शक्ति वाले पथिक भी निश्चित होकर उस पर चल सकते हैं और निश्चित स्थान पर बेखटके पहुच सकते हैं। तो सुगम धरातल के निर्माण का कार्य सामाजिक नीतिया करती है। धर्मनीति व्यक्ति मे शक्ति का सचार करती है तो विविध सामाजिक नीतियॉ उसकी प्रगति के लिये श्रेष्ठ धरातल का निर्माण करती हैं।

इस रूप मे सामाजिक नीतियो के प्रयोग को समझे। राजनीति मे मानव को प्रमुखता देने वाली लोकतत्रीय पद्धति का विकास हुआ है तो प्रत्येक नागरिक को मताधिकार मिला है। यह मताधिकार नागरिक की चेतना को जगाता है कि वह शासन चलाने मे स्वय भागीदार है और उसके लिये अपनी मनमर्जी के प्रतिनिधि का चुनाव कर सकता है। यह चेतना स्वय उसे अपने महत्त्व का भान कराती है। इससे उसे अधिकार बोध भी होता हे तो अपने कर्त्तव्यो का बोध भी। इसी प्रकार अर्थ नीति मे समाजवाद का विकास प्रत्येक नागरिक को अर्जन के समान अवसर प्रदान करना चाहता है तो अधिक अर्जन पर प्रतिबध लगाकर सामाजिक सम्पत्ति का सविभाग अथवा

समूह के लाभार्थ नियोजन करने की प्रणाली बनाता हे। समाज–सुधार के कार्यक्रम भी कुरीतियो को समाप्त कर सबकी समानता को प्रोत्साहित करने वाली परम्पराओ को ढालना चाहते हैं। मूल म सभी नागरिका के बीच समानता का वातावरण बनाने का सभी सामाजिक नीतियो का प्रयास कहा जाता है।

ओर समानता या समता का वातावरण ही वह प्रधान केन्द्र है जहा से मानवता का झरना फूटता है। इस समानता के लिये व्यक्ति के छोर से धर्मनीति कार्य करे और समूह के छोर से सामाजिक नीतियो का प्रयोग किया जाय तो समता के प्रसार तथा मानवता के निर्माण कार्य से सारपूर्ण उपलब्धि प्राप्त की जा सकती है।

एक बात यह भी कि चाहे धर्मनीति का क्षेत्र हो या समाज नीतियो का क्षेत्र–वहा पर दोनो प्रकार की वृत्तियो वाले व्यक्ति मिलेगे। सद् एव असद् दोनो प्रकार की वृत्तियो के व्यक्ति, बल्कि असद् वृत्ति के व्यक्तियो का बाहुल्य ही होगा। अत सर्वत्र सत्कार्य को उभारने और आगे बढाने का बीडा तो सद् वृत्ति वाले प्रबुद्ध एव सज्जन व्यक्तियो को ही उठाना पडेगा जो आत्म–भोग देकर भी स्व–पर कल्याण के योग्य वातावरण का सृजन करते हैं। सभी क्षेत्रो मे सामान्य रूप से सत्प्रचार द्वारा ऐसा जनमत बनाया जाना चाहिये जो प्रबुद्ध व्यक्तियो को उनके सत्कार्य मे सक्रिय या मौन सहयोग दे सके। मानव के मन में मानवता जागृत हो एव स्थिर रूप ग्रहण करे–यह लक्ष्य सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट होना चाहिये।

आन्तरिक रूपान्तरण का पुरुषार्थ

आत्म स्वभाव एव विभाव तथा धर्म एव नीति सम्बन्धी विस्तृत विवरण को दृष्टिगत रखते हुए मैं सोचता हू कि मुझे सबसे पहले अपने पुरुषार्थ को अपने ही आन्तरिक रूपान्तरण के लिये लगाना चाहिये। क्या होगा यह आन्तरिक रूपान्तरण ? अपने भीतर के रूप को बदलना। जब किसी रूप को बदला है तो यह जानना जरूरी है कि अभी वह रूप कैसा है और उसे बदल कर कैसा बनाना है ? यह रूप है आन्तरिक रूप मन–मानस की भीतरी विचारणा का रूप अर्थात् सामान्य रूप से सोच–विचार का रूप। जब सोच–विचार के रूप को भली प्रकार जानना चाहूगा तो उसे बाहर के अपने क्रिया कलापो से जानना आसान रहेगा।

इस दृष्टि से मुझे सोचना है कि मैं क्या कर रहा हू ओर मुझे क्या करना चाहिये ? इस सोच मे दो बिन्दु हैं। एक तो आन्तरिकता का वर्तमान रूप तथा दूसरा है रूपान्तरण क्या होना चाहिये ?

आन्तरिकता के वर्तमान रूप के लिये मुझे मेरे क्रिया कलापो का तथा क्रियाकलापो से अपनी वृत्तियों का लेखा जोखा लेना होगा, किन्तु इस लेखे जोखे के लिये, उसका आकडा तैयार करने के लिये तथा रूपान्तरण का आधार सुनिश्चित करने के लिये मुझे योग्य मानदड की आवश्यकता होगी। जिस क्रिया–कलाप को नामे की तरफ लिखू, किसको जमा की तरफ और क्यो ? आकडे मे भी क्या लाभ दिखाऊ और क्या हानि ? रूपान्तरण का भी वस्तु विषय चाहिये कि वर्तमान को बदलू तो भविष्य की क्या रूपरेखा हो ?

मैंने ऊपर इसी मानदड की ही विस्तृत चर्चा की है और यह मानदड हे आत्मा के स्वभाव तथा विभाव का। आत्मा मे जहॉ तक निज स्वरूप की चेतना रहती है ओर जीवन की वृत्तियॉ तथा प्रवृत्तियॉ जहा तक उस चेतना के अनुकूल चलती हैं, वे क्रियाकलाप आत्मा के स्वभावगत होगे। किन्तु जहॉ आत्मिक चेतना की जागृति अत्यल्प है तथा उसका अनुशासन भी ढीला है, वहा मन तथा इन्द्रियो की अनियत्रित गति उस आत्मा के विभाव स्वरूप को प्रकट करती है। वस्तुत मेरा कौनसा कार्य मेरी आत्मा के स्वभाव मे सम्मिलित किया जायगा तथा मेरा कौनसा कार्य उसके विभाव मे गिना जायगा–इसका निर्णय किसी बाहरी आलोचना या चर्चा की अपेक्षा स्वानुभूति के क्षणो मे ठोस होगा। जितनी भीतर बाहर की मानसगत बारीकियॉ अपने काम काज के बारे मे मैं जानता हू, दूसरा अपूर्ण व्यक्ति नही जान सकता तथा कोई कारणो से किसी भी अपने काम काज का पूरा स्वरूप मैं दूसरो को न समझा सकू, लेकिन मैं स्वय तो अपने काम काज पर एक समूची नजर डालकर उसके समग्र गुण दोषो का सही आकलन कर ही सकता हू। अत रूपान्तरण की निष्ठा के साथ मैं स्वानुभूति के क्षणो मे अपनी आत्मा के स्वभाव एव विभाव की तुला पर अपनी वृत्तियो एव प्रवृत्तियो का चढाऊगा और स्वभावगत सद् तथा विभावगत असद् की तुलना करूगा। इस तुलना से प्रकट हो सकेगा कि मेरी तुला का कोनसा पलडा ज्यादा भारी है– सद् का याने आत्म स्वभाव का अथवा असद् का याने आत्म विभाव का ? आकडा भी सदासद के जमाखर्च के मुताबिक ही बनेगा तथा रूपान्तरण का पुरुषार्थ भी इसी तथ्य पर चलाया जा सकेगा कि मेरी आत्मा मे उसका अपना स्वभाव प्रबल है अथवा उसका विभाव ? और स्वभाव को प्रबल बनाना तथा विभाव को घटाते हुए समाप्त करना–यही मेरे आन्तरिक रूपान्तरण का लक्ष्य होगा।

अब मे अपने उस पुरुषार्थ पर विचार करू जो मेरे आन्तरिक रूपान्तरण को सफल बनादे और मेरा आत्मिक–स्वभाव प्रभावपूर्ण रीति से सुप्रकट हो जाय।

यह मैं समझ चुका हू कि मेरा आत्म स्वरूप भी मूल रूप मे सिद्धात्माओ के स्वरूप जैसा ही पूर्ण सत्यमय एव निर्मल है, परन्तु यह स्वरूप वर्तमान मे मेरी अपनी आत्मा की विभावगत स्थिति एव असद् वृत्ति–प्रवृत्तियो से ढका हुआ है। इसलिये मुझे देखना और परखना यह है कि मेरी आत्मा ने अपने मूल स्वभाव को कितने अशो मे आच्छादित कर रखा है तथा कितने अशो मे विभाव को छोड़कर स्वभाव को अपनाने की तैयारी है ? मेरा मानना है कि जहाँ मैं अपने आन्तरिक रूपान्तरण का निश्चय करता हू तथा उसके लिये अपना पुरुषार्थ प्रायोजित करना चाहता हू, मेरे मे आत्माभिमुखी होने की जागृति अवश्य जग गई है। अब मैं इस जागृति को बढाता रहू तथा प्रतिक्षण अपनी समस्त वृत्तियो एव प्रवृत्तियो को जाचता–परखता रहू– अपनी ही आत्मा के स्वभाव और विभाव की कसौटी पर तथा ज्यो ही किसी भी वृत्ति और उसके द्वारा उपजी प्रवृत्ति को विभाव की ओर मुडते हुए महसूस करू, त्यो ही उसका निरोध कर डालू। मे दृढ निश्चय कर लू कि आत्म–स्वभाव के विरुद्ध मे मन और इन्द्रियो की एक नही चलने दूगा और स्वभाव विरोधी वृत्ति या प्रवृत्ति को उपजने के बिन्दु पर ही निग्रहित कर दूगा। मैं धार लू कि मेरे जीवन मे केवल वही विचार, वचन या कर्म सम्पन्न हो सकेगा, जिसकी अनुमति मेरी आत्मिक आन्तरिकता या सरल शब्द मे आत्मा की आवाज देगी। मे कहीं भी आत्मा की आवाज को तनिक भी नहीं कुचलूगा, बल्कि अपने मन और इन्द्रियो को ऐसे आज्ञाकारी सेवक बना लूगा कि आत्म शक्ति और आत्मानुशासन नितप्रति अभिवृद्ध ही बनता जायगा। मेरे इसी निश्चय पर आन्तरिक रूपान्तरण का सूत्रपात हो सकेगा और यही निश्चय मेरे अपने पुरुषार्थ को सदा व सर्वत्र सजग बनाये रखेगा कि विभावगत कोई भी वृत्ति या प्रवृत्ति मेरे निश्चय को कमजोर बनाने या उलटने का दुस्साहस न करे। मेरा पुरुषार्थ मेरी आत्मा को सजग रखेगा तो मेरे मन और इन्द्रियो को भी आत्मिक सजगता के क्षेत्र मे सक्रिय, कि वे भौतिक सुखों की ओर प्रलुब्ध न हो तथा विषय–कषाय जन्य प्रमाद को एकत्रित करके विभाव गत दशा को अधिक प्रगाढ न बनावे। दूसरे सोपान पर मेरा पुरुषार्थ मेरी समस्त आत्मिक एव शारीरिक शक्तियो को विभाव के क्षेत्र से हटाकर उन्हे स्वभाव के क्षेत्र मे स्थापित करेगा कि वे पहले से भी अधिक वेग के साथ स्वभाव के क्षेत्र मे क्रियाशील बने।

मेरा पुरुषार्थ इस रूप मे मेरी समूची आन्तरिकता को असद् से सद्, असत्य से सत्य तथा अधकार से ज्योति की दिशा मे आगे बढायगा और वही मेरी आन्तरिकता का सच्चा रूपान्तरण होगा। तब भी मेरा पुरुषार्थ थमेगा

नहीं, उससे भी अधिक प्रबलता के साथ वह आत्मिक स्वभावगत स्थितियो को सपुष्ट बनाता रहेगा कि विभावगत दशा क्षीणतर बनती जाय। मेरा यही पुरुषार्थ सयम और तप की कठोर आराधना द्वारा समस्त कर्मो का मूलोच्छेद करने के समय पराक्रम का रूप धारण कर लेगा—ऐसा पराक्रम जो आत्मा के विभाव को समूचे रूप से विनष्ट करके पूर्णतया उसे अपने मूल स्वभाव में सदा काल के लिये प्रतिष्ठित कर देता है। क्योकि आत्मा की विभावमुक्ति ही स्वभाव स्थिति होती है तथा उसकी सम्पूर्ण स्वभाव स्थिति ही उसकी धर्म प्राप्ति कही जायगी। यह धर्म प्राप्ति ही आत्मा का साध्य है, कारण अपने मूल स्वभाव मे स्थिति ही उसकी मुक्ति है।

मेरे याने एक व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण का पूरे जागतिक एव सामाजिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य म कितना महत्त्व कूता जायगा—उसका मूल्याकन भी आवश्यक है।

जागतिक वातावरण पर प्रभाव

समझिये कि मैंने अपना आन्तरिक रूपान्तरण कर लिया हे याने कि में अपने विचार तथा आचार मे पूरी तरह से सतर्क हो गया हू। मैं अपनी ओर से किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण को कष्ट नहीं पहुचाने का प्रयास करता हू, बल्कि कष्टित प्राणो को देखकर अनुकम्पित होता हू ओर उसे सुख पहुचाने का यत्न करता हू। मैं उत्सुक भी रहता हू कि जितना अधिक में कर सकू, में अपनी समस्त आत्मिक शक्तियो को स्व—पर कल्याण मे नियोजित रखू। तो मेरी ऐसी अवस्था का क्या मूल्याकन है ?

एक बात तो निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि इस रूप मे मेरा अपना जीवन स्तर समुन्नत हो रहा है तथा मेरी अपनी व्यक्तिगत निष्ठा ओर नीति तो अहिसक स्वरूप ग्रहण कर रही है।

लेकिन प्रश्न हे कि मेरा यह व्यक्तिगत विकास क्या मेरे ही लिये है अथवा उसका कोई मेरे से इतर लाभ भी हे ? मैं यह प्रश्न इस विचार से उठा रहा हू कि जब केवल आत्मकल्याण की बात की जाती है तो क्या वह केवल स्वार्थ की ही बात कही जायगी ? यह बात सही नहीं हे। मैं इस ससार मे हू तो में भी इस ससार की गणना मे सम्मिलित हू ओर यदि मेंने अपने जीवन मे विकास साधा हे तो ससार के उतने भाग का कल्याण हुआ हे—इसमे कोई सन्देह नही है। किन्तु इस आत्म—कल्याण का महत्त्व उससे भी कई गुना अधिक हे।

मैं अकेला नही रहता, कई प्राणियो के बीच मे रहता हू तो मेरा आत्म विकास उन सभी को प्रभावित करेगा जो कम से कम किसी भी रूप मे मेरे सम्पर्क म आत हैं। मरे जीवन की सयमितता एव सन्तुलितता से एक ओर तो उनकी जीवन समस्याए सरल रूप से समाधान पायगी जो मेरे कारण उलझ जाती थी याने कि यदि मैं सदाशयी नही होता तो वे मेरे द्वारा कष्टित होकर जिन समस्याओ मे गिरत, वे तो मिट गई। दूसरे, मैं उनके कष्टो मे सहयोगी बना तो अन्यथा भी उत्पन्न उनकी समस्याओ के समाधान में मेरी सहायता उनको मिल गई। इस प्रकार मेरा अपना आत्म कल्याण बाह्य प्रभाव की दृष्टि से मुख्यत लोकोपकारी हुआ। अत मेरा आन्तरिक रूपान्तरण भीतर से जितना मुझे सुख पहुचाने वाला बनता है, उससे भी अधिक मैं उस सुख को बाहर बाटने के प्रयास मे तत्पर बनता हू। यही आन्तरिक त्याग की प्रेरणा होती हे।

एक फूल खिलकर सुवासित बनता है, एक आम्र वृक्ष सुमधुर फलों से लद जाता है या एक झरना अपने शीतल जल के साथ बहता हे तो फूल, आम्रवृक्ष और झरने की ये उपलब्धियॉ क्या उनका अपना स्वार्थ होती हैं ? क्या फूल स्वय सुवास ग्रहण करता हे, क्या आम्रवृक्ष स्वय अपना फल चखता है या क्या झरना स्वय अपने शीतल जल का स्वाद लेता है ? सभी अनुभव करते हैं कि इन तीनो की उपलब्धियो का आनन्द तो दूसरे ही उठाते हैं। आनन्द उठाने के अलावा कोई उनको क्षति भी पहुचाते हैं तो वे सब सह लेते हैं। इसी रूप मे आत्म कल्याण का साधक भी यथार्थ दृष्टि से दूसरो को भी सुख पहुचाता है। उसकी साधना जितने अशो मे समुन्नत बनती है, उतने ही अशो मे उसका त्याग भाव भी प्रखर बनता जाता है और वह तब पर–कल्याण या जगत् कल्याण के लिये सर्वस्व तक न्यौछावर कर देने के लिये सन्नद्ध हो जाता है।

अत मेरे अपने आत्म कल्याण का अर्थ है एक ऐसी ज्योति का जलाना, जिसके प्रकाश मे सभी अपना सन्मार्ग खोज लेने मे आतुर हो उठते हें। इसे अधिक से अधिक सीधा जगत् कल्याण न भी माने तब भी परोक्ष रूप से वह जगत् कल्याण ही होता है। यही परोक्ष जगत् कल्याण आत्म विसर्जन के महान् त्याग के साथ तब प्रत्यक्ष जगत् कल्याण हो जाता है। अत आध्यात्मिक स्व कल्याण मे सदा ही पर–कल्याण सन्निहित होता हे।

अब मैं यह प्रश्न उठाना चाहता हू कि इतने विशाल जागतिक वातावरण पर मेरे आन्तरिक रूपान्तरण का कितना प्रभाव हो सकता है ?

हमारा इतिहास ऐसे अगणित उदाहरणो से भरा पडा हे, जब एक व्यक्तित्व की तेजस्विता ने सम्पूर्ण समाज को आन्दोलित कर दिया और उसे विकास की दिशा में आगे बढने की सफल प्रेरणा दे दी। यही नही, एक व्यक्ति का आदर्श जीवन ऐसा ज्योतिर्स्तंभ बन गया कि वह युगो–युगो तक अपने आदर्श की प्रेरणा देता रहा है और आत्माभिमुखी व्यक्तियो मे जीवन भरता रहा है। क्या वीतराग देवो की आत्म कल्याणक वाणी आज भी हमारे हृदयो मे नही गूजती है और हमे एक सद्ग्रहस्थ, सत्साधक और सयमाराधक बनने की उत्प्रेरणा नहीं देती हे ? ताजा मिसाल महात्मा गाधी की ले कि क्या एक ही व्यक्ति ने पूरे भारत मे स्वतत्रता प्राप्ति की बलिदान–भरी लगन नही जगादी ? इससे क्या स्पष्ट नहीं हो जाता कि एक व्यक्ति का आन्तरिक रूपान्तरण एक देश तो क्या, सारे ससार को बदल सकता हे। ओर यह परिवर्तन की धारा उसके अपने ही समय की सीमा मे नही बध जाती, अपितु उसके भौतिक जीवनान्त के पश्चात् भी युग युगो तक प्रवाहित होती रहती है तथा व्यापक रूप से वैसे महापुरुष का पुण्य स्मरण किया जाता रहता हे। जागतिक वातावरण पर एक व्यक्ति के रूपान्तरण का कितना व्यापक ओर विस्तृत प्रभाव हो सकता है–इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। आत्म शक्ति के विकास की प्राभाविकता असीम होती है।

शुभ परिवर्तन का पराक्रम

मेरा आन्तरिक रूपान्तरण अर्थात् आत्म–शुद्धि का मेरा पुरुषार्थ फलित होता है शुभ परिवर्तन के पराक्रम के रूप मे। मेरा यह पराक्रम जितनी उच्चता, गूढता और दृढता ग्रहण करता जाता है, उतना ही शुभ परिवर्तन का क्षेत्र भी विस्तृत ओर व्यापक होता चला जाता हे। आत्म–पराक्रम से स्फुरित होने वाली शुभ परिवर्तन की प्रक्रिया देश और काल की सीमाओ से भी परे होती है। ऐसी असीम होती है इस पराक्रम की ओजस्विता।

शुभ परिवर्तन की क्या परिभाषा ? एक शिशु जब जन्म लेता है तो निश्छल ओर निष्पाप–हृदय होता हे। तब उसकी प्रत्येक लीला सबको सुहाती है। कभी सोचा कि ऐसा क्यो होता हे ? यह शुभता का प्रभाव होता है। बच्चा किसी का बुरा नही सोचता, बुरा नही बोलता और बुरा नही करता, इसलिये हमे सुहाता है। लेकिन चिन्तन करने लायक बात यह है कि यदि हम विवेकपूर्वक जीवन यापन करने लगे किसी का बुरा नहीं सोचे, बुरा नहीं बोले ओर बुरा नहीं करे, बल्कि हम सभी का भला सोचे, भला बोले और भला करे तो सोचिये कि हमारी लोकप्रियता केसी होगी ? क्या सुदूर क्षेत्र भी हमारी

लोकप्रियता से प्रभावित नही हो जायेगे ? यह किसका प्रभाव होगा ? हमारी शुभता का ही न ? मन की शुभता वचन की शुभता ओर कार्य की शुभता की कसौटी यही है कि क्या वह अपने से अन्य को सुख पहुँचाती है ? उसके दुःख का हरण करती है ? लोग मेरी इस शुभता का आकलन उसके बाह्य प्रभाव से ही करेगे। वैसे भी आन्तरिकता ओर बाह्यता को एकदम अलग करके नहीं देख सकते हैं। मेरी आन्तरिकता बाह्य-प्रभावी होती है तो वह बाह्य प्रभाव दूसरों की आन्तरिकता को प्रभावित बनाता है ओर इसी क्रम मे शुभता का विस्तार होता हे तो इसी क्रम मे अशुभता भी फैलाती है। जहाँ अशुभता स्वय के पतन के साथ बाहर भी विषय और कषाय की आग लगाकर दूसरो को जलाती है, वहाँ शुभता का प्रवाह भीतर-बाहर एक-सी शीतलता फैलाकर सबकी नेतिक उन्नति का पथ प्रशस्त करती हे।

शुभता के स्वरूप की अनुभूति लेकर मैं सोचता हू कि मेरा पराक्रम परिवर्तन का चक्र कैसे और किधर से घुमावे ?

मैं देखता हूँ कि वर्तमान जागतिक वातावरण मे अशुभता ही बलवती बनी हुई हे। शुभता के साधनो का भी अशुभता फैलाने मे दुरुपयोग किया जा रहा है। विज्ञान विशेष ज्ञान को कहते हैं तथा भोतिक क्षेत्र मे ही आज विज्ञान ने जो प्रगति की है और जो साधन व उपकरण उपलब्ध कराये हैं यदि उनका उपयोग जनहित मे किया जाय तो निश्चय ही सार्वजनिक जीवन की कई विषम समस्याओ का समाधान निकाला जा सकता है तथा सबको समान भाई-चारे की राह पर आगे बढाया जा सकता है। किन्तु विज्ञान कर क्या रहा है या यो पूछे कि सत्ता और सम्पत्ति के पीछे बावला बना मनुष्य उस विज्ञान का किस कदर दुरुपयोग कर रहा हे तथा उसे किस रूप मे विश्व-विनाश का साधन बना रहा है ? क्या आवश्यकता है अणुबमो, प्रक्षेपास्त्रो आदि सहारक शस्त्रास्त्रो की ? यह प्रभाव की होड ही क्यो लगती है ? क्यो सम्प्रदायो, सगठनो या राष्ट्रो के नाम पर मतभेद और मनभेद की खाइयाँ खोदी जाती है ? ऐसी खाइयाँ कि साधारण जन आमने-सामने भी न हो सके। अधिकार-लिप्सा के पीछे महाविनाश की तैयारियाँ क्या मन, वचन एव कर्म की घोर अशुभता का ही दुष्परिणाम नही है ?

मोटे कहलाने वालो की मोटी अशुभता की कालिमामय बाढ मे छोटा कहलाने वाला भी कहाँ बचता है ? छोटा अपनी छोटी अशुभता को लेकर ही छोटी लिप्साओ को पूरी करना चाहता है। मोटी हिसा ओर छोटी हिसा म

बाहर का फर्क भले हो, लेकिन मन के भावो मे घुटती रहने वाली हिसा के गाढेपन म एक–सी मारक शक्ति दिखाई देगी। चाहे समाज के क्षेत्र मे हो या राजनीति अथवा अर्थनीति के क्षेत्र में, किसी भी शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति निर्बलो को कुचलकर अपने ही स्वार्थ पूरे करना चाहता हे। और तो और धार्मिक क्रिया–कलापो के वातावरण मे भी कई बार कीर्ति लालसा अथवा वर्चस्व लिप्सा सर्व प्रकार की अशुभता को भडका देती है। सभी ओर फैलती और बढती हुई विविध विषमताओ से अशुभता की यह बाढ वेगवती बनती जा रही है। सामान्य जन सामान्य रूप से भेड चाल मे चलते हैं ओर वातावरण का अनुकरण करते हुए अनजाने भी इस प्रकार की अशुभता से अपने को रगते रहते हैं। इस प्रकार मन से उठ कर वचन मे निकलती हुई यह अशुभता चहु ओर लोगो के कार्यो मे प्रकट हो रही है तथा निरन्तर वातावरण को अधिक अशुभ, अधिक आक्रामक और अधिक आतककारी बना रही है।

जहॉ मेंने परिवर्तन का प्रश्न उठाया हे, वह परिवर्तन लाना है अशत्रुता की इस बाढ मे। इस परिवर्तन को मैं शुभ परिवर्तन इस दृष्टि से कहता हूॅ कि जितना आज इस ससार मे और जन–जीवन मे अशुभता का विष घुल रहा है, वह मेरे और सबके पराक्रम से शुभता का अमृत बन जाय।

वर्तमान परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे यह बात ऐसी लगती है जैसी कि कोई उफनते हुए समुद्र की गरजती हुई लहरो और तूफान की अधडभरी आधियों मे छोटी–सी नाव लेकर समुद्र–विजय की बात कहे। एक अकेला व्यक्ति, छोटी नाव और छोटी–सी पतवार–जिनके सामने समुद्र का यह विकराल रूप क्या होगा यदि कोई ऐसा साहस कर बैठे ? क्या वह अपनी छोटी नाव–पतवार के साथ मृत्यु को ही प्राप्त होगा अथवा विजय की दुन्दुभी बजा देगा ? यह आन्तरिक रूपान्तरण की उच्चता का प्रश्न है। महासमुद्र तो क्या– सम्पूर्ण ससार का एक आत्मबली साहस के साथ सफल सामना ही नही करता, बल्कि वह अकेला ही सारे ससार मे क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकता है। ऐसा हुआ है, होता है और होता रहेगा। आन्तरिकता की ओजस्विता के समक्ष सम्पूर्ण अशुभता ने सदा ही हान मानी है और समग्र शुभता ने उसके माथे पर विजय का सेहरा बाधा हे। आत्मशुद्धि के पुरुषार्थ को सफल बनाकर व्यक्तित्व का ऐसा तेजस्वी पराक्रम सिद्ध किया जा सकता है कि वह लरजते–गरजते महासमुद्र को बाध दे, अलघ्य पर्वतो के शिखरो को झुका दे ओर समस्त ससार मे शुभ परिवर्तन का शख गुजा दे।

धर्म प्राप्ति के पथ पर

यह एक तथ्य है कि किसी भी क्षेत्र मे विकृत मूल्यो को हटाने तथा स्वस्थ मूल्यो को सस्थापित करने का सत्कार्य कुछ प्रबुद्ध व्यक्तित्व ही प्रारम करत हैं क्योकि प्रचलित् पद्धति के विरुद्ध विद्रोह का डका बजाना बडी हिम्मत का काम होता हे।

यह भी एक तथ्यात्मक प्रक्रिया है कि जब कभी प्रबुद्ध व्यक्तित्वो के हाथो स्वस्थ मूल्यात्मक पद्धति स्थापित कर दी जाती है तब वह प्रारम्भिक जनोत्साह के कारण शुद्ध स्वरूप के साथ चलती है किन्तु काल प्रवाह मे उस शुद्ध पद्धति के सचालन मे धीरे–धीरे अशुद्धता प्रवेश करती जाती है और धीरे–धीरे ही उसमे अशुद्धता का अश अधिक हो जाता है तथा शुद्धता कम रह जाती है। व्याख्यात्मक दृष्टि से उस शुद्ध पद्धति को वाद कह दिया गया हे तो उसके अशुद्ध बन जाने पर उसका नाम प्रतिवाद दे दिया गया है। यह प्रतिवाद मूर्छात्मक अवस्था का प्रतीक हो जाता है। धीरे–धीरे इसके विरुद्ध असन्तोष और विक्षोभ जागता हे, तब कुछ प्रबुद्ध–चेता व्यक्ति उस प्रतिवादात्मक स्थिति के विरुद्ध विद्रोह का झडा खड़ा करते हैं। उनका सदेश होता है कि स्वस्थ मानवीय मूल्यो की पुन स्थापना की जाय। यह विद्रोह बलिदानात्मक होता हे ओर ऐसी क्रान्ति की सफलता इस बात पर निर्भर करती हे कि उन का बलिदान कितना सघन होता है। अधिकाशत ऐसे विद्रोह के प्रारम कर्त्ताओ को आभास होता है कि उनका बलिदान व्यर्थ जा रहा है क्योकि उनके सम्पूर्ण प्रयत्नो के बाद भी उन्हे समाज मे परिवर्तन आता हुआ नही दिखाई देता है। किन्तु वास्तव मे ऐसा होता नही है। जैसे तपते हुए रेगिस्तान मे वर्षा की पहली बूदे भाप की तरह तुरन्त उड जाती है, किन्तु वे बूदे बाद की बूदो की सफलता का मार्ग साफ कर जाती है। पहली बूदे रेगिस्तानी रेत का ताप हरण करके भले अपना अस्तित्व तक मिटा देती हैं, लेकिन जब बाद की बूदे बरसती है तो तापरहित रेत जल्दी ही गिली हो जाती हे। यही अवस्था सामाजिक क्रान्ति की भी होती है। पहले पहल प्रबुद्धचेता व्यक्तित्वो का विद्रोह अप्रभावी जैसा दिखाई देता हे और उन्हे आभास होता हे कि वे अपने कार्य मे विफल हो गये हैं। किन्तु वास्तव मे उन्ही का बुनियादी काम होता हे। उनके काम से भीतर ही भीतर बदलाव फेलता हे और जब बाद मे विद्रोह का स्वर गहरा हो जाता है तब वह बदलाव बाहर प्रकट होने लगता हे। अत मानवीय मूल्यो की स्थापना के कार्य मे लगने वाले प्रबुद्ध चेता व्यक्तित्वों को पूरे बलिदान के साथ कार्यरत होना चाहिये ओर निराशा का

भाव कभी भी नही लाना चाहिये। सामाजिक क्रान्तियो की प्रक्रिया कुछ ऐसी ही जटिल होती हैं। प्रतिवाद के विरुद्ध विद्राह तब बल पकड कर सारे विकारो को नष्ट कर देता है ओर पद्धति की अशुद्धता को धो डालता है। पुन निखरा वह शुद्ध रूप समन्वयवाद कहलाता है जो वाद का रूप ही हो जाता है। शुद्धि और अशुद्धि तथा अशुद्धि से पुन शुद्धि का यह क्रम बराब चलता ही रहता है। इस क्रम के अनुसार शुभ परिवर्तन के लिये सदा ही प्रबुद्ध चेता व्यक्तित्वो को आगे आकर अपना नेतृत्व प्रदान करना होता है।

मैं मानता हूँ कि इस दृष्टि से धार्मिक क्षेत्र हो अथवा सामाजिक क्षेत्र–सदा ही प्रबुद्ध व्यक्तित्वो के नेतृत्व की आवश्यकता होती है। और प्रबुद्ध व्यक्ति सदा काल रहते हैं क्योकि धर्म नीति कभी भी प्रभाव शून्य नही होती है। सदा कुछ व्यक्ति तो सर्वत्र ऐसे मिलेगे ही, जो अपने आन्तरिक रूपान्तरण के लिये पुरुषार्थ रत रहते हैं। ऐसे ही व्यक्ति समय–समय पर अपने पराक्रम को प्रकट करते हैं और समाज मे वाछित शुभ परिवर्तन का शखनाद करते हैं।

अत मेरी मान्यता मे आन्तरिक रूपान्तरण का पुरुषार्थ सर्वाधिक एव मूलत महत्त्वपूर्ण है। यही आधार बनता है समग्र समाज की मूल क्रान्ति का। आन्तरिक रूपान्तरण का स्वरूप मेरे समक्ष स्पष्ट है कि मैं विविध विभावो मे भटकती हुई अपनी आत्मा को मूल स्वभाव मे प्रतिष्ठित करू तथा उसकी इस प्रतिष्ठा को स्थिरता प्रदान करू।

मेरे इस उद्देश्य की पूर्ति धर्मनीति पर चल कर ही श्रेष्ठ रीति से हो सकती है। मेरी आत्मा अपने मूल स्वभाव को ग्रहण करती हुई एक दिन उसके अपने धर्म को आत्मसात् कर ले इसके लिये मुझे धर्माराधना की भावनापूर्ण प्रक्रिया अपनानी होगी। धर्म प्राप्ति के पथ पर आगे से आगे बढते रहने का ही नाम धर्माराधना है। धर्माराधना अर्थात् धर्म की आराधना करना कि वह धर्म–आत्मस्वभाव प्राप्त हो।

इस दिशा में मैं आप्त वचनो का पावन स्मरण करता हूँ जिनमे कहा गया है कि धर्म ही आत्मा के लिये उत्कृष्ट मगल है–वह धर्म जो अहिसा, सयम तथा तप की आराधना से प्राप्त होता है और जिसके मन मे सदा ऐसे धर्म की आराधना बसती है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। अहिसा, सयम एव तप रूपी धर्माराधना की सफलता के लिये वीतराग देवो की आज्ञा है–हे समतादर्शी की आज्ञा को पालन करने की इच्छा रखने वाली बुद्धिशालिनी आत्मा, तू अनासक्त हो जा, अनुपम आत्मिक रूप को देख समझ कर अपने

कर्म शरीर को दूर हटा। अपने आप को नियन्त्रित कर तथा अपने आपके ही मूल स्वरूप मे घुलमिल जा। जैसे अग्नि जीर्ण लकडियो को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार अपने मूल स्वभाव मे लीन आत्मा अनासक्त बन कर राग–द्वेष को नष्ट कर देती है। जो सयमित नैत्रो के होते हुए भी इन्द्रियो क प्रवाह मे आसक्त हो जाता है, वह अज्ञानी होता हे। फलस्वरूप उसके कर्मबधन बिना टूटे हुए रहते हैं और उसके विभाव सयोग बिना नष्ट हुए। ऐन्द्रिक विषयो मे रमण करने के विभाव के वशीभूत होकर आत्मा इन्द्रियासक्ति के अधकार के प्रति अनजान होती है, तब उसके लिये समतादर्शी वीतराग देवो के उपदेश तथा उनकी आज्ञा का भी कोई लाभ नही होता। किन्तु जो आत्मा प्रमादजन्य विषमता मे नही गिरती है, वह समता की साधना मे प्रगति करती हैं। अत हे आत्मा, तू इस देह सगम को देख। यह देह किसी का पहले छूटता है ओर किसी बाद मे, लेकिन छूटता अवश्य हे क्योकि उसका स्वभाव नश्वर है और तेरा स्वभाव अनश्वर, ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। मेरे द्वारा यह सुना गया हे ओर मेरे द्वारा आत्मा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया गया है कि बध रूप अशान्ति तथा मोक्ष रूप शान्ति दोनो के कारण तेरे अपने ही मन मे रहे हुए हैं। अत समता धर्म की मानसिकता के साथ अपने कर्मो से युद्ध कर–बाहरी व्यक्तियो से युद्ध करने में कोई लाभ नही–तू विषमता से युद्ध करने मे अपने को योग्य बना–जो निश्चय ही दुर्लभ है।

ऐसे हैं अनन्त प्रेरणा देने वाले आप्त वचन, जो आत्मा को अपने धर्म को प्राप्त करने हेतु ललकारते हैं। ऐसे वचनो को हृदयस्थ करना, वीतराग देवो की आज्ञा मे चलना तथा आत्म धर्म को प्राप्त करना मैं अपना पावन कर्त्तव्य मानता हू। आत्म शुद्धि एव विभाव मुक्ति के ये तीन सोपान हें–अहिसा, सयम और तप। पहले अहिसा के सोपान पर आरूढ होने के लिये मुझे हिसा से विरत होना पडेगा–स्थूल और तदनन्तर सूक्ष्म हिसा से। मैंने ज्ञान पाया हे कि कुछ लोग प्रयोजन से हिसा करते हैं ओर कुछ लोग बिना प्रयोजन भी हिसा करते हैं। कुछ लोग क्रोध से हिसा करते हें, कुछ लोग लोभ से हिसा करते हें और कुछ लोग अज्ञान से हिसा करते हें। मुझे हिसा के इन सभी द्वारो को बद कर देना होगा क्योकि हिसा के कटु फल को भोगे बिना छुटकारा नही होता हे। प्राणवध रूप हिसा चड हे, रौद्र है, क्षुद्र हे, अनार्य हे, करुणा रहित है, क्रूर हे–और महाभयकर है। में जानता हू कि जो भी कर्म बधन एव कर्म मुक्ति के विषय मे गहरी शोध करने वाला होता है, वह अहिसा का पालन करने वाला मेघावी क्षुद्ध बुद्धि वाला होता है। अपने स्वभाव में रमण करने

वाली आत्मा कर्म बधन और कर्म मुक्ति के विकल्पो स परे हो जाती हे। वह अपनी कुशल बुद्धि से जिस काम को भी करती है, अन्य व्यक्ति व समाज भी उसको ही कर तथा जिस काम को वह बिल्कुल नही करती हे, अन्य व्यक्ति व समाज भी उसको बिल्कुल नही करे। अपने जीवन की समस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो मे समूचे रूप से अहिसा का आचरण करने के उपरान्त आत्मा को ऐसी जागरूक एव कुशल बुद्धि की प्राप्ति होती हे।

अहिसा के आचरण के लिये यह आधारगत चिन्तन होना चाहिये कि सभी जीवो को अपनी आयु प्रिय है, वे सुख चाहते हैं और दु ख से द्वेष करते हैं। उन्हे वध अप्रिय लगता हे तथा जीवन प्रिय लगता हे, अतएव किसी भी प्राणी की हिसा नहीं करनी चाहिये। जिस प्रकार तुम्हे दु ख अप्रिय लगता है, उसी प्रकार ससार के सभी जीवो को भी दु ख अप्रिय लगता है। ऐसा जानकर अपनी आत्मा की उपमा से तुम्हे सभी प्राणियो पर आदर और उपयोग के साथ दया करनी चाहिये। यह जीव हिसा की ग्रथ (गाठ) और अष्ट कर्मो का बध हे। यही मोह हे, यही मृत्यु है और यही नरक है। अत मैं अहिसा के निषेध रूप से दूर रहकर उसके रक्षा और दया रूप विधि रूप का पूर्णत पालन करूगा, जिससे मेरा आचार–विचार अहिसामय हो जायगा।

सयम अहिसामय आचरण की पृष्ठ भूमि पर ही सुदृढ बनता है– ऐसी मेरी मान्यता है। सर्व प्रकार के सावद्य व्यापार से निवृत्त होना सयम है। पाच आश्रव से निवृत्ति, पाच इन्द्रियो का निग्रह, चार कषाय पर विजय और तीन दड से विरति सयम की साधना द्वारा ही सभव बनती है। सयम के सत्रह भेद कहे गये हैं–

(1) पृथ्वीकाय सयम– तीन करण तीन योग (मन, वचन काया से न करना, न करवाना और न अनुमोदन करना) से पृथ्वीकाय के जीवो की विराधना न करना।

(2) अपकाय सयम– अपकाय (पानी) के जीवो की हिसा नही करना।

(3) तेजस्काय सयम– तेजस्काय (अग्नि) के जीवो की हिसा नहीं करना।

(4) वायुकाय सयम– वायुकाय (हवा) के जीवो की हिसा नहीं करना।

(5) वनस्पतिकाय सयम– वनस्पति काय (पेड–पौधे आदि) के जीवो की हिसा नहीं करना।

(6) द्वीन्द्रिय सयम– दो इन्द्रियो वाले जीवो की हिसा नहीं करना।

(7) त्रीन्द्रिय सयम– तीन इन्दियो वाल जीवो की हिसा नही करना।

(8) चतुरिन्द्रिय सयम– चार इन्द्रियो वाले जीवो की हिसा नही करना।

(9) पचेन्द्रिय सयम– पाच इन्द्रियो वाले जीवो की हिसा नही करना।

(10) अजीव सयम– अजीव होने पर भी जिन वस्तुआ को ग्रहण करने से असयम होता है, उन्हे ग्रहण न करना अजीव सयम हे। जेसे सोना, चादी आदि धातुओं अथवा शस्त्रो को पास मे नहीं रखना। पुस्तक, पत्र तथा सयम के दूसरे उपकरणो की प्रतिलेखना करते हुए यतनापूर्वक बिना ममत्व भाव के मर्यादा अनुसार रखना असयम नहीं है। इसी तरह गृहीत वस्त्रादि का निरर्थक दुरुपयोग न करना अजीव सयम है।

(11) प्रेक्षा सयम– बीज, हरी घास, जीव–जन्तु आदि से रहित स्थान मे अच्छी तरह देखभाल कर सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाए करना प्रेक्षा सयम है।

(12) उत्प्रेक्षा सयम– मनोज्ञ–अमनोज्ञ पदार्थों मे या प्रसगो मे राग–द्वेष न करते हुए उपेक्षा भाव (माध्यस्थ भाव) रखना। अथवा–वस्तु को भली–भाति बार–बार देखना।

(13) प्रमार्जना सयम– स्थान तथा वस्त्र–पात्र आदि को पूज कर काम में लाना प्रमार्जना सयम है।

(14) परिष्ठापना सयम– आहार या वस्त्र पात्र आदि को जीवो से रहित स्थान मे यतनापूर्वक शास्त्र मे बताई विधि के अनुसार परठना परिष्ठापना सयम है।

(15) मन सयम– मन मे ईर्ष्या, द्रोह, अभिमान आदि विकारी भाव न रखकर उसे धर्मध्यान मे लगाना मन सयम है।

(16) वचन सयम– हिंसाकारी कठोर वचन को छोडकर शुभ वचन मे प्रवृत्ति करना वचन सयम है।

(17) काय सयम– गमनागमन तथा दूसरे आवश्यक कार्यो मे उपयोग पूर्वक शुभ प्रवृत्ति करना काय सयम है।

ये ही सयम के सत्रह भेद अन्य प्रकार से भी बताये गये हें–

(1–5) हिसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य ओर परिग्रह रूप पाच आश्रवो से विरति।

(6–10) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र–इन पाच इन्द्रियो को उनके विषयो की ओर जाने से रोकना अर्थात् उन्हे वश मे रखना।

(11–14) क्रोध, मान, माया ओर लोभ रूप चार कषायो का त्याग करना।

(15–17) मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन दडो से विरति।

यों सक्षेप मे सयम के चार रूप कहे गये हैं–(1) मन का सयम (2) वचन का सयम (3) शरीर का सयम तथा (4) उपधि सामग्री का सयम। अति सक्षिप्त व्याख्या यह है कि कर्म–बधन कराने वाले कार्यो को छोड देना सयम है। मार्गणा स्थान मे अवान्तर भेद से सयम के सात भेद बताये गये हैं–(1) सामायिक सयम (2) छेदोपस्थानीय सयम (3) परिहारविशुद्धि सयम, (4) सूक्ष्म सम्प्राय सयम (5) यथाख्यात सयम (6) देश विरति तथा (7) अविरति।

पाप या दोषो के सेवन से सयम की विराधना होती हे। इसे प्रतिसेवना कहते हैं, जो दस प्रकार की कही गई है–

(1) दर्प प्रतिसेवना– अहकार या अभियान से होने वाली सयम की विराधना।

(2) प्रमाद–प्रतिसेवना– मद्य पान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा– इन पाच प्रमादो के सेवन से होने वाली सयम की विराधना।

(3) अनाभोग प्रतिसेवना– अज्ञान से होने वाली सयम की विराधना।

(4) आतुर प्रतिसेवना– भूख, प्यास आदि किसी पीडा से व्याकुल हो जाने पर की जाने वाली सयम की विराधना।

(5) आपत्प्रतिसेवना– किसी आपत्ति के आने पर सयम की विराधना करना। आपत्ति चार प्रकार की होती है–(अ) द्रव्यापत्–प्रासुक आदि निर्दोष आहार वगैरा न मिलना, (ब) क्षेत्रापत्–अटवी आदि भयानक जगल मे रहना पडे, (स) कालापत्–दुर्भिक्ष आदि पड जाय और (द) भावापत्–बीमारी आदि से शरीर का अस्वस्थ हो जाना।

(6) सकीर्ण प्रतिसेवना– स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली जगह की तगी के कारण सयम का उल्लघन करना अथवा ग्रहण योग्य आहार में किसी दोष की शका हो जाने पर भी उसे ले लेना।

(7) सहसाकार प्रतिसेवना– अकस्मात् अर्थात् बिना पहले समझे–बूझे ओर प्रतिलेखना किये किसी काम को करना।

(8) भय प्रति सेवना– किसी भी प्रकार के भय से ग्रस्त होकर सयम की विराधना करना।

(9) प्रद्वेष प्रतिसेवना– किसी के ऊपर द्वेष या ईर्ष्या से सयम की विराध ना करना। यहाँ प्रद्वेष शब्द मे चारो कषाय सम्मिलित है।

(10) विमर्श प्रतिसेवना– शिष्य की परीक्षा आदि के लिये की गई सयम की विराधना।

सयम के साधक को सदैव इस रूप से जागृत रहना चाहिए कि विराधना या प्रतिसेवना का अवसर नही आवे।

मेरी इस मान्यता मे अटल आस्था है कि अहिसामय आचरण से पुष्ट बनी सयम साधना के द्वारा कर्म बध के कारणो को मन्दतम बनाया जा सकता है। कर्मो का इससे आगमन अवरुद्ध हो जाता है। वैसी अवस्था मे बद्ध कर्मो के क्षय की ही समस्या सामने रह जाती है, जिसका सफल उपाय है—तप।

तपश्चरण से कर्मो की निर्जरा होती है और तप महान् पुरुषार्थ और पराक्रम कहा गया है। अहिसा, सयम और तप के तीन सोपानों को सफलतापूर्वक लाघ लेने के बाद आत्मा की विभाव मुक्ति या स्वभाव प्राप्ति अथवा धर्म प्राप्ति हो जाती है (तप के स्वरूप और भेदो का विस्तृत वर्णन आगामी अध्याय मे उपलब्ध है)। यह त्रिविध धर्माराधना साध्य तक पहुचाने वाली होती है।

स्वाभाविक गुणों का विकास

सफल धर्म नीति वही कही जायगी, जिसका अनुसरण करते हुए आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विकास हो। इन स्वाभाविक गुणो मे उन सभी मानवीय गुणो का समावेश हो जाता है जो एक मानव मे मानवता के स्वरूप को दर्शाने वाले होते हैं। स्वाभाविक गुणो को प्रोत्साहित करने वाली धर्माराधना को निश्रेयस–कल्याण प्राप्ति की साधिका कहा गया है जो दो प्रकार से आराधी जाती है–

(1) श्रुत धर्म–अग ओर उपाग रूप शास्त्रीय वाणी को श्रुत कहते हैं। श्रुत मे ही वाचना, प्रच्छना आदि स्वाध्याय के प्रकार भी समाहित माने गये हैं। श्रुत के भी दो भेद हैं—(अ) सूत्र श्रुत–अग और उपाग रूप शास्त्रो के शब्द रूप मूल पाठ को सूत्र कहते हैं, व (ब) अर्थ श्रुत–शास्त्र–पाठो के अर्थ को अर्थ श्रुत कहते हैं।

(6–10) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र–इन पाच इन्द्रियो को उनके विषयो की ओर जाने से रोकना अर्थात् उन्हे वश में रखना।

(11–14) क्रोध, मान, माया ओर लोम रूप चार कषायो का त्याग करना।

(15–17) मन, वचन और काया की अशुम प्रवृत्ति रूप तीन दडो से विरति।

यो सक्षेप मे सयम के चार रूप कहे गये हैं–(1) मन का सयम (2) वचन का सयम (3) शरीर का सयम तथा (4) उपधि सामग्री का सयम। अति सक्षिप्त व्याख्या यह हे कि कर्म–बधन कराने वाले कार्यो को छोड देना सयम है। मार्गणा स्थान मे अवान्तर भेद से सयम के सात भेद बताये गये हें–(1) सामायिक सयम (2) छेदोपस्थानीय सयम (3) परिहारविशुद्धि सयम, (4) सूक्ष्म सम्प्रराय सयम (5) यथाख्यात सयम (6) देश विरति तथा (7) अविरति।

पाप या दोषों के सेवन से सयम की विराधना होती है। इसे प्रतिसेवना कहते हैं, जो दस प्रकार की कही गई है–

(1) दर्प प्रतिसेवना– अहकार या अभियान से होने वाली सयम की विराधना।

(2) प्रमाद–प्रतिसेवना– मद्य पान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा– इन पाच प्रमादो के सेवन से होने वाली सयम की विराधना।

(3) अनामोग प्रतिसेवना– अज्ञान से होने वाली सयम की विराधना।

(4) आतुर प्रतिसेवना– भूख, प्यास आदि किसी पीडा से व्याकुल हो जाने पर की जाने वाली सयम की विराधना।

(5) आपत्प्रतिसेवना– किसी आपत्ति के आने पर सयम की विराधना करना। आपत्ति चार प्रकार की होती है–(अ) द्रव्यापत्–प्रासुक आदि निर्दोष आहार वगैरा न मिलना, (ब) क्षेत्रापत्–अटवी आदि भयानक जगल मे रहना पडे, (स) कालापत्–दुर्भिक्ष आदि पड जाय और (द) भावापत्–बीमारी आदि से शरीर का अस्वस्थ हो जाना।

(6) सकीर्ण प्रतिसेवना– स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली जगह की तगी के कारण सयम का उल्लघन करना अथवा ग्रहण योग्य आहार मे किसी दोष की शका हो जाने पर भी उसे ले लेना।

(7) सहसाकार प्रतिसेवना– अकस्मात् अर्थात् बिना पहले समझे–बूझे ओर प्रतिलेखना किये किसी काम को करना।

(8) भय प्रति सेवना– किसी भी प्रकार के भय से ग्रस्त होकर सयम की विराधना करना।

(9) प्रद्वेष प्रतिसेवना– किसी के ऊपर द्वेष या ईर्ष्या से सयम की विराध ना करना। यहाँ प्रद्वेष शब्द मे चारो कषाय सम्मिलित है।

(10) विमर्श प्रतिसेवना– शिष्य की परीक्षा आदि के लिये की गई सयम की विराधना।

सयम के साधक को सदैव इस रूप से जागृत रहना चाहिए कि विराधना या प्रतिसेवना का अवसर नही आवे।

मेरी इस मान्यता मे अटल आस्था है कि अहिसामय आचरण से पुष्ट बनी सयम साधना के द्वारा कर्म बध के कारणो को मन्दतम बनाया जा सकता है। कर्मो का इससे आगमन अवरुद्ध हो जाता है। वैसी अवस्था मे बद्ध कर्मो के क्षय की ही समस्या सामने रह जाती है, जिसका सफल उपाय हे–तप।

तपश्चरण से कर्मो की निर्जरा होती है और तप महान् पुरुषार्थ और पराक्रम कहा गया है। अहिसा, सयम और तप के तीन सोपानों को सफलतापूर्वक लाघ लेने के बाद आत्मा की विभाव मुक्ति या स्वभाव प्राप्ति अथवा धर्म प्राप्ति हो जाती है (तप के स्वरूप और भेदो का विस्तृत वर्णन आगामी अध्याय मे उपलब्ध है)। यह त्रिविध धर्माराधना साध्य तक पहुचाने वाली होती है।

स्वाभाविक गुणों का विकास

सफल धर्म नीति वही कही जायगी, जिसका अनुसरण करते हुए आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विकास हो। इन स्वाभाविक गुणो मे उन सभी मानवीय गुणो का समावेश हो जाता है जो एक मानव मे मानवता के स्वरूप को दर्शाने वाले होते हैं। स्वाभाविक गुणों को प्रोत्साहित करने वाली धर्माराधना को निश्रेयस–कल्याण प्राप्ति की साधिका कहा गया है जो दो प्रकार से आराधी जाती है–

(1) श्रुत धर्म–अग और उपाग रूप शास्त्रीय वाणी को श्रुत कहते हैं। श्रुत मे ही वाचना, प्रच्छना आदि स्वाध्याय के प्रकार भी समाहित माने गये हैं। श्रुत के भी दो भेद हैं–(अ) सूत्र श्रुत–अग और उपाग रूप शास्त्रो के शब्द रूप मूल पाठ को सूत्र कहते हैं, व (ब) अर्थ श्रुत–शास्त्र–पाठो के अर्थ को अर्थ श्रुत कहते हैं।

(2) चारित्र धर्म– कर्मो को नाश करने की चेष्टा को चारित्र धर्म कहते हैं। मूल गुणो व उत्तर गुणो के समूह का नाम भी चारित्र धर्म ही है। एक शब्द मे इसे क्रिया रूप धर्म कहते हें। इसके भी दो भेद हैं (अ) अगार चारित्र–अगारी–श्रावक के देश विरति धर्म को कहत हें, व (ब) अनगार चारित्र–अनगार–साधु क सर्वविरति धर्म को कहते हें। सर्वविरति रूप धर्म मे तीन करण तीन योग से त्याग होता हे।

एक अपेक्षा से धर्म के तीन भेद भी किये गये हें– (1) श्रुत (2) चारित्र और (3) अस्तिकाय (धर्मास्तिकाय आदि को अस्तिकाय कहते हैं।)।

एक अन्य अपेक्षा से धर्माराधना के चार प्रकार भी बताये गये हें जो एक़ प्रकार से आत्मा के स्वाभाविक गुण ही हें–

(1) दान–स्व ओर पर के उपकार के लिये अर्थात् आवश्यकता वाले जीव को जो उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाता हे, उसको दान कहते हैं। दान कई प्रकार के होते हें– धन–दान, वस्तुदान के अलावा अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पादान, ज्ञानदान आदि। श्रेष्ठ दान देने मे मुक्त हस्तता रखना दान धर्म का पालन कहा जाता है। दान के दस प्रकार– (अ) अनुकम्पादान–किसी दु खी, दीन, अनाथ प्राणी पर दया करके जो दान दिया जाता है, वह अनुकम्पादान है। (आ) सग्रह दान–सग्रह अर्थात् सहायता प्राप्त करना। आपत्ति आदि आने पर सहायता प्राप्त करने के लिये किसी को कुछ देना सग्रह दान हे। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये होता हे, इसलिये मोक्ष का कारण नहीं होता। (3) भयदान–राजा, मत्री, पदाधिकारी आदि के भय से अथवा राक्षस, पिशाच आदि के डर से दिया जाने वाला दान भयदान कहलाता हे। (ई) कारुण्य दान–पुत्र आदि के वियोग के कारण होने वाला शोक कारुण्य कहलाता है। शोक आदि के समय पुत्र आदि के नाम से दान देना कारुण्य दान कहलाता है। (उ) लज्जा दान– लज्जा के कारण दिया जाने वाला दान लज्जा दान है। जनसमूह के बीच मे बैठे हुए किसी व्यक्ति से जब कोई आकर मागने लगता हे, उस समय मागने वाले की बात रखने के लिये कुछ दे देने को लज्जादान कहते हैं। (ऊ) गौरव दान– यश कीर्ति या प्रशसा प्राप्त करने के लिये गर्वपूर्वक दान देना। नट, नृत्यकार, पहलवान, सम्बन्धी या मित्र को यश प्राप्ति के लिये जो दान दिया जाता हे, वह गोरव दान कहा जाता है। (ए) अधर्मदान– जो दान अधर्म की पुष्टि करने वाला होता है या जो अधर्म का कारण होता है। हिसा, झूठ, चोरी, परदारगमन ओर आरम–समारम रूप परिग्रह मे आसक्त लोगो को जो कुछ दिया जाता

है, वह अधर्मदान हे। (ऐ) धर्मदान– धर्म कार्यो मे दिया गया अथवा धर्म का कारणभूत दान धर्मदान कहलाता हे। जिनके लिये तृण, मणि ओर मोती एक समान हैं, ऐसे वीतराग–वाणी पर स्थिर सुपात्रो का जो दान दिया जाता है, वह धर्मदान होता है। ऐसा दान कभी व्यर्थ नही होता। इसक बराबर कोई दूसरा दान नही है। यह दान अनन्त सुख का कारण होता है। (ओ) करिष्यति दान– भविष्य मे प्रत्युपकार की आशा से जो कुछ दिया जाता है, वह कारिष्यति–दान है। (औ) कृत दान– पहले किये हुए उपकार के बदले मे जो कुछ दिया जाता है, वह कृत दान है। इसे प्रत्युपकार दान भी कहते हैं। इन दस प्रकारों में शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के दान आ गये हैं। शुभ दान की दृष्टि से उसके चार प्रकार हैं (अ) ज्ञानदान– ज्ञान पढाना, पढने और पढाने वालो की सहायता करना आदि ज्ञानदान है। (ब) अभयदान– दु खो से भयभीत जीवो को भय रहित करना अभयदान है। (स) धर्मोपकरण दान– छ काया के आरभ से निवृत्त पचमहाव्रतधारी साधु को आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि धर्म सहायक उपकरण देना धर्मोपकरण दान हे। (द) अनुकम्पादान–अनुकम्पा के पात्र दीन, अनाथ रोगी, सकटग्रस्त को अनुकम्पा भाव से दान देना अनुकम्पा दान है। वस्तुत बदला पाने की आशा के बिना नि स्वार्थ बुद्धि एव करुणा भावना से जो दान दिया जाता है, वही सच्चा दान होता है। ऐसे दाता भी दुर्लभ होते हैं तो नि स्पृहभाव से शुद्ध भिक्षा द्वारा जीवन यापन करने वाले भी विरले ही होते हैं। नि स्वार्थ भाव से दान देने वाले ओर नि स्पृह भाव से दान लेने वाले दोनो ही दान–गुण के श्रेष्ठ प्रतीक माने गये हें।

(2) शील (ब्रह्मचर्य)–मैथुन का त्याग करना शील है। शील का पालन करना शील धर्म है। शील सर्व विरति एव देश विरति रूप दो प्रकार का होता हे। देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मेथुन का सर्वथा तीन करण तीन योग से त्याग करना सर्व विरति शील है। स्वदार सन्तोष और परस्त्री विवर्जन रूप ब्रह्मचर्य एकदेश शील हे। मन, वचन ओर काया को सासारिक वासनाओ से हटाकर आत्म चिन्तन मे लगाना ब्रह्मचर्य है। इसके अट्ठारह भेद हें– देव सम्बन्धी भोगो का मन, वचन और काया से स्वय सेवन न करना, दूसरो से न कराना तथा उसका अनुमोदन नहीं करना– इस प्रकार नौ भेद ,तथा इसी प्रकार मनुष्य, तिर्यंच सम्बन्धी भोगो के भी नो भेद सो कुल अट्ठारह हुए। इन भोगो का सेवन करना अट्ठारह प्रकार का अब्रह्मचर्य हो गया। कहा गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से सभी व्रतो की आराधना सहज हो

जाती हे। शील, तप, विनय, सयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति– ये सभी ब्रह्मचर्य की आराधना से आराधित होते हें। ब्रह्मचारी इस लोक ओर परलोक मे यश, कीर्ति ओर लोक विश्वास प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी को स्त्रियो को न रागपूर्वक देखना चाहिये न उनकी अभिलाषा करनी चाहिये। स्त्रियो का चिन्तन एव कीर्तन भी उन्हे नही करना चाहिय। सदा ब्रह्मचर्य व्रत मे रमण करने वालो के लिये यह नियम उत्तम ध्यान प्राप्त करने मे सहायक है एव उनके लिये अत्यन्त हितकर है।

(3) तप—जो आठ प्रकार के कर्मो एव शरीर की सात धातुओ को जलाता है, वह तप है। तप बाह्य एव आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार का है। बाह्य के छ ओर आभ्यन्तर के छ इस प्रकार तप के बारह भेद होते हें। तप का अर्थ है इच्छाओ को रोकना तथा कष्टो को सहन करना। जिस तालाब में नया पानी आना बन्द है, उसका पानी बाहर निकालने से तथा धूप से जेसे धीरे–धीरे सूख जाता है, उसी प्रकार नवीन पाप कर्म रोक देने पर सयमी साधुओ के भव–भवान्तरो के सचित कर्म तपश्चरण के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं। पराक्रम रूपी धनुष मे तप रूपी बाण चढाकर मुनि कर्म रूपी कवच का भेदन कर देता है ओर सग्राम से निवृत्त होकर इस ससार से मुक्त हो जाता हे। तप ऐसा करना चाहिये कि विचारो की पवित्रता बनी रहे, इन्द्रियो की शक्ति हीन न हो ओर साधु के देनिक कर्त्तव्यो मे शिथिलता न आने पावे। जो तपस्वी है, दुबला पतला है, इन्द्रियो का निग्रह करने वाला है, शरीर का रक्त और मास जिसने सुखा दिया है, जो शुद्ध व्रत वाला है तथा जिसने कषाय को शान्त कर आत्म–शान्ति प्राप्त की है वही सिद्ध पद का अधिकारी है। तपश्चरण भीतर बाहर के सारे विकार को जला देता है। वह काया को ही कृश नहीं करता बल्कि माया को भी मार देता है। मन का मूर्छा भाव मिटे– यह तप का प्रधान उद्देश्य माना गया है अत तपस्या का आचरण आन्तरिक विवेक के साथ होना चाहिये। जो आत्मशक्ति को तप मे लगाता हे, उसकी शक्ति पूर्णत सार्थक बनती है। तप के माध्यम से ही उस शक्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती हे। यदि तपश्चरण अनशन आदि बाहरी क्रियाओ तक ही सीमित रह जाता है तो वह उतना हितावह नही बनता क्योंकि तप की तेजस्विता से विषय–कषायो से सम्बन्धित मन, वचन एव काया का अशुभ योग व्यापार जलना ही चाहिये। तप की आराधना से ही आत्मा के अनेक स्वाभाविक गुण प्रकट होते हैं तथा प्रभावपूर्ण बनते हें। (4) भाव (भावना)—मुमुक्षु आत्मा अशुभ भावो को दूर करके अपने आप को शुभ भावो मे तल्लीन बनाने के लिये जो ससार की अनित्यता आदि का विचार करती हे, वही भावना है। अनित्य, अशरण आदि बारह

भावनाएँ हैं। मैत्री, प्रमोद, करुणा एव मध्यस्था मे भी चार भावनाएँ हें। व्रतो को निर्मलता से पालन करने के लिये व्रतो की पृथक–पृथक भावनाएँ भी बतलाई गई हैं। मन को एकाग्र करके उसे इन शुभ भावनाओ मे लगा देना ही भावनाधर्म हे। आत्मा के स्वभावगत प्रत्येक गुण को द्विरूपी माना गया है– एक भाव रूप तथा दूसरा द्रव्य रूप। द्रव्य रूप वह जो उसका स्वरूप और प्रयोग बाहर दिखाई देता है, जबकि गुण का भाव रूप अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योकि द्रव्य रूप स्वय भाव रूप से उपजता है। गुण की आत्मा उसका भाव रूप तो उसका शरीर द्रव्य रूप होता है। चिन्तन, मनन एव अनुशीलन से अमुक गुण का मर्म जो हृदय मे जागता है उसी के प्रभाव से वाणी और कर्म मे वह गुण उतरता है तथा आचरण मे स्थायित्व पाता है।

इस प्रकार धर्माराधना की प्रक्रिया मे ज्यो–ज्यो आत्मा का कलुष ओर विकार समाप्त होता है, त्यो–त्यो उसके स्वभावगत गुण प्रकट होकर खिल उठते हैं। जीवन मे इससे एक ओर निर्मलता प्रतिभासित होती हे तो दूसरी ओर स्वाभाविक गुणो का ओजपूर्ण विकास भीतर बाहर के क्षेत्रो मे प्रभावी बनता है।

धर्म नीति का व्यापक स्वरूप

में इसे सही नही मानता कि धर्म नीति का प्रयोग क्षेत्र व्यक्ति तक ही सीमित है। उस का व्यापक क्षेत्र भी है तो व्यापक स्वरूप भी। सामान्य रूप से धर्मनीति का अर्थ नीति और कर्त्तव्य से लिया जाता है। जिस प्रकार व्यक्ति की नैतिकता और कर्त्तव्यनिष्ठा पर धर्माराधना बल देती हे, उसी प्रकार ग्राम से लेकर नगर, राष्ट्र और सघ तक की नैतिकता एव कर्त्तव्यनिष्ठा पर धार्मिकता अपना अभिमत प्रकट करती है। अपने शुद्ध स्वरूप मे धार्मिकता और नैतिकता एव समूहगत दोनो प्रकार की जीवन पद्धतियो को सम्यक् रीति से सचालित करने मे समर्थ मानी गई हें।

कर्त्तव्य बोध की दृष्टि से धर्म के दस स्वरूप इस प्रकार वर्णित किये गये हैं

(1) ग्राम धर्म—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होता है, अत जब उसका सम्पर्क अपने मूल परिवार के घटक के बाहर आरभ होता हे तब उसका परिचय कुछ विस्तृत समस्याओ तथा उनके प्रति अपने कर्त्तव्यो से होता हे। हरेक गॉव की अपनी परम्पराएँ होती हैं– अपने रीति–रिवाज होते हें–उनकी सुव्यवस्था कैसे की जाय तथा प्रचलित व्यवस्था मे क्या–क्या सुधार किये जाये– इस पर प्रत्येक ग्रामवासी को विचार करना होता हे तथा अपनी

सम्मति देनी होती है ताकि सब सम्मतियो का समन्वय होकर ग्राम की उन्नति के लिये सुन्दर योजना का निर्माण हो सके। मुख्यत समूह की दृष्टि से समाज के सबसे छोटे घटक परिवार के ऊपर ग्राम का क्रम आता है। जिस प्रकार परिवार का प्रत्येक सदस्य परिवार से सरक्षण प्राप्त करता है और उसकी उन्नति के लिये त्याग भी करता है, उसी प्रकार उसे ग्राम धर्म यह सिखाता है कि समस्त ग्राम को वह एक बडे परिवार के रूप मे देखे तथा ग्राम हित के लिये प्राथमिकता से ध्यान दे। ग्राम और ग्रामवासियो के पारस्परिक हितो की व्यवस्था इस रूप मे हो कि एक ओर ग्राम सभी निवासियो को आगे बढने के लिये सामूहिक सरक्षण प्रदान कर सके तो दूसरी ओर ग्रामवासी भी अपने स्वार्थों को ग्रामहित से ऊपर न उठने दे। इस सुव्यवस्था की छाया में धार्मिकता और नैतिकता समुन्नत बने—यह ग्राम धर्म का प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।

(2) नगर धर्म—नगर की निवास पद्धति को नगर धर्म कहते हें जो प्रत्येक नगर के अनुसार भिन्न—भिन्न स्वरूप वाली हो सकती है। वैसे नगर भी ग्राम के ही समान परिवार से ऊपर का घटक होता है अत ग्रामधर्म एव नगर धर्म का स्वरूप तथा कर्त्तव्य प्राय समान ही होते हैं। अन्तर इतना ही होता है कि ग्राम की सीमा से नगर की सीमा विस्तृत होती है तथा आबादी भी बहुसख्यक, जिसके कारण ग्राम की समस्याओ से नगर की समस्याएँ अधिक जटिल होती हैं और जटिल समस्याओ के समाधान के लिये नगरवासियो की कर्त्तव्य निष्ठा भी अधिक गहरी होनी चाहिये। नगर की परम्परागत गुणधर्मिता को सरक्षण मिले तथा प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन विकास के मुक्त अवसर—यह नगर धर्म की सफलता का परिचायक होता है।

(3) राष्ट्र धर्म—भौगोलिक दृष्टि से किसी देश की सीमाऍं निर्धारित होती हैं, किन्तु उसमे रहने वाले नागरिको के मन मे जो एकता एव सयुक्तता का भाव होता है, वह उस देश की राष्ट्रीयता कहलाती है। राष्ट्रधर्म इसी भाव को विकसित करने वाला होता है ताकि उस देश मे रहने वाले नागरिक भाषा, रीति—रिवाज या मान्यताओ की विविधता के उपरान्त भी राष्ट्रीय स्तर पर एकजुट रह सकें। यो राष्ट्रीयता भी आक्रामक नहीं होनी चाहिये तथा उसका रुख अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्वबन्धुत्व की दिशा मे गतिशील रहना चाहिये। ऐसा राष्ट्रधर्म ही किसी भी राष्ट्र मे वहॉ की व्यवस्था को नैतिक एव धर्माधारित बनाये रखता है तथा वहॉ के नागरिको मे सहज वातावरण के प्रभाव से स्वाभाविक गुणो को उदात्त बनाता है।

(4) पाखण्ड धर्म—पाखण्ड व्रत को कहते हैं। इसमे लोकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार के व्रतो के पालन का समावेश हो जाता हे। पाखण्ड का एक अर्थ यह भी होता है जो पाप का खण्डन करता है वह पाखण्ड हे, व्रत पाप से रक्षा करता हे वृतराधन से पाप खण्डित निर्जरित होता है। ऐसे व्रत को जो स्वीकार करता है उसे व्रती या पाखण्डी कहा जाता है। व्यवहार में पाखण्ड को दम्भ अर्थ मे भी प्रयुक्त किया जाता है किन्तु यहा उसे ग्रहण नहीं किया गया है।

(5) कुल धर्म—समाज का ही यह एक अन्य प्रकार का घटक होता हे, जिसका फैलाव ग्राम—नगर से लेकर राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र तक हो सकता है। गृहस्थो के कुलो का आचार कुलाचार कहलाता है तो साधुओ के गच्छो का आचार समाचारी कहलाती हे। इन दोनो की गणना कुल धर्म मे होती हे। किसी कुल से सम्बन्ध रखने के नाते एक व्यक्ति का कर्त्तव्य अपने कुल की सुव्यवस्था एव उन्नति के साथ भी सम्बन्धित होता हे। अलग—अलग स्तरो पर एक ही व्यक्ति को अपने अलग—अलग धर्मो—कर्त्तव्यो का निर्वाह करना होता है। कुल भी समाज के अन्तर्गत एक प्रकार का समूह ही होता है जिसकी सस्कृति मे एक प्रकार की समानता होती है किन्तु समय—प्रवाह मे कुलो का स्वरूप भी बदलता रहता हे।

(6) गणधर्म—कुलो का समूह गण कहलाता था और उस गण के आचार को गण धर्म का नाम दिया गया। यह प्राचीन युग का पारस्परिक शब्द है तथा इसी नाम से गणराज्य की नीव पडी थी जो आज के युग मे भी अपना ली गई है। गण का प्रमुत्त्व उस समय की विशेषता थी क्योकि तब तक राजतत्र कर्त्तव्यहीन तथा अत्याचारी बन चुका था ओर जनता उससे विक्षुब्ध ा हो चुकी थी। उसी परिप्रेक्ष्य मे व्यक्ति शासन के विरुद्ध गणो का प्रभाव प्रतिष्ठित हुआ तथा गणराज्य के माध्यम से लोकशासन का स्वरूप विकसित हुआ। यो भी समाज ऐसे समूह का नाम होता है जिसमे भाति—भाति के समूह सक्रिय होते हैं। ये समूह कभी क्षेत्रीय तो कभी भाषायी, जातीय या सस्कृति पर आधारित होते हैं। किन्तु जब तक ये समूह अपनी सीमाओ मे रहकर स्वाभाविक गुणो के विकास मे यत्नशील रहते हें तब तक ये हानिप्रद नहीं बनते।

(7) सघ धर्म—विचार एव आचार की एकता के आधार पर जो नागरिक एकता—साध्य कर अपनी एक व्यवस्था बना लेते हैं, उसे सघ कहा जाता है तथा सघ की आचार पद्धति का नाम सघ धर्म है। उदाहरण के लिये

जेन सघ को लिया जा सकता हे जिसका नाम चतुर्विध सघ दिया गया है क्योकि इस सघ मे चार प्रकार के सदस्यो ने एक व्यवस्था का रूप दे रखा है। ये सदस्य हैं– साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका। सघ की दृष्टि से भी सघ सदस्यो को अपने गुणात्मक कर्त्तव्यो का निर्वाह करना होता हे।

(8) श्रुत धर्म–शास्त्रीय आज्ञा पद्धति को सामने रखकर व्यक्ति को आत्माभिमुखी बना कर ऊपर उठाने वाला यह धर्म उसे आध्यात्मिकता की अमित ऊँचाई तक ले जाने मे सक्षम है। आत्म विकास की महायात्रा का प्रारम्भ इसी धर्माराधना की सहायता से सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

(9) चारित्र धर्म–यह श्रुत का आचरणात्मक पक्ष है। सचित कर्मो को इस धर्माराधना से रिक्त कर दिया जाता हे। जिससे आत्मा निर्मल स्वरूपी बन जाती है।

(10) अस्तिकाय धर्म–अस्ति अर्थात् प्रदेशो की काय अर्थात् राशि को अस्तिकाय कहते हैं। काल के सिवाय पाच द्रव्य अस्तिकाय हैं। ये पाच द्रव्य हैं– धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्‌गलास्तिकाय। इनके अपने–अपने स्वभाव को आस्तिकाय धर्म कहते हैं। जेसे धर्मास्तिकाय का स्वभाव जीव और पुद्‌गल को गति मे सहायता देना है।

इस रूप मे ये दस धर्म धर्मनीति के व्यापक स्वरूप को प्रकाशित करने वाले हैं जिनके क्षेत्र मे पूरा मानव समाज समाहित हो जाता है। मानव समाज का व्यवहार सम्पूर्ण जीवो को प्रभावित करता है अत विभिन्न स्तरो पर यदि मनुष्य अपने धर्म–कर्त्तव्य का निर्वाह निष्ठापूर्वक करने लगे तो एक समतापूर्ण वातावरण का निर्माण हो सकता हे। इस वातावरण की पुष्टि के साथ ही मानवता का नया स्वरूप भी प्रस्फुटित हो सकेगा।

मानवता की संरचना

मेरी दृष्टि मे मूल प्रश्न यही हे कि इस दुर्लभ मनुष्य तन मे मनुष्यता का भी निवास हो। क्योकि मानवताहीन मानव का कोई मूल्य नही रह जाता हे न स्वय उसके जीवन के लिये तथा न सामाजिक जीवन के लिये। एक मानव का जीवन मानवीय गुणो से रहित हो– यह एक बात लेकिन दूसरी बात उससे भी अधिक भयावह एव घातक हो जाती है कि वह पशु बन जाय या उससे भी निकृष्ट राक्षस बन जाय। मनुष्य जीवन की ऐसी दुरावस्था मे ही समाज का स्वरूप भी विकृत हो जाता है तथा वह मूल्य विहीन बनकर

सामूहिक यत्रणा का कारण भूत हो जाता हे। एक बाध मे अणु जितना छेद भी जल्दी ही दरार का रूप ले लेता हे और बाध को फोड देता है। मानवीय आचरण का भी यही हिसाब रहता है। बुराई बहुत जल्दी फैलती हे और ज्यो-ज्यो एक से दूसरे मनुष्य के जीवन मे पशुता व राक्षसी वृत्ति का विस्तार होता है, वह विस्तार पसरता ही जाता है। अत मनुष्य के आचरण पर ऐसा नियत्रण आवश्यक है कि पहले तो वह अपनी सीमाओं से बाहर निकल कर आक्रामक न बने ओर बाद मे उसे मानवीय सद्गुणों तथा मूल्यो के साचे मे ढाला जाय कि न सिर्फ वह मानवता से विभूषित बने बल्कि देवत्त्व की दिव्यता का वरण करने के लिये भी अग्रगामी हो।

इस रूप मे मानवता की सरचना एक व्यक्तिगत ही नहीं, सामाजिक आवश्यकता भी है और इसी रूप मे यह स्वय सम्बन्धित मानव के साथ सम्पूर्ण समाज का दायित्व भी होगा। एक मानव अपने समुचित स्थान से तभी फिसलता है और अपने स्वाभाविक गुणो को भूलता व छोडता है जब उसके सामने अपने ही स्वार्थो को पूरा कर लेने का प्रलोभन होता है अथवा अपने प्राप्त स्वार्थो के कुचले जाने का भय। यो मनुष्य को सादगी से अपना जीवन-यापन करना बुरा नही लगता यदि वैसा समानता भरा अवसर सभी मनुष्यो के सामने हो, लेकिन जब सामाजिक परिस्थितियो मे विषमता हो-कुछ लोग अत्यन्त विलासपूर्ण जीवन जीते हो और अत्याचार करके अथाह सत्ता और अखूट सम्पत्ति सचित करते हो तथा बहुत लोग मूल निर्वाह आवश्यकताओ से भी वचित रहकर कष्टपूर्ण जीवन बिताते हो तथा ऊपर वालो के अत्याचारो को निरीह बन कर सह लेने को विवश हो। ऐसी विषमता में दोनो ओर पशुता भी पनपती है तो राक्षसी वृत्ति भी राहू बनकर सबको ग्रसित करती है। अत मानव के दुष्ट प्रयासो पर कडा सामाजिक नियत्रण एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाती हे। सामूहिक अनुशासन ही उद्दड मानव की उद्दाम इच्छाओ पर कडा प्रतिबध लगा सकता हे।

मानवता की सरचना के भगीरथ प्रयास मे इन सभी परिस्थितियो का एक स्वस्थ आकलन होना चाहिये और सभी मोर्चो पर मानवता-विरोधी क्रिया-कलापों पर कडी रोक लगनी चाहिये। जैसे कर्म मुक्ति के लिये पहले आने वाले कर्मों पर रोक लगनी चाहिये, वैसे ही मानव समाज मे पहले अमानवीय क्रिया-कलापो पर रोक लगनी चाहिये। सवर के बाद जेसे निर्जरा का क्रम लिया गया हे, उसी रूप मे फिर अस्तित्व मे रहे हुए मानवताहीन मूल्यो से सघर्ष किया जाय और मानव की सशोधित वृत्तियो व प्रवृत्तियो तथा

कठोर सामाजिक अनुशासन के साथ नये मानव का उदय किया जाय। तब मानव मूल्यो की धीरे–धीरे स्थिर प्रतिष्ठा हो जायर्ग । इसी प्रकार मानवता की सरचना सभव हो सकेगी।

मानवता की सरचना रूप शुभ परिवर्तन का पराक्रम मुझे भी दिखाना होगा ओर मेरे साथ सभी प्रबुद्ध चेताओ को भी दिखाना होगा। यह कार्य एक सयुक्त दायित्व का रूप ग्रहण कर लेगा जिसका अपने जीवन के प्रति भी निर्वाह करना होगा तथा दूसरो के जीवन--परिवर्तन के प्रति भी निर्वाह करना होगा। इस दृष्टि से समाज मे रहने वाले मानवो के स्वभाव या विभावगत भिन्न–भिन्न प्रकारो को समझ लेने की जरूरत है कि किस प्रकार के मानव का जीवन परिवर्तित करने के लिये किस प्रकार के प्रायोगिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी ?

आप्त पुरुषो ने विभिन्न उपमाओ से मनुष्यो के वर्गीकरण इस रूप मे किये हैं कि फूल की तरह मनुष्य चार प्रकार के होते हैं–

(1) सुन्दर किन्तु गधहीन। मनुष्य के सदर्भ मे सुन्दरता भोतिक सम्पत्ति को मानी है तथा आध्यात्मिक (नैतिक) उन्नति की उपमा सुगन्ध से दी है। तो पहले वर्ग के मनुष्य ऐसे होते हें जो भौतिकता से सम्पन्न किन्तु उसी मे लीन होते हैं। वे आध्यात्मिक या नैतिक चेतना से शून्य से ही बने रहते हैं।

(2) गधयुक्त किन्तु सौन्दर्यहीन। दूसरे वर्ग के मनुष्य आध्यात्मिकता मे चिन्तनशील तथा नैतिकता के आचरण वाले होते हैं किन्तु भोतिक सम्पत्ति से रहित होते हैं किन्तु उसके लिये वे खेद मग्न नहीं होते, आध्यात्मिक आल्हाद से उल्लासित बने रहते हें।

(3) सुन्दर भीं, सुगधित भी। तीसरे वर्ग के मनुष्यो के पास भौतिक सम्पन्नता होती है तो उनकी ज्ञान चेतना आध्यात्मिकता से भी सम्पन्न होती हे। वे महान् ऋद्धि–सिद्धि के अधिपति होते हुए भी उसमे आसक्त नही बनते हें। उनके लिये उनकी सम्पत्ति ही लोष्ठवत् होती है।

(4) न सुन्दर, न गधयुक्त। चौथे वर्ग के मनुष्य भोतिक सम्पत्ति से भी हीन होते हैं तो आध्यात्मिक चेतना से भी शून्य। दोनों क्षेत्रो का दारिद्रय उन्हे घेरे रहत है।

मनुष्य की विभिन्न वृत्तियो के विषय मे भी ज्ञानप्रद वर्गीकरण बताये गये हैं। उनमे से कुछ इस प्रकार है

(1) घडो से मनुष्य की तुलना की गई है। घडा मनुष्य के हृदय को माना गया हे तो ढक्कन उस की वाणी को। विचार और वाणी की एकरूपता या विभेदता की दृष्टि से यह उपमा हे। (अ) मधु का घडा और मधु का ढक्कन याने विचार और वाणी दोनो श्रेष्ठ। (ब) मधु का घडा और विष का ढक्कन याने विचार श्रेष्ठ किन्तु वाणी कटुताभरी। (स) विष का घडा और मधु का ढक्कन याने विचार कलुषित और निकृष्ट, किन्तु उनका वाणी मे मायाचार से भरा मीठा प्रकटीकरण। तथा (द) विष का घडा और विष का ढक्कन याने विचार ओर वाणी एक–सी निकृष्ट।

(2) कुछ व्यक्ति सेवा आदि का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं किन्तु उसका अभिमान नहीं करते। कुछ अभिमान करते हैं, किन्तु कार्य नही करते । कुछ कार्य भी करते हैं और अभिमान भी करते हैं। कुछ न कार्य करते हैं, न अभिमान करते हैं।

(3) कुछ साधक सिह वृत्ति से साधना पथ पर आते हैं और सिह वृत्ति से ही रहते हैं। कुछ सिह वृत्ति से आते हैं किन्तु बाद मे श्रृगाल वृत्ति अपना लेते हैं। कुछ श्रृगाल वृत्ति से आते हैं ओर बाद मे सिह वृत्ति अपना लेते हैं। कुछ श्रृगाल वृत्ति लिये आते हैं और श्रृगाल वृत्ति से ही चलते रहते हें।

(4) कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो सिर्फ अपना ही भला चाहते हैं, दूसरो का नहीं। कुछ उदार व्यक्ति अपना भला चाहे बिना भी दूसरो का भला करते हैं। कुछ अपना भला भी करते हैं और दूसरो का भी। कुछ न अपना भला करते हें, न दूसरो का।

(5) कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जेसा महान् सकल्प करते हे और समुद्र तेरने जेसा महान् कार्य भी करते हें। कुछ व्यक्ति समुद्र तैरने जैसा महान् सकल्प लेते हैं। किन्तु गोष्पद (गाय के खुर जितना पानी) तेरने जेसा क्षुद्र कार्य ही कर पाते हैं। कुछ गोष्पद तैरने जैसा क्षुद्र सकल्प करके समुद्र तैरने जैसा महान् कार्य कर जाते हैं। कुछ गोष्पद तेरने जेसा क्षुद्र सकल्प करके गोष्पद तेरने जैसा ही क्षुद्र कार्य कर पाते हैं।

(6) फल की तरह मनुष्य भी चार प्रकार के होते हें। (अ) कुछ फल कच्चे होकर भी थोडे मधुर होते हैं अर्थात् कुछ मनुष्य कम उम्र मे भी साधारण समझदार हो जाते हें। (ब) कुछ फल कच्चे होने पर भी पके की तरह अति मधुर होते हें, याने कि लघु वय मे भी बडी उम्र वालो की तरह पूर समझदार हो जाते हें। (स) कुछ फल पके होने पर अति मधुर होते हैं अर्थात् वडी उम्र मे भी कम समझदारी रहती है। तथा (द) कुछ फल पके होन पर अति मधुर

होते हें याने बडी उम्र मे पूरी समझदारी आ जाती है।

(7) कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते हैं, दूसरो का नहीं। कुछ दूसरो का दोष देखते हैं, अपना नही। कुछ अपना दोष भी देखते हें दूसरो का भी। कुछ न अपना दोष दखते हैं, न दूसरो का।

(8) कुछ व्यक्तियो की मुलाकात अच्छी होती है, किन्तु सहवास अच्छा नहीं होता। कुछ का सहवास अच्छा रहता है, मुलाकात नही। कुछ की मुलाकात भी अच्छी होती है और सहवास भी। कुछ का न सहवास ही अच्छा होता है और न मुलाकात ही।

(9) मेघ की तरह दानी मनुष्य भी चार प्रकार के होते हैं। (अ) कुछ बोलते हैं, देते नहीं। (ब) कुछ देते हैं, किन्तु कभी बोलते नही। (स) कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं। तथा (द) कुछ न बोलते हैं, न देते हें।

सख्या में न्यूनाधिकता होती है, किन्तु मनुष्यो मे इस प्रकार के वर्ग प्रत्येक समय मे मिलते हैं। इन वर्गो के परिप्रेक्ष्य मे किसी भी समय की शुभता, अशुमता अथवा शुभाशुमता का निर्णय निकाला जा सकता है तथा ऐसे भिन्न–भिन्न उपाय भी निकाले जा सकते हैं जिनका प्रयोग भिन्न–भिन्न वर्गो के साथ सफलतापूर्वक किया जा सके तथा सभी वर्गो में सशोधन की एक–सी धारा प्रवाहित की जा सके।

मेरा मानना है कि उपरोक्त चार वर्गो मे एक वर्ग इस प्रकृति का होता है, जो समाजहित को अपने स्वार्थो से ऊपर रखकर आवश्यकतानुसार त्याग के लिये भी तत्पर हो सकता है तो अपनी प्रबुद्धता एव जागरूकता के आध ार पर सामाजिक क्रान्ति का बीड़ा भी उठा सकता हे। पहली जरूरत ऐसे ही वर्ग के मनुष्यो को सगठित करने की मानी जाने चाहिये जो स्वय आदर्शजीवी हो तथा आदर्श के लिये सर्वस्व न्यौछावर कर देने के अभिलाषी भी। ऐसे वर्ग का सगठन अवश्य ही समाज को नवसर्जन की दिशा देकर मानव मे मानवता की सरचना का पुण्य कार्य सम्पन्न कर सकता है।

सर्वत्र समभाव का जागरण

मानवता की सरचना एव मानव–मूल्यो की सस्थापना के साथ ही मेरा विचार है कि सामाजिक क्षेत्र मे सहयोगात्मक वातावरण का प्रसार होगा तथा सविभाग की भावना भी जन्म लेगी। इससे अर्जन एव जीवन निर्वाह की पद्धति मे भी शुभ परिवर्तन आयगा कि सत्ता या सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्त्व की लालसा घट जायगी और निर्वाह के स्तर मे समानता का प्रवेश

होगा। यह परिवर्तन बाहरी सामाजिक नीतियो के प्रभाव से भी आयगा तो भीतरी वृत्तिया का भी परिणाम होगा, बल्कि बाहर से भीतर ओर भीतर से बाहर दोनो ओर से परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहेगी।

मेरा अनुमान हे कि इस प्रक्रिया के बाद जब परिवर्तित वातावरण स्थिरता ग्रहण कर लेगा तो सामूहिक रूप से सारे समाज मे एक नया ही भावनात्मक बदलाव दिखाई देगा और यह बदलाव होगा समभाव के पक्ष में। समान अवसर एव समान स्तर की परिस्थिति में सबके बीच समभाव का जागरण भी अवश्यभावी बन जायगा। यह समभाव जिस वेग से सर्वत्र फेलता जायगा, उसी वेग से मानवीय मूल्यो की प्रखरता भी प्रदीप्त होती जायगी।

मैं उस समाज की कल्पना करता हूँ जिसका मूलाधार समता पर टिका हुआ हो। व्यक्ति समभाव से आप्लावित होकर समदृष्टि बने तथा अपने समग्र आचरण को समता के पक्के साचे मे ढाल दे। सामाजिक शक्तियो की भी कार्य–दिशा यह हो कि वे उत्थानोन्मुख व्यक्ति को सुन्दर धरातल प्रदान करे और जब उसके चरण लडखडाने लगे, उसको सदाशयता से सम्बल से पुन गतिशील भी बना दे। इसी रूप मे सर्वत्र समभाव का जागरण एक साकार रूप ले सकता हे।

समभाव के गूढार्थ को हृदयगम करते हुए मैं पुरुषार्थ करना चाहूगा कि मैं सब प्राणियो के प्रति अपने समान विचार रखू, अपने समान देखू तथा अपने को प्रिय या अप्रिय लगे उसी प्रकार दूसरो को प्रिय लगने वाला व्यवहार उनके साथ करू एव अप्रिय लगने वाला व्यवहार न करू। मैं अपने लिये प्रिय अथवा अप्रिय, सम्पत्ति या विपत्ति, सुख या दु ख दोनो प्रकार की स्थितियो में भेद नही करू तथा समान भाव रखू। किसी को भयभीत नहीं करू तथा किसी से भय भी नहीं खाऊ। किसी वस्तु के लाभ पर न तो मैं गर्व करू ओर न किसी हानि पर खेदग्रस्त बनू। किसी भी सकट के सामने मे विचलित नहीं होऊ ओर अपने समतामय आचरण को नही त्यागू। समभाव की दृष्टि से में अपने अन्तर्हृदय को निरन्तर जाचता परखता रहू और उस सम्बन्ध मे किसी भी दोष को प्रविष्ट नही होने दू। अपने ज्ञान, तप एव आचरण की अभिवृद्धि के साथ में समभाव को परिपुष्ट करता रहू। सुख–दु ख के अनुभवो मे समभाव रखते हुए में राग द्वेष की कलुपितता से भी दूर रहू ओर अपने मध्यस्थ भाव द्वारा दूसरो को भी समभाव की तरफ आकृष्ट करू। अभिलापाओ के आवेग मे अथवा जीवन–मरण की कामना में फस कर मैं कभी भी अपने मन, वचन तथा कर्म की साम्यता को आघात नहीं पहुँचाऊ।

मैं विश्व के समस्त प्राणियो के साथ समभाव बनाऊ तथा अपने उदाहरण के आदर्श से उनमे भी समभाव जगाऊ।

मैं मानता हूँ कि समभाव के इस जागरण के लिये त्याग भाव के विकास की अपेक्षा रहती हें। त्याग स्व–कल्याण के लिये और त्याग पर–कल्याण के लिये। वास्तविक त्याग किस कहते हैं ? वस्तुत वही त्यागी कहलाता हे जो मनोहर और प्रिय भोगो के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हे पीठ दिखा देता हे याने कि छोड देता है। जो पराधीनता के कारण विषयो का उपभोग नहीं कर पाते, उन्हे त्यागी नही कहा जा सकता। मूल बात यह कि यथार्थ रूप मे त्याग के साथ त्याग की स्वतन्त्र एव उच्च भावना भी होनी चाहिये। भावहीन त्याग महत्त्वपूर्ण नहीं होता। त्याग–भाव के दृढ बनने पर सेवा और साधना की वृत्ति पनपेगी जिसका मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा के सत्कार्य मे सदुपयोग किया जा सकता है। एक साधक को सुख–सुविधा की भावना से निरपेक्ष रहकर उपशान्त एव दभरहित होकर कार्य करना चाहिये। उसका अपनी कामनाओ और इच्छाओ पर भी निरोध होना चाहिये। क्योकि स्वय ही दल–दल मे फसा रहेगा तो स्व–पर कल्याण कैसे साधेगा ?

साधना को लक्ष्य बनाकर मेरा चिन्तन भी चलता हे कि मैं समभाव को केन्द्र में रखकर सयमपूर्ण साधना मे निमग्न बनू और मानवता की सरचना मे अपना योगदान दू। मेरी साधना प्रभावशाली बन जाय, तब भी में पूजा प्रतिष्ठा के फेर मे न पड़ू, यश की भूख भी नहीं रखू तथा मान–सम्मान के पीछे दोडता न फिरू। अपनी साधना मे जागृत रहकर प्रतिदिन रात्रि के प्रारभ और अन्त मे सम्यक् प्रकार से आत्म–निरीक्षण करता रहू कि मैंने क्या सत्कर्म किया है तथा करणीय कर्म क्या नहीं किया है ? और वह कौनसा कार्य बाकी है जिसे मैं कर सकने मे सक्षम होने पर भी नहीं कर रहा हूँ।

मैं इस प्रकार अपने पुरुषार्थ का प्रतिदिन लेखा–जोखा लेता रहू तो मेरा विश्वास है कि में विपथगामी नही बन सकूगा। इस लेखे–जोखे से मेरा पुरुषार्थ सक्रिय भी रहेगा तो सन्मार्ग नियोजित भी।

पुरुषार्थ का परम प्रयोग

सर्वोच्च प्रयोजन हित प्रायोजित मेरा पुरुषार्थ ज्यो–ज्यो उत्कृष्ट स्वरूप लेता जायगा, उसका प्रयोग भी परम बनने लगेगा। यह पुरुषार्थ का परम प्रयोग होगा, जो चार प्रकार से ऊर्ध्वगामी बनेगा–

(1) धर्म—जिसस सर्व प्रकारेण अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि हो, उसे धर्म कहा जाता हे। धर्म पुरुषार्थ ही अन्य सभी प्रकार के पुरुषार्थों की प्राप्ति का कारण होता हे। धर्म से पुण्य कर्म का बध तथा कर्मो की निर्जरा होती है। धर्माराधना से ही व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन मे सर्वहितकारी प्रगति के दर्शन हाते हैं। धार्मिक भावनाओ तथा क्रियाओ से पुण्य कर्म का बध होता है तो पुण्य कर्म के फलस्वरूप अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। और जब धर्म के आधार पर प्राप्त अर्थ और काम का भोग भी धर्माराधना के साथ किया जाता है तो वह अर्थ और काम भी आत्मा को ससार के दल–दल मे फसाने वाला नहीं बनता, क्योकि धर्म के प्रभाव से आत्मा का अर्थ व काम के भोग मे आसक्ति भाव नही रहता। आसक्ति नही रहती तो मोह—ममत्त्व भी प्रगाढ रूप नही लेता ओर सामान्य मोह—ममत्त्व को आत्मा अपनी सयम साधना से जर्जरित बना लेती है तथा मोक्ष के मार्ग पर प्रगति करने लग जाती है। इसका कारण यह होता है कि आत्मा सयम के साथ कठोर तप का आचरण भी करती है जिससे कर्मो की निर्जरा हो जाती हे। इस दृष्टि से मूल पुरुषार्थ धर्म का पुरुषार्थ होता है। अत आत्मा—रूप पुरुष को अपने पौरुष का भान होना चाहिये तथा उसे अपना पुरुषार्थ धर्माराधना मे लगाना चाहिये।

(2) अर्थ—जिससे सभी प्रकार के लोकिक प्रयोजनो की सिद्धि हो, वह अर्थ है। धर्म जिन के मन—मानस मे रम जाता है, वेसे सद्गृहस्थ सदा अर्थ का उपार्जन न्याय ओर नीतिपूर्वक करते हैं। अर्थोपार्जन वे अपनी मूल आवश्यकताओ की पूर्ति के प्रमाण मे ही करते हैं तथा उसका सचय भी नहीं करते। यदि किसी कारण से अतिरिक्त उपार्जन हो भी जाता है तो वे उसका तुरन्त सविभाग कर लेते हैं। वे स्वामीद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, जुआ, चोरी आदि निन्दनीय उपायो का कतई आश्रय नही लेते हैं तथा अपनी जाति व कुल की मर्यादा एव व्यापक जन समुदाय के हित को दृष्टि मे रखते हुए नीतिपूर्वक अर्थ का अर्जन करते हैं। इस रूप मे अर्जित अर्थ (धन) उनकी लालसाओ और कामनाओ को भडकाता नही है तथा सन्तोष की भावनाओ को स्थिर रूप से बनाये रखता है जिससे वे इस लोक मे भी स्व—पर कल्याण साधते हें तथा परलोक मे भी सद्गति को प्राप्त करते हें। न्याय ओर नीति से कमाया हुआ धन दो प्रकार से अर्जन करने वाले को लाभ पहुचाता हे। पहला तो यह कि उसकी उस प्रकार के धन मे कोई आसक्ति नहीं होती जिसके कारण वह उसको अपने भोग विलास मे खर्च करके पाप कर्म का बध नही करता। दूसरे, धर्म भाव के साथ अर्जित किए हुए धन का व्यय भी

वह सदा सत्कार्यो मे ही करना चाहता हे जिसके परिणाम स्वरूप धर्म भाव की ही अभिवृद्धि होती हे। जो गृहस्थ अन्याय ओर अनीति से अर्थोपार्जन करते हें, वे धनलिप्सु बनकर क्रूरकर्मी भी बन जाते हें। उनका धन अपने ही स्वार्थ पोषण म लगता है जिससे जीवन मे विकृति बढती हे। कई बार तो धन–मोह इतना अधा बन जाता हे कि वह कृपण भाव से उसका अपने या अपनो के लिये भी व्यय नहीं कर पाता हे। अत धर्म– पुरुषार्थ को पहले सफल बनाया जाना चाहिये। इसके प्रभाव से अर्थ–पुरुषार्थ भी सफलता प्राप्त करता है। वैसी अवस्था मे यह अर्थ पुरुषार्थ स्व–पर कल्याण का कारण भूत बन जाता है तथा सामाजिक वातावरण मे भी न्याय और नीति की अभिवृद्धि करके सभी प्राणियो मे सदाशय एव सोहार्द्र का सचार करता है।

(3) काम—मनोज्ञ विषयो की प्राप्ति के द्वारा इन्द्रियो का तृप्त होना काम हे। सासारिक वातावरण मे गहराई स देखा जाय तो अर्थ ओर काम के क्षेत्र मे जितना अनर्थ होता है उतना कही और नही, क्योकि अमर्यादित एव स्वच्छन्द अर्थोपार्जन तथा कामाचार की वृत्ति–प्रवृत्ति के साथ ही विविध प्रकार के अन्याय एव अत्याचार जन्म लेते हें तथा हिसक रूप ग्रहण करके मानवीय मूल्यो के विघातक बन जाते हैं। यो देखे तो अर्थ एव काम सासारिकता की मूल आवश्यकताएँ भी हैं ओर जिनका सब प्राणियो के लिये त्याग सभव नही हे। ये शरीर की मुख्य सज्ञाएँ होती हें। आवश्यक है तो यह कि अर्थ और काम के क्षेत्रो मे ऐसी सुव्यवस्था की रचना की जाय कि व्यक्तिगत प्रलुब्धता बढने न पावे ओर इन क्षेत्रो मे आत्म–सयम का अटल अस्तित्व बन जाय। आज ससार की विषम समस्याओ का तलस्पर्शी ज्ञान लिया जाय तो प्रमुख रूप से रोटी ओर सेक्स की समस्याएँ ही अधिकाशत दिखाई देगी। इन समस्याओ को सदा ही अनुभव किया जाता रहा है तथा सम्यक् समाधान भी निकाले जाते रहे हैं। अर्थ ओर काम स्वच्छन्द व अमर्यादित रूप न ले सके–इसी दृष्टि से अर्थ और काम रूप पुरुषार्थो को विकासकारी बनाने के उद्देश्य से ही धर्म पुरुषार्थ को सबसे पहले रखा गया हे। धर्म पुरुषार्थ के सफल होने का अभिप्राय यह लिया गया हे कि मनुष्य की सकल वृत्तियो एव प्रवृत्तियो मे धार्मिकता एव नैतिकता का सद्भाव फैल जायगा ओर तब अर्थ एव काम के क्षेत्र में जो भी प्रवृत्तियाँ की जायगी, वे धर्म रग मे रगी हुई होने के कारण पुरुषार्थ नाम से भी जानी जायगी ओर वे अर्थ व काम के सत्प्रयोजन से पुरुषार्थ की सफलता के रूप मे भी सिद्ध हो जायगी। धर्म सहित अर्थ ओर धर्म सहित काम आत्मा को अधोगामी कभी नहीं बनायगा।

(4) मोक्ष–रागद्वेष द्वारा उपार्जित कर्मबधन से आत्मा को स्वतन्त्र करने के लिये सवर ओर निर्जरा मे उद्यम करना मोक्ष पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ का परम प्रयोग मोक्ष प्राप्त करना हे। इन चारो पुरुषार्थो मे भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ माना गया हे। जो मोक्ष की परम उपादेयता स्वीकार करते हुए भी मोह की प्रबलता के कारण उसके लिये उचित प्रयत्न नही करते अथवा कर नही सकते, वे धर्म, अर्थ और काम के पुरुषार्थो मे अविरुद्ध रीति से उद्यम करते हैं, वे मध्यम पुरुष कहलाते हैं क्योकि उच्च पुरुष वे होते हैं जो धर्म, अर्थ एव काम के पुरुषार्थो को सफल बनाते हुए मोक्ष के परम पुरुषार्थ को सफल बनाने के लिये भी कठोर साधना करते हैं। किन्तु जो मोक्ष और धर्म रूप पुरुषार्थो की उपेक्षा करके केवल अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ मे ही अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं, वे अधम पुरुष कहलाते हें। वे लोग बीज को ही खा जाने वाले किसान–परिवार के सामन होते हें जो भविष्य मे धर्मोपार्जित पुण्य के नष्ट हो जाने पर दु ख भोगते हैं।

पुरुषार्थ का अन्तदर्शन करते हुए मेरी मान्यता बनती है कि अर्थ और काम यदि सर्वदा और सर्वत्र धर्म और मोक्ष के बीच मे रहे तो वे कभी भी इस ससार मे अनर्थकारी नही बन सकते हें। आज जो दुष्कृत्यो भरा वातावरण दिखाई दे रहा है, वह इस कारण है कि धर्म पुरुषार्थ के साथ अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ का प्रयोग नही किया जाता तथा मोक्ष पुरुषार्थ को विसार दिया जाता हे। केवल अर्थ ओर काम पुरुषार्थ को महत्त्व दे देने से ही ये सारी वर्तमान परिस्थितियॉ विषम एव विश्रृखल बनी हुई हैं। यह मूल मे भूल हो रही है। धर्म पहले, फिर अर्थ ओर काम तथा उनका भी परम प्रयोजन मोक्ष सदा ध्यान मे रहे तो वेसे अर्थ एव काम पुरुषार्थ से भी सासारिकता के क्षेत्र मे सुव्यवस्था का निर्माण हो सकेगा। अत मेरा निश्चय हे कि में सबसे पहले धर्म पुरुषार्थ मे अपनी सफलता के चरण आगे बढाऊ।

में सदा अपने पुरुषार्थ के परम प्रयोग हेतु यत्न करता रहूँ एव मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति का मनोरथ चिन्तता रहू। मैं जानता हूँ कि मे पुरुषार्थी हूँ, पराक्रमी हूँ। मेरा पुरुषार्थ कर्म क्षेत्र मे आगे से आगे ही बढना जानता है, पीछे हटना नही। मैं यह भी जानता हूँ कि जो अपने पुरुषार्थ का परम प्रयोग करके उसको सफल बना लेता हे, वही शूर पुरुष कहलाता है। में भी शूर पुरुष बनना चाहता हूँ ताकि मेरे पुरुषार्थ का भी अपूर्व शोर्य प्रकाशित हो सके।

आप्त वचनो के अनुसार शूर पुरुष चार प्रकार के होते हें –

(1) क्षमाशूर—जो अपन प्रबलतम विरोधी को भी पूरी हार्दिकता से क्षमा कर देते हें। एसे क्षमाशूर अरिहन्त हात हैं जिनकी अनन्त क्षमा की इस धारा युग युगो तक प्रवाहित होती रहकर आत्माभिमुखी पुरुषो को प्रवुद्ध बनाती हे।

(2) तपशूर—तपशूर अनगार मुनिराज हाते हें जो अपने कठिन तप द्वारा अल्पतम समय मे सचित कर्मो का अन्त कर देते हें। वे अपने भाव शत्रु रूप कर्मो के लिये अपने आप को दृढ प्रहारी सिद्ध करते हें।

(3) दानशूर—जो निरन्तर दान देने मे ऐसी भव्य उदारता दिखाते हैं कि उनकी दान देने की प्रवृत्ति अन्तहीन दिखाई देती हे। उनके हृदय के त्याग भाव का उत्कृष्ट रूप उनकी दानशूरता मे प्रकट होता रहता है।

(4) युद्ध शूर—युद्ध शूर वे कहलाते हें जो किसी भी प्रकार के धर्म युद्ध मे अपूर्व शूरता का प्रदर्शन करते हुए विजयी बनाते हैं। वे अपने विकारो तथा ससार के विकारो के साथ समान रूप से युद्ध करते हैं।

में भी भावना भाता हूँ कि मैं क्षमा शूर, तप शूर, दान शूर ओर युद्ध शूर बनूगा तथा अपने पुरुषार्थ के परम उत्कृष्ट स्वरूप को प्रकट करूगा। मेरा यह पुरुषार्थ प्रयोग मेरे आत्म विकास के लिये भी होगा तथा अन्य प्राणियो के कल्याण के लिये भी क्योंकि सर्वहित से स्वहित सदा सम्बद्ध रहता हे। समभाव सर्वहित का सफल सयोजक होता है अत मेरा पुरुषार्थ सभी क्षेत्रो मे सुखकारी सुव्यवस्था स्थापित करने की दृष्टि से समभाव से परिपूर्ण रहेगा। मैं अपनी आत्मा को विभाव क्षेत्र मे से निकालने के अपने पुरुषार्थ के साथ यह प्रयत्न भी करता रहूगा कि अन्य आत्माएँ भी अपने विभाव क्षेत्र के विकारो को समझे तथा वहॉ से बाहर निकले। आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विकास मेरे भीतर और बाहर ससार मे सर्वत्र हो—यह मेरा केन्द्रस्थ लक्ष्य होगा।

छठा सूत्र और मेरा संकल्प

मैं पराक्रमी हूँ, पुरुषार्थी हूँ, क्योकि मेरी आत्मा पौरुषवती हे, इसलिये मैं अपने सोये हुए पुरुषार्थ को जगाऊगा और उसे धर्माराधना मे इतनी प्रबलता के साथ प्रायोजित करूगा कि मेरा वह पराक्रम ओर पुरुषार्थ मोक्षगामी बनकर अपने सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को प्रभावान बनादे। मैं सकल्प लेता हूँ कि मे सदा अपने करणीय का चिन्तन करता रहूगा—ज्ञेय को जानता रहूगा 'तथा हेय को छोडते हुए उपादेय को ग्रहण करता रहूगा। यह भी नित्यप्रति सोचता रहूगा कि मै क्या कर रहा हूँ ओर मुझे क्या करना चाहिये ?

मेरा अवाध चिन्तन चलता रहेगा कि मेरी आत्मा का मूल स्वरूप भी सिद्धा जैसा ही हे लेकिन अभी वह अपने ही विभावो के घेरे मे फसी हुई हे जिस कारण उसका यह स्वभाव–धर्म कर्मो से आवृत्त बना हुआ है। इस आवृत्त को भेदना ही मेरे पुरुषार्थ का प्रधान लक्ष्य हे। मूल स्वभाव की सस्मृति के साथ जब मेरी आत्मा अपने आन्तरिक रूपान्तरण को सफल बना लेगी तो उसके स्वाभाविक गुणो का भी समुचित रीति से विकास होने लगेगा। तब वह अपने पुरुषार्थ–प्रयोग के प्रति अधिक निष्ठा एव सक्रियता को धारण कर सकेगी। उसका ससार के वातावरण पर भी सम्यक् प्रभाव पडेगा तथा बाहरी परिस्थितियो मे भी मानवीय मूल्यो की नई क्रान्ति जन्म लेगी। अत में सकल्प बद्ध होता हूँ कि मैं अपने आत्म–स्वरूप तथा जागतिक वातावरण का दृष्टा बन कर आत्म शुद्धि का पुरुषार्थ दिखाऊगा तथा शुभ परिवर्तन के समग्र रूप से प्रसार का पराक्रम प्रकट करूगा। मेरा पुरुषार्थ अहिसा, सयम एव तप रूप धर्म से आरभ होकर मोक्ष तक अविचल गति से आगे बढता ही रहेगा और सर्वत्र समभाव को जगाता ही रहेगा।